७

शतक

सप्ततिका

कषायप्राभृत

सत्कर्मप्राभृत

कर्मप्रकृति

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

मूल-शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त

हिन्दी व्याख्याकार

मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज

योगोपयोगमार्गणा

बन्धक

बन्धव्य

बन्धहेतु

बन्धविधि

संपादक - देवकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचसंग्रह

संक्रम आदि करणत्रय प्ररूपणा अधिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[संक्रम आदि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा निदेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० रजत

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत
पंचसंग्रह (७)
(संक्रम आदि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार)

☐ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमल जी महाराज

☐ दिशा निदेशक
मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनि श्री रूपचन्द जी म० 'रजत'

☐ संयोजक-संप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

☐ सम्पादक
देवकुमार जैन

☐ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ प्रथमावृत्ति
वि० सं० २०४२ श्रावण; अगस्त १९८५

लागत से अल्पमूल्य १५/-पन्द्रह रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निदेशन में
शक्ति प्रिंटर्स, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३९ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—'मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय यह बात सामान्य लग रही थी। किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १६८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्धदशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—**कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसके साथ संबद्ध कर्म को है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्‌भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकनमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

श्रीमद्‌देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो ही चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनै-कंथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोद व्यक्त कर फरमाया—चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसूर्य प्रवर्तक गुरूदेव
श्री मिश्रीमल जी महाराज

विद्याभिलाषी श्री सुकन मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्यान्ह बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्यान्होत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएँ व्यापक बनती गईं, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएँ बनकर गांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा। उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव-जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्व-शक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्‌भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे। उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है। महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचालें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं।

जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरु-देव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्‌भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १९७५, माघ वदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षा रत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १९९३, लोंकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकडों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आप श्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोंकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गाँव-गाँव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुँच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयीं थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रेक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुभक्त समाजनेता

श्रीमान माणकचन्द जी सा० मेहता

कवि ने कहा है—

जब तुम आये जगत में जग हंसा, तुम रोये।
ऐसा काम कुछ कर चलो, तुम हँसमुख, जग रोये ॥

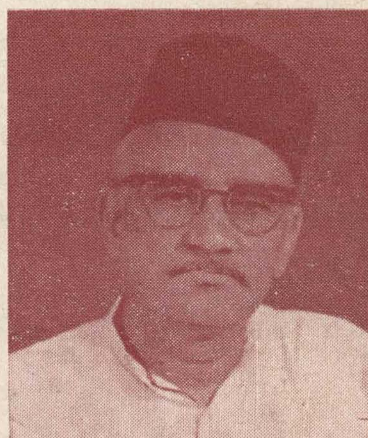

जो मनुष्य जन्म लेकर देव-गुरु की भक्ति, धर्म की प्रभावना और राष्ट्र एवं समाज की सेवा में अपनी शक्ति लगा देता है, वह संसार में युग-युग तक याद किया जाता है। उसका जीवन कृतकृत्य माना जाता है।

श्रीमान माणकचन्द जी सा० बागरेचा मेहता का जीवन भी इसी प्रकार का आदर्श जीवन था। आपके पिताश्री शेषमलजी सा० और मातुश्री सायरबाई थे। जंतारण में दिनांक ६-२-१९०९ के शुभ दिन आपका जन्म हुआ।

आपका व्यवसाय क्षेत्र कोप्पल रहा। जहाँ आपने महावीर जैन गोशाला, महावीर जैन प्राथमिक विद्यालय आदि की संस्थापना में पूर्ण सहयोग दिया। व्यवसाय के साथ-साथ समाज सेवा, धर्म प्रभावना, जीवदया आदि सुकृत कार्यों में भी आपने पूर्ण रुचि ली और लक्ष्मी का सुदुपयोग किया। आपकी सेवा, उदारता आदि के कारण कोप्पल में लोग आपको दरबार के नाम से पुकारते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य गुरुदेव श्रमणसूर्य भारत की दिव्य विभूति जो मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी महाराज के प्रति आपके समस्त परिवार की अनन्य भक्ति रही। दिनांक ४-७-१९७३ को आपका स्वर्गवास हो गया।

आपके पाँच सुपुत्र हैं—

(१) श्री सूरजमल जी,

(२) श्री मदनलाल जी,

(३) श्री सोहनलाल जी,

(४) श्री सज्जनराजजी एवं

(५) श्री जसवंतराज जी। और पाँच पुत्रियाँ हैं।

आपके सभी पुत्र बड़े विनीत, सेवाभावी और गुरुभक्त हैं। समाज सेवा आदि शुभ कार्यों में सभी उदारता पूर्वक सहयोग देते हैं। कोप्पल एवं जैतारण दोनों ही क्षेत्रों में आपके परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा और सम्मान है।

प्रस्तुत 'पंच संग्रह' भाग ७ के प्रकाशन में भी आपकी स्मृति में आपके सुपुत्रों ने प्रकाशन सहयोग दिया है। संस्था आपके सहयोग के प्रति आभारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन समाज के सितारे, धर्मनिष्ठ सुश्रावक अनन्य गुरुभक्त

श्रीमान भूरमल जी सा० बोकडिया

गौंरवर्ण, लम्बा कद, हँसमुख, वाणी में मधुरता, आतिथ्य सत्कार में प्रवीण सेठ सा० श्री भूरमलजी सा० बोकडिया मेडता निवासी हैं। समाज में प्रमुख कार्यकर्ता और गणमान्य व्यक्ति हैं। आपके पिता श्री सेठ सा० पूनमचन्द जी बोकडिया थे।

स्व० पूज्य गुरुदेव श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री १००८ श्री मिश्रीमल जी म० सा० के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी। वर्तमान में उनके आज्ञानुवर्ती व शिष्य मरुधरा रत्न श्री रूपचन्द जी म० सा० 'रजत' और मरुधरा भूषण पं० रत्न श्री सुकनमल जी म० सा० में आपकी पूर्ण श्रद्धा है।

मेड़ता में पहले आपका ऊन का बड़ा व्यापार था। आजकल अनाज के कमीशन एजेंट के रूप में आपका प्रमुख व्यवसाय है। फर्म का नाम 'जसराज दुलीचन्द' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपके चार सुपुत्र हैं—

श्री दुलीचन्द जी,

श्री किस्तुरचन्द जी,

श्री गौतमचन्द जी,

श्री महावीरचन्द जी।

श्री किस्तुरचन्द जी बोकडिया (के. सी. बोकड़िया) फिल्म संसार में प्रसिद्ध हो गये हैं। इनका 'सोना फिल्म्स' नाम से व्यापार मद्रास में है। इनकी दो फिल्में—'प्यार झुकता नहीं' और 'तेरी मेहरबानियाँ' बहुत प्रसिद्ध हो गई हैं। आपका मद्रास में मार्बल का भी व्यवसाय है। आप भी पिताश्री की तरह उदार हृदय हैं और पूज्य गुरुदेव श्री के अनन्य भक्त हैं।

श्री भूरमल जी सा० अतिथि सत्कार में अपने क्षेत्र भर में प्रसिद्ध हैं। आप मेडता में संत-सतियों के चातुर्मास कराने में सदैव अग्रणी रहे हैं।

गुरुदेवश्री की जन्म जयन्ती के शुभ अवसर पर अजमेर में पंचसंग्रह भाग ५ का विमोचन आपके हाथों सम्पन्न हुआ। उसी उपलक्ष में आपने प्रकाशन संस्था को उदारतापूर्वक अर्थसहयोग प्रदान किया है। भविष्य में भी आपका सहयोग मिलता रहेगा इसी आशा और विश्वास के साथ·······

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

जैन दर्शन में कर्मवाद के विचार की आद्य इकाई कर्म का स्वरूप है और कर्म के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। कोई कर्म को चेतननिष्ठ और कोई अचेतन का परिणाम मानते हैं। इस मतभिन्नता का परिणाम यह हुआ कि कर्म के सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी वे दार्शनिक कर्मवाद के अन्तर्रहस्य का दिग्दर्शन नहीं करा सके। इसके साथ ही अन्य दर्शनों के साहित्य में आत्मा की विकसित दशा का वर्णन विशद रूप में किया गया देखने को मिलता है। लेकिन अविकसित दशा में इसकी क्या स्थिति होती है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के पूर्व किन-किन अवस्थाओं को पार किया और उन अवस्थाओं में आत्मा की क्या स्थिति होती है आदि एवं विकास का मूल आधार क्या है ? इसका वर्णन प्रायः बहुत ही अल्प प्रमाण में देखने को मिलता है। जबकि जैन दर्शन की कर्म-विचारणा में यह सब वर्णन विपुल और विशद रूप में किया गया है। इस वर्णन के बहुत से आयामों का निरूपण ग्रंथ के पूर्व अधिकारों में किया जा चुका है। और आगे के अधिकारों में भी अन्य प्रश्नों पर विचार चर्चा की जायेगी। किन्तु प्रकृत अधिकार में आत्म-परिणामों के द्वारा कर्म दलिकों में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं और वे परिवर्तित कर्म दलिक किस रूप में अपना विपाक वेदन कराते हैं, आदि का वर्णन किया जा रहा है। इस प्रक्रिया को शास्त्रीय शब्दों में संक्रम कहते हैं और इस संक्रम में आत्म-परिणाम कारण हैं। अतएव इन परिणामों का बोध कराने के लिये 'करण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस संक्रमकरण का ग्रंथकार आचार्य ने जिस क्रम से वर्णन किया है, उसका विषय परिचय के रूप में संकेत करते हैं।

अधिकार को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम आचार्य ने संक्रम का सामान्य लक्षण बतलाया है कि परस्पर एक का बदलकर दूसरे रूप में हो जाना। जिसका आशय यह हुआ कि बध्यमान प्रकृतियों में अबध्यमान प्रकृतियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने स्वरूप को छोड़कर मिल जाना, बध्यमान प्रकृति रूप में परिणमन होना संक्रम कहलाता है। बध्यमान प्रकृतियों का भी परस्पर में संक्रम होता है। इनके कुछ अपवाद भी हैं। जैसे कि मूल प्रकृतियों का परस्पर में संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार सामान्य से संक्रम का लक्षण निर्देश करने के बाद पूर्व की तरह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदों के द्वारा संक्रमकरण का विस्तार से विचार करना प्रारम्भ किया है।

प्रकृति संक्रम में संक्रम का पूर्वोक्त सामान्य लक्षण घटित करके एवं तत्संबन्धी अपवादों का कारण सहित स्पष्टीकरण करके जिन प्रकृतियों में प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं उनकी संज्ञा का निर्देश किया है कि वे पतद्ग्रह प्रकृति कहलाती हैं एवं इन प्रकृतियों सम्बन्धी अपवादों को भी बतलाया है।

तत्पश्चात् संक्रमापेक्षा मूल कर्म प्रकृतियों के सादि-अनादि भंग नहीं होने से उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा का विचार किया है। और इसके बाद संक्रम्यमाण प्रकृतियों के स्वामित्व की प्ररूपणा की है।

जिस प्रकार से पूर्व में संक्रम्यमाण उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा का विचार किया है, उसी तरह पतद्ग्रह प्रकृतियों की भी साद्यादि प्ररूपणा का कथन किया है। फिर संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का विचार किया है। प्रत्येक कर्म की एक साथ कितनी प्रकृतियाँ संक्रमित हो सकती हैं, और वे कितनी प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। एतद्विषयक मोहनीय और नामकर्म की प्रकृतियों का विस्तार से वर्णन किया है।

इसके बाद संक्रम और पतद्ग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा की है। इसके साथ ही मोहनीय कर्म के संक्रमस्थानों एवं पतद्ग्रहस्थानों के बारे में विस्तार से चर्चा की है।

तत्पश्चात् नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की विस्तार से चर्चा की है और उसके बाद अन्त में प्रकृतिसंक्रम आदि के आशय को स्पष्ट किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम संबन्धी उक्त समग्र वर्णन आदि की ३४ गाथाओं में किया है और उसके बाद स्थितिसंक्रम के भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट-जघन्य-स्थितिसंक्रम प्रमाण, और साद्यादि-प्ररूपणा इन पांच अर्थाधिकारों का यथाक्रम से विचार किया है। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिसंक्रम की प्ररूपणा करने के प्रसंग में स्वामित्व का भी विचार किया है तथा स्थितिसंक्रम को बताने के लिये प्रकृतियों का बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा इस प्रकार से वर्गीकरण किया है।

इसके अनन्तर स्थितिसंक्रम की अपेक्षा मूल और उत्तर-प्रकृतियों की साद्यादि-प्ररूपणा की है और इसके साथ ही स्थितिसंक्रम विषयक विवेचन पूर्ण हुआ।

अनुभागसंक्रम का विचार भेद, विशेष लक्षण, स्पर्धक, उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण, स्वामित्व और साद्यादि-प्ररूपणा इन सात अनुयोगद्वारों से किया है। स्पर्धक प्ररूपणा में रसस्पर्धकों के सर्वघाति, देशघाति और अघाति यह तीन प्रकार एवं स्थान संज्ञा की अपेक्षा एक-स्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक यह चार भेद किये हैं। इन घाति और स्थान संज्ञा में कौन-कौन प्रकृतियाँ गर्भित हैं। इसका कारण सहित वर्णन किया है। तदनन्तर संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य रस का प्रमाण बतलाकर उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग संक्रम के स्वमियों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् अनुभाग संक्रम की अपेक्षा मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा पूर्वक अनुभागसंक्रम संबन्धी निरूपण पूर्ण हुआ।

इसके बाद क्रम-प्राप्त प्रदेशसंक्रम का विवेचन किया है। इस विवेचन के भेद, लक्षण, साद्यादि-प्ररूपणा, उत्कृष्ट-जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामी यह पाँच अर्थाधिकार हैं।

भेद अधिकार में विध्यात, उद्वलन, यथाप्रवृत्त, गुण और सर्वसंक्रम इन पाँच प्रकार के प्रदेशसंक्रमों का विस्तार से एवं संक्रम के रूप में मान्य स्तिबुक संक्रम का विवेचन किया है। इन पाँचों प्रकारों में कौन किसका बाधक है, किस क्रम से इनकी प्रवृत्ति होती है और कौन-कौन प्रकृतियाँ कब किस संक्रम के योग्य होती हैं, आदि का विस्तार से विचार किया है। तत्पश्चात् साद्यादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपणा एवं स्वामित्व विचारणा के प्रसंग में गुणित कर्मांश और क्षपित कर्मांश ोवों की विशद् व्याख्या की है। जो क्रमशः उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशसंक्रम के धिकारी हैं।

इस प्रकार से प्रदेशसंक्रम के अधिकृत विषयों का विवेचन करने के साथ क्रमकरण का वर्णन समाप्त हुआ। संक्रमकरण के अधिकृत विषयों का वर्णन १६ गाथाओं में किया है।

इसके पश्चात् एक प्रकार से संक्रम के भेद जैसे उद्वर्तना और अपवर्तना न दो करणों का वर्णन किया है। संक्रम और इन दो करणों में यह अन्तर कि संक्रम तो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का होता है, किन्तु द्वर्तना और अपवर्तनाकरण स्थिति और अनुभाग के विषय में होते हैं। इन द्वर्तना और अपवर्तना के स्थिति और अनुभाग के भेद से दो मुख्य प्रकार और इन दो प्रकारों में से प्रत्येक के निर्व्याघात, व्याघात के भेद से दो- प्रकार हो जाते हैं।

संक्षेप में यह संक्रम आदि तीन करणों के विचारणीय विषयों की रूप- ग है। यह तो संकेत मात्र है। विस्तृत और विशद् जानकारी के लिये ठकगण पूरे अधिकार का अध्ययन करें, यही अपेक्षा है।

—देवकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

संक्रमकरण

गाथा १	३–६
संक्रम का लक्षण	३
संक्रम विषयक स्पष्टीकरण	४
गाथा २	६–७
संक्रमित प्रकृतियों की आधारभूत प्रकृतियों की संज्ञा	६
गाथा ३, ४	७–१२
संक्रम लक्षण सम्बन्धी अपवाद	८
संक्रम, पतद्ग्रह के दो-दो प्रकार होने के हेतु	१०
गाथा ५	१२–१४
संक्रम सम्बन्धी विशेष अपवाद	१३
गाथा ६, ७	१४–१६
पतद्ग्रह विषयक अपवाद	१५
गाथा ८	१६–१८
प्रकृति संक्रमापेक्षा उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	१७
गाथा ९	१८–२२
संक्रम्यमाण प्रकृतियों का स्वामित्व	१९
गाथा १०	२२–२३
पतद्ग्रहापेक्षा प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ११, १२ २३–४३

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान २५

ज्ञानावरण और अंतराय कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान २५

वेदनीय और गोत्र कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान २६

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान २८

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थान ३४

उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि ३७

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि ४०

क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि ४२

गाथा १३ ४४–४७

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के साद्यादि भंग ४४

वेदनीयकर्म के साद्यादि भंग ४५

गोत्रकर्म के साद्यादि भंग ४५

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह-संक्रमस्थानों के साद्यादि भंग ४६

गाथा १४ ४७–४८

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के साद्यादि भंग ४७

गाथा १५ ४६

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों को जानने की विधि ४६

गाथा १६ ५०

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान जानने की विधि ५०

गाथा १७ ५१–५२

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान ५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा १८ — ५२–५३

मोहनीयकर्म के अठारह पतद्ग्रहस्थान होने में युक्ति — ५२

गाथा १९, २० — ५४–५७

श्रेणी की अपेक्षा मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान — ५४

गाथा २१, २२, २३, २४ — ५८–६१

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में मोहनीय के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान — ५८

गाथा २५ — ६१–६२

क्षपकश्रेणि के पतद्ग्रहस्थानों में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान — ६२

गाथा २६, २७, २८ — ६३–६६

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान — ६३

गाथा २९ — ६६–७०

अविरत आदि गुणस्थानों के पतद्ग्रहस्थान — ६७

नामकर्म के संक्रमस्थान और पतद्ग्रहस्थान — ६८

गाथा ३०, ३१, ३२ — ७०–८१

नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमण — ७१

गाथा ३३ — ८१–८५

प्रकृतिसंक्रम में प्रकृतिसंक्रम का रूपक — ८१

गाथा ३४ — ८५–८६

प्रकृतिसंक्रम विषयक कथन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर — ८५

गाथा ३५ — ८७–८९

स्थितिसंक्रम के अर्थाधिकारों के नाम — ८७

स्थितिसंक्रम का लक्षण व भेद — ८७

गाथा ३६ — ८९–९०

प्रकृतियों का वर्गीकरण एवं बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम — ८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ३७ ९१–९३

पूर्वोक्त उत्कृष्टा वर्गद्वय की प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का परिमाण ९१

गाथा ३८, ३९ ९३–९७

तीर्थंकरनाम, आहारकसप्तक एवं आयुचतुष्क का बंध, संक्रम उत्कृष्टत्व विषयक समाधान ९४

गाथा ४०, ४१ ९७–१०१

पतद्ग्रह प्रकृति के बंधाभाव में भी संभव संक्रमवाली प्रकृतियों की स्थिति के संक्रम का प्रमाण ९७

गाथा ४२ १०१–१०३

बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की यत्स्थिति १०१

उत्कृष्ट संक्रमस्थिति एवं यत्स्थिति का प्रारूप १०३

गाथा ४३ १०३–१०५

आयुकर्म की यत्स्थिति १०३

जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १०४

गाथा ४४ १०५–१०६

जघन्य स्थितिसंक्रम-स्वामी १०६

गाथा ४५ १०६–१०७

जघन्य स्थिति संक्रम का लक्षण १०७

गाथा ४६ १०८–१०९

संज्वलनलोभ, ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरण चतुष्क, आयुचतुष्क का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १०८

गाथा ४७ १०९–११०

सम्यक्त्वमोहनीय का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण ११०

गाथा ४८ १११–११२

निद्राद्विक, हास्यषट्क का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ४६ — ११३–११८

पुरुषवेद, संज्वलनत्रिक, सयोगिगुणस्थान में अंत होने वाली प्रकृतियों का जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण — ११३

स्त्यानर्द्धित्रिक आदि बत्तीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति संक्रमप्रमाण — ११६

मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय, अनन्तानुबंधिचतुष्क, स्त्यानर्द्धित्रिक आदि प्रकृतियों के जघन्य स्थिति संक्रम के स्वामी — ११६

गाथा ५० — ११८–१२०

स्थितिसंक्रमापेक्षा मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा — ११६

गाथा ५१ — १२०–१२३

स्थितिसंक्रमापेक्षा उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा — १२२

अनुभाग संक्रम प्ररूपणा के अर्थाधिकार — १२३

गाथा ५२, ५३ — १२३–१२८

अनुभाग संक्रम के भेद, विशेष लक्षण और स्पर्धक की प्ररूपणा एवं तत्संबन्धी स्पष्टीकरण — १२५

गाथा ५४ — १२८–१२६

मिश्रमोहनीय, आतप, मनुष्य-तिर्यंचआयु, सम्यक्त्वमोहनीय का अनुभाग संक्रम की अपेक्षा रस — १२८

गाथा ५५ — १२६–१३०

संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट रस का प्रमाण — १३०

गाथा ५६ — १३०–१३२

संक्रमापेक्षा पुरुषवेद, सम्यक्त्वमोहनीय, संज्वलनचतुष्क एवं शेष प्रकृतियों का जघन्यरस का प्रमाण — १३१

गाथा ५७ — १३३–१३५

अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का स्वामित्व — १३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ५८ १३५–१३७

आतप, उद्योत, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन, मनुष्यद्विक, आयुचतुष्क एवं शेष शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का स्वामित्व १३५

उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम-स्वामित्व दर्शक प्रारूप १३७

गाथा ५९, ६० १३८–१४०

जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व की सामान्य भूमिका १३८

गाथा ६१ १४०–१४१

अशुभ और शुभ प्रकृतियों के विषय में सम्यग्दृष्टि द्वारा किया जाने वाला कार्य १४०

गाथा ६२ १४२–१४३

घाति एवं आयु चतुष्क प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग संक्रम का स्वामित्व १४२

गाथा ६३ १४३–१४५

अनन्तानुबंधिचतुष्क, तीर्थंकरनाम और उद्वलन योग्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग संक्रम का स्वामित्व १४४

गाथा ६४, ६५ १४५–१४९

अनुभाग संक्रमापेक्षा मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा १४५

गाथा ६६ १४९–१५१

अनुभाग संक्रमापेक्षा अनन्तानुबंधिचतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, नवनोकषाय की साद्यादि प्ररूपणा १५०

गाथा ६७ १५२–१५७

शुभ ध्रुवबंधिनी चौबीस एवं उद्योत, प्रथम संहनन और औदारिक सप्तक की साद्यादि प्ररूपणा १५२

मूल एवं उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप १५५

गाथा ६८ १५८–१५९

प्रदेशसंक्रम के अर्थाधिकारों के नाम १५८

प्रदेशसंक्रम के भेद और लक्षण १५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ६९	१५९–१६३
विध्यातसंक्रम का लक्षण	१५९
विध्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियाँ	१६०
विध्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियों का दलिक प्रमाण	१६१
विध्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियों का स्वामित्व एवं प्रत्यय का प्रारूप	१६२
गाथा ७०	१६३–१६४
उद्वलना संक्रम का लक्षण एवं स्पष्टीकरण	१६४
गाथा ७१	१६५–१६७
स्थिति खंडों के संक्रम के विषय में विशेष कथन	१६५
गाथा ७२	१६७–१७०
द्विचरमस्थिति खंड के संक्रम का स्पष्टीकरण	१६८
गाथा ७३	१७१–१७२
चरम खंड के निर्मूल होने का समय प्रमाण	१७१
गाथा ७४, ७५	१७३–१७६
उद्वलना संक्रम के स्वामी	१७३
गाथा ७६	१७६–१७९
यथाप्रवृत्त संक्रम का लक्षण एवं सम्बन्धित स्पष्टीकरण	१७६
गाथा ७७	१७९–१८१
गुणसंक्रम का लक्षण	१७९
गाथा ७८	१८२
सर्वसंक्रम का लक्षण एवं संबन्धित स्पष्टीकरण	१८२
गाथा ७९	१८३–१८४
परस्पर बाधक संक्रम सम्बन्धी स्पष्टीकरण	१८३
गाथा ८०	१८५–१८६
स्तिबुक संक्रम का लक्षण एवं तद्योग्य प्रकृतियां	१८५
गाथा ८१	१८७–१८९
विध्यात आदि संक्रमों के अपहार काल का अल्पबहुत्व	१८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ८२ १८९–१९०

यथाप्रवृत्तसंक्रम के अपहार काल का प्रमाण १९०

गाथा ८३, ८४ १९१–१९४

प्रदेशसंक्रमापेक्षा उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा १९१

साद्यादि भंग प्ररूपणा का प्रारूप १९४

गाथा ८५, ८६, ८७, ८८, ८९ १९५–२०१

उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व प्ररूपणा के प्रसंग में गुणित कर्मांश का स्वरूप निर्देश १९६

गाथा ९० २०१–२०२

औदारिकसप्तक आदि इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व २०२

सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २०२

गाथा ९१ २०३–२०४

दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की बत्तीस अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व २०३

गाथा ९२ २०४–२०५

दर्शनमोहत्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २०४

गाथा ९३ २०५–२०६

अनन्तानुबंधि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २०५

गाथा ९४, ९५, ९६, ९७ २०६–२११

वेदत्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २०६

संज्वलनत्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २११

गाथा ९८ २१२–२१४

संज्वलनलोभ, गोत्रद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २१२

गाथा ९९ २१४–२१७

पराघात आदि शुभ ध्रुवबंधिनी तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा १०० — २१७–२१८

नरकद्विक, स्थावर, उद्योत, आतप, एकेन्द्रियजाति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २१७

गाथा १०१ — २१८–२१६

मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २१८

गाथा १०२ — २१६–२२१

तीर्थंकरनाम, आहारकसप्तक आदि शुभध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २२०

गाथा १०३, १०४, १०५ — २२१–२२५

क्षपित कर्मांश का स्वरूप — २२२

गाथा १०६ — २२५–२२७

हास्यद्विक, भय, जुगुप्सा, क्षीणमोहगुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २२५

गाथा १०७ — २२७–२२८

स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद, मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २२७

गाथा १०८ — २२६–२३०

अरति, शोक, मध्यम आठ कषाय, ध्रुवबंधिनी अशुभ नाम प्रकृति, अस्थिरत्रिक, असातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २२६

गाथा १०६ — २३०–२३१

मिश्र व सम्यक्त्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २३०

गाथा ११० — २३१–२३२

अनन्तानुबंधिचतुष्क का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २३२

गाथा १११ — २३२–२३४

आहारकद्विक, तीर्थंकरनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व — २३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ११२, ११३ २३४–२३६
वैक्रियएकादशक, मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २३५
गाथा ११४ २३७–२३८
सातावेदनीय, पंचेन्द्रियजाति आदि पैंतीस शुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २३७
गाथा ११५ २३९–२४०
तिर्यंचद्विक, उद्योत नाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २३९
गाथा ११६ २४१–२४२
जातिचतुष्क, आतप, स्थावरचतुष्क का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २४१
गाथा ११७ २४२–२४३
सम्यग्दृष्टिबंध-अयोग्य सोलह अशुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २४३
गाथा ११८ २४३–२४४
आयुचतुष्क, औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २४४
गाथा ११९ २४४–२४५
पुरुषवेद, संज्वलनत्रिक का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व २४५

उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण

उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण की उत्थानिका २४७
गाथा १ २४७–२५१
निर्व्याघात स्थिति-उद्वर्तना का निरूपण २४७
गाथा २ २५२–२५४
निक्षेप प्ररूपणा २५३
गाथा ३, ४ २५४–२५६
जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का निश्चित प्रमाण २५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ५	२५९–२६०
उद्‌वर्तना योग्य स्थितियां	२५९
गाथा ६, ७, ८	२६०–२६६
व्याघातभाविनी स्थिति उद्‌वर्तना का स्पष्टीकरण	२६१
गाथा ९, १०	२६६–२६८
निर्व्याघातभाविनी स्थिति-अपवर्तना का निरूपण	२६६
गाथा ११, १२	२६९–२७०
स्थिति अपवर्तना का सामान्य नियम	२६९
उत्कृष्ट और जघन्य निक्षेप	२६९
गाथा १३	२७०–२७१
निक्षेप और अपवर्तना की विषयभूत स्थितियां	२७१
गाथा १४	२७२
व्याघातभाविनी स्थिति अपवर्तना की व्याख्या	२७२
गाथा १५	२७३–२७५
कंडक निरूपण	२७३
गाथा १६	२७५–२७९
निर्व्याघातिनी अनुभाग उद्‌वर्तना का लक्षण	२७६
अनुभाग-उद्‌वर्तना सम्बन्धी निक्षेप प्रमाण	२७७
निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना की व्याख्या	२७८
गाथा १७	२७९–२८१
अनुभाग उद्‌वर्तना और अपवर्तना में स्पर्धक कथन का नियम	२८०
अनुभाग अपवर्तना में अल्पबहुत्व	२८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा १८, १९ २८१–२८३

अनुभाग उद्वर्तना-अपवर्तना का संयुक्त अल्पबहुत्व २८२

गाथा २० २८३–२८५

काल और विषय का नियम २८४

परिशिष्ट

संक्रम आदि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ २८६

गाथाओं का अकारादि अनुक्रम २९८

प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा आयु व नामकर्म के अतिरिक्त ज्ञाना-वरणादि छह कर्मों के संक्रमस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा ३०२

प्रकृति....छह कर्मों के पतद्ग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा ३०४

प्रकृति....मोहनीय कर्म के संक्रमस्थानों में पतद्ग्रहस्थान ३०६

प्रकृति....पतद्ग्रह प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा ३१२

प्रकृति—संक्रम्यमाण १५४ प्रकृतियों के संक्रमस्वामी ३१३

प्रकृति....संक्रम्यमाण १५४ प्रकृतियों के संक्रम की साद्यादि प्ररूपणा ३१४

प्रकृति....मोहनीय कर्म सम्बन्धी पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान ३१६

(क) अश्रेणिगत पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान ३१६

(ख) उपशमश्रेणिवर्ती उपशम सम्यग्दृष्टि ३२०

(ग) उपशमश्रेणिवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि ३२४

(घ) क्षपकश्रेणि ३२६

प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान ३२८

प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा नामकर्म के संक्रमस्थानों में पतद्ग्रहस्थान ३३५

स्थितिखण्डों की उत्कीरणा विधि का प्रारूप ३४०

उत्कृष्ट-जघन्य स्थितिसंक्रम यत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी दर्शक प्रारूप 1

अनुभाग संक्रम प्रमाण एवं स्वामित्व दर्शक प्रारूप 4

प्रदेशसंक्रम स्वामित्व दर्शक प्रारूप 7

विध्यात आदि पंच प्रदेश संक्रमों में संकलित प्रकृतियों की सूची 13

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

[मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त]

संक्रम आदि करणत्रय
(संक्रम-उद्‌वर्तना-अपवर्तना करण)
प्ररूपणा अधिकार

७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. : संक्रम आदि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार

यथाक्रम निर्देश करने के न्यायानुसार बंधनकरण के अनन्तर अब ग्रंथकार आचार्य बंधसापेक्ष संक्रम आदि तीन करणों का निरूपण करते हैं। उनमें भी संक्रमकरण का विवेचन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम संक्रम का लक्षण कहते हैं।

संक्रम का लक्षण

बज्झंतियासु इयरा ताओवि य संकमंति अन्नोन्नं ।

जा संतयाए चिट्ठहिं बंधाभावेवि दिट्ठीओ ॥१॥

शब्दार्थ—**बज्झंतियासु**—बंधने वाली प्रकृतियों में, **इयरा**—दूसरी—अन्य, **ताओ**—उनका, **वि**—भी, **य**—और, **संकमंति**—संक्रमण होता है, **अन्नोन्नं**—परस्पर—एक दूसरे का, **जा**—जो, **संतयाए**—सत्ता से, **चिट्ठहिं** विद्यमान हैं, **बंधाभावेवि**—बंध का अभाव होने पर भी, **दिट्ठीओ**—दृष्टियों का।

गाथार्थ—जो प्रकृतियां सत्ता में विद्यमान हैं, उन अबध्यमान प्रकृतियों का बंधने वाली प्रकृतियों में संक्रमण होता है, उसे संक्रम कहते हैं तथा बध्यमान प्रकृतियों का परस्पर एक-दूसरे में जो संक्रम होता है, वह भी संक्रम कहलाता है। बंध का अभाव होने पर भी दृष्टियों (दर्शनमोहनीय की दृष्टिद्विक) का संक्रम होता है।

विशेषार्थ—गाथा में संक्रम का लक्षण बतलया है। जिसका विशदता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बंध की तरह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग-रस और प्रदेश रूप विषय के भेद से संक्रम भी चार प्रकार का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य से तो संक्रम का लक्षण है कि परस्पर एक का बदलकर दूसरे रूप हो जाना। लेकिन विशेषता के साथ इसका आशय यह हुआ कि बध्यमान प्रकृतियों में अबध्यमान प्रकृतियों का जो संक्रम होता है अर्थात् बध्यमान प्रकृति रूप में परिणमन होता है, अपने स्वरूप को छोड़कर बंधने वाली प्रकृति के रूप में परिवर्तित होकर उसके स्वरूप को प्राप्त करती हैं, उसे संक्रम कहते हैं। जैसे कि बध्यमान सातावेदनीय में अबध्यमान असातावेदनीय संक्रमित होती है अथवा बंधते हुए उच्चगोत्र में नहीं बंधते हुए नीचगोत्र का संक्रम होता है, वह संक्रम है। जो प्रकृति जिसमें संक्रांत होती है, वह प्रकृति उस रूप हो जाती है। असातावेदनीय जब सातावेदनीय में संक्रांत होती है तब सातावेदनीय रूप हो जाती है यानी वह सातावेदनीय का ही—सुख उत्पन्न करने रूप—कार्य करती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये तथा बध्यमान प्रकृतियों का भी, जैसे कि बध्यमान श्रुतज्ञानावरण में बध्यमान मतिज्ञानावरण का और बध्यमान मतिज्ञानावरण में बध्यमान श्रुतज्ञानावरण का परस्पर जो संक्रम होता है, वह भी संक्रम कहलाता है।

यहाँ यह जानना चाहिये कि बध्यमान प्रकृतियों में संक्रमकरण के द्वारा जो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं, वे उस रूप में हो जाती हैं। यानि कि जिसमें संक्रमित हुई, उसका कार्य करती हैं। जैसे नीचगोत्र जब उच्चगोत्र में संक्रांत होता है, तब जितना दलिक उच्चगोत्र के रूप में हुआ वह उच्चगोत्र का ही कार्य करता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि सत्तागत सभी दलिक संक्रांत नहीं होता है, अमुक भाग ही संक्रांत होता है। यथा नीचगोत्र जब उच्चगोत्र में संक्रमित होता है तब नीचगोत्र सर्वथा संक्रमित होकर अपनी सत्ता ही नहीं छोड़ देता है, किन्तु नीचगोत्र का अमुक भाग ही संक्रांत होता है, जिससे उसकी सत्ता बनी रहती है। जितना संक्रांत होता है, उतना ही उस रूप में होता है। यह नियम सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब किस स्वरूप वाली अबध्यमान प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, इसको बताते हैं—जिस प्रकृति के दलिक सत्ता में हों, वह संक्रांत होती है, जिसका क्षय हो गया हो और जिसने अभी अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं किया है अर्थात् जो अभी सत्तारूप में नहीं हुई हो उसका संक्रम नहीं होता है। क्योंकि अनुक्रम से नष्ट हुई होने से और उत्पन्न हुई नहीं होने से उसके दलिकों का ही अभाव है।

बध्यमान प्रकृतियों के दलिक तो सत्ता में होते ही हैं, क्योंकि वे बंधते हैं, इसलिये बंधावलिका के जाने के बाद वह तो संक्रमित हो सकती हैं, जिससे उनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठता है, परन्तु अबध्यमान जो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं उनके दलिक जो सत्ता में हैं, वे संक्रमित होते हैं। जो दलिक भोगकर क्षय हो चुके हों, वे क्षय हो जाने से संक्रांत नहीं होते हैं और जिन्होंने अपने स्वरूप को प्राप्त ही नहीं किया हो, स्वरूप से ही सत्ता में न हों, वे सत्ता में ही नहीं होने से संक्रांत नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि सत्ता में विद्यमान अबध्यमान प्रकृतियों के दलिक बध्यमान प्रकृति रूप होते हैं।

अबध्यमान प्रकृतियों का बध्यमान प्रकृतियों में अथवा बध्यमान का बध्यमान में जो संक्रम होता है, वह संक्रम कहलाता है, ऐसा जो संक्रम का लक्षण कहा गया है, वह परिपूर्ण नहीं है। क्योंकि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय बंधती नहीं हैं, लेकिन उनमें मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है, इस बात को ध्यान में रखकर विशेष कहते हैं—'बंधाभावेवि दिट्ठीओ' अर्थात् पतद्ग्रह रूप मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय के बंध का अभाव होने पर भी उसमें मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय इन दोनों में तथा मिश्र का सम्यक्त्वमोहनीय में जो संक्रम होता है, उसे भी संक्रम कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम का यह लक्षण १. प्रकृतिसंक्रम २. स्थितिसंक्रम ३. अनुभाग (रस) संक्रम और ४. प्रदेशसंक्रम इन चारों में सामान्य रूप से समझना चाहिये। जिससे संक्रम का सामान्य लक्षण यह हुआ—अन्य स्वरूप में वर्तमान प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशों को बंधती हुई स्वजातीय प्रकृति आदि रूप करना तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय के नहीं बंधने पर भी मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय रूप में करना संक्रम कहलाता है।

१. प्रकृतिसंक्रम

इस प्रकार संक्रम का सामान्य लक्षण कहने के बाद अब जिन प्रकृतियों में संक्रम होता है उनका संज्ञान्तर-अन्य नाम कहते हैं—

संकमइ जासु दलियं ताओ उ पडिग्गहा समक्खाया।
जा संकमआवलियं करणासज्झं भवे दलियं ॥२॥

शब्दार्थ—**संकमइ**—संक्रमित होते हैं, **जासु**—जिनमें, **दलियं**—दलिक, **ताओ उ**—वे, **पडिग्गहा**—पतद्ग्रह, **समक्खाया**—कही गई हैं, **जा**—यावत्, तक, **संकमआवलियं**—संक्रमावलिका, **करणासज्झं**—करणासाध्य, **भवे**—होते हैं, **दलियं**—दलिक।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों में दलिक संक्रमित होते हैं, वे प्रकृतियां पतद्ग्रह कहलाती हैं। संक्रांत दलिक संक्रमावलिका पर्यन्त करणासाध्य होते हैं।

विशेषार्थ—जिन प्रकृतियों में अन्य प्रकृतियों के दलिक आकर संक्रांत होते हैं, उन प्रकृतियों की संज्ञाविशेष का तथा संक्रम कब होता है? यह संकेत गाथा में किया गया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बंधती हुई जिन कर्मप्रकृतियों में संक्लेश अथवा विशुद्धि रूप जीव के वीर्यव्यापार रूप असाधारण कारण के द्वारा बंधती हुई अथवा नहीं बंधती हुई कर्मप्रकृतियों के सत्ता में विद्यमान दलिक—कर्मपरमाणु—संक्रांत होते हैं, वे प्रकृतियां पतद्ग्रह कहलाती हैं। पतद्ग्रह का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार है—पतद् अर्थात् संक्रमित होने वाले दलिकों का ग्रह—आधार पतद्ग्रह है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में विद्यमान दलिक बध्यमान जिस प्रकृति रूप होते हैं, वह बध्यमान प्रकृति पतद्ग्रह कहलाती है।

संक्रांत हुआ वह दलिक जिस समय संक्रमित हुआ उस समय से लेकर एक आवलिका काल तक करणासाध्य—उद्वर्तना, अपवर्तना आदि किसी भी करण के अयोग्य होता है, यानि उस दलिक में किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है। एक आवलिका काल तदवस्थ ही रहता है। उसके पश्चात् किसी भी करण के योग्य होता है। इसी प्रकार जिस समय बंधा उस बद्धदलिक में भी बद्धसमय से लेकर एक आवलिका काल पर्यन्त किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है। संक्रांत दलिक में भी संक्रम का सामान्य लक्षण घटित होता है, इसलिये संक्रम समय से लेकर एक आवलिका काल वह दलिक करण के असाध्य होता है—'करणासज्झं भवे दलियं' यह कहा है।

इस प्रकार से संक्रमित होने वाली प्रकृति की आधार बनने वाली प्रकृति की संज्ञा निर्धारित करने और आवलिका पर्यन्त करणा-साध्यत्व का कारण स्पष्ट करने के बाद अब पूर्वोक्त संक्रम के लक्षण के अतिव्याप्ति दोष का परिहार करने के लिये आचार्य अपवाद का विधान करते हैं।

संक्रम लक्षण : अपवाद विधान

नियनिय दिट्ठि न केइ दुइयतइज्जा न दंसणतिगंपि ।
मीसंमि न सम्मत्तं दंसकसाया न अन्नोन्नं ॥३॥
संकामंति न आउं उवसंतं तहय मूलपगईओ ।
पगइठाणविभेया संकमणपडिग्गहा दुविहा ॥४॥

शब्दार्थ—**नियनिय**—अपनी-अपनी, **दिट्ठि**—दृष्टि, **न**—नहीं, **केइ**—कोई, **दुइयतइज्जा**—दूसरे-तीसरे, **न**—नहीं, **दंसणतिगंपि**—दर्शनत्रिक को भी, **मीसंमि**—मिश्र में, **न**—नहीं, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व को, **दंसकसाया**—दर्शनमोहनीय, कषायमोहनीय का, **न**—नहीं, **अन्नोन्नं**—परस्पर में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकामंति—संक्रमित करता है, **न**—नहीं, **आउं**—आयु का, **उवसंत**—उपशांत, **तह**—तथा, **य**—और, **मूलपगईओ**—मूल प्रकृतियां, **पगइठाण-विभेया**—प्रकृति और स्थान के भेद से, **संकमणपडिग्गहा**—संक्रमण और पतद्ग्रह, **दुविहा**—दो-दो प्रकार।

गाथार्थ—कोई जीव अपनी-अपनी दृष्टि को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान वाले दर्शनत्रिक को संक्रांत नहीं करते हैं। मिश्रमोहनीय में सम्यक्त्वमोहनीय का संक्रम नहीं होता तथा दर्शनमोहनीय और कषायमोहनीय (चारित्रमोहनीय) का परस्पर संक्रम नहीं होता है।

आयु का परस्पर संक्रम नहीं होता तथा उपशांत दलिक का एवं मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है। प्रकृति और स्थान के भेद से संक्रम और पतद्ग्रह के दो-दो प्रकार होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में संक्रम के लक्षण के अपवाद और संक्रम तथा पतद्ग्रह के दो-दो प्रकार होने का संकेत किया है। उनमें से पहले अपवाद विषयक स्पष्टीकरण करते हैं—

'नियनिय दिट्ठि न केई' अर्थात् कोई भी जीव अपनी-अपनी दृष्टि को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है, यानि कोई भी जीव जिन्हें जिस दर्शनमोहनीयत्रिक का उदय हो, वे उस दर्शनमोहनीय को अन्य प्रकृति रूप नहीं करते हैं। जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व-मोहनीय को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि मिश्रमोहनीय को और सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को अन्य प्रकृति में संक्रांत नहीं करता है।

'दुइयतइज्जा न दंसणतिगंपि'—दूसरे सासादनगुणस्थान और तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान वाले जीव दर्शनमोहत्रिक में से किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं करते हैं तथा मिश्रमोहनीय में सम्यक्त्वमोहनीय का संक्रमण नहीं होता है—'मीसंमि न सम्मत्तं'।

दर्शनमोहनीय और कषायमोहनीय (चारित्रमोहनीय) इन दोनों का परस्पर संक्रमण नहीं होता है, अर्थात् दर्शनमोहनीय का चारित्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय में और चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में संक्रमण नहीं होता है—'दंसकसाया न अन्नोन्नं'। परन्तु इस संम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह है—

यद्यपि यहाँ की तरह कर्मप्रकृति संक्रमकरण में भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम न होने का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु नव्यशतक गाथा ९९ की वृत्ति में श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने तथा विशेषावश्यक बृहद्वृत्ति, आवश्यकचूर्णि आदि में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए अनन्तानुबंधि का क्षय करने वाला जीव अनन्तानुबंधि(चारित्रमोहनीय की प्रकृति) का अनन्तवां भाग मिथ्यात्वमोहनीयं में संक्रान्त करता है और उसके बाद अनन्तानुबंधि सहित मिथ्यात्वमोह का क्षय करता है, इस प्रकार अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रम होता है—ऐसा सूचित किया है। विद्वान इसका समाधान करने की कृपा करें।

इसका सम्भव समाधान यह हो सकता है कि पहले यह जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की प्रकृतियां कौन-कौन हैं। क्योंकि इसी ग्रंथ के तीसरे अधिकार, कर्मग्रंथ और आचारांगवृत्ति आदि ग्रंथों में मिथ्यात्वादिकत्रिक को दर्शनमोहनीय की और शेष अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क आदि पच्चीस प्रकृतियों को चारित्रमोहनीय की प्रकृति बतलाया है, जबकि तत्त्वार्थ की टीका में अनन्तानुबंधिचतुष्क और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियों को दर्शनमोहनीय और शेष इक्कीस प्रकृतियों को चारित्रमोहनीय में परिगणित किया है तथा अनन्तानुबंधिचतुष्क भी दर्शनगुण का ही घात करती है, जिससे अन्य ग्रंथों में भी इन सात प्रकृतियों को 'दर्शनसप्तक' के रूप में बताया है। अब यदि दर्शनमोहनीय यानि अनन्तानुबंधि आदि सात प्रकृतियों को ग्रहण करें तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है, यह पाठ और 'अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रम हुआ' यह पाठ संगत हो सकता है तथा मात्र दर्शनत्रिक को दर्शनमोहनीय से ग्रहण किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाये तो अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्व में जो संक्रम होता है, वह अल्प होने से उसकी विवक्षा न की हो अथवा मतान्तर हो, ऐसा संभव है।

अब आयुकर्म आदि विषयक अपवादों का कथन करते हैं—कोई भी जीव आयु की चार उत्तर प्रकृतियों में से किसी भी आयु का परस्पर संक्रम नहीं करता है। यानि सत्तागत कोई भी आयु बध्यमान किसी आयुरूप नहीं होती है—'संकामंति न आउं'।

इसी प्रकार जिस-जिस चारित्रमोहनीय का सर्वथा उपशम होता है, उसका किसी भी अन्य प्रकृति में संक्रम नहीं होता है। मात्र उपशमित दर्शनमोहनीय का संक्रम होता है, यानि मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय रूप हो सकती है तथा ज्ञानावरणादि मूल कर्म प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है—'तहय मूलपगईओ'। जैसे कि ज्ञानावरण रूप मूल प्रकृति दर्शनावरण रूप में और दर्शनावरण ज्ञानावरण आदि रूप अन्य मूल प्रकृति में संक्रमित नहीं होती है। इसी प्रकार सभी मूल कर्म प्रकृतियों के लिये जानना चाहिये।

इन अपवादों के सिवाय संक्रम का पूर्वोक्त सामान्य लक्षण समीचीन है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवादों का विचार करने के पश्चात् संक्रम और पतद्ग्रह के भेद कहते हैं—प्रकृति और स्थान के भेद से संक्रम और पतद्ग्रह के दो-दो प्रकार होते हैं—

१. प्रकृतिसंक्रम, २. प्रकृतिस्थानसंक्रम और १. प्रकृतिपतद्ग्रह, २. प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह—'पगइठाणविभेया संकमणपडिग्गहा दुविहा।'

प्रकृतिसंक्रम आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

जब एक प्रकृति एक में संक्रमित हो, जैसे कि साता असाता में अथवा असाता साता में तब जो प्रकृति संक्रांत होती है, उस एक प्रकृति का संक्रम होने से प्रकृतिसंक्रम और एक में संक्रम होता है इसलिये वह प्रकृति पतद्ग्रह है और जब दो, तीन आदि अनेक प्रकृतियां अनेक

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

में संक्रमित होती हैं, तब क्रमशः प्रकृतिस्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थान-पतद्ग्रह कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक प्रकृति संक्रांत होती हो तब प्रकृतिसंक्रम तथा अनेक संक्रांत होती हों तब प्रकृतिस्थानसंक्रम और संक्रम्यमाण प्रकृति का आधार जब एक प्रकृति हो तब प्रकृतिपतद्ग्रह और अनेक हों तब प्रकृतिस्थानपतद्-ग्रह कहलाता है।

उसमें भी जब बहुत सी प्रकृतियां एक में संक्रांत हों, जैसे कि एक यशःकीर्तिनाम में नामकर्म की शेष प्रकृतियां, तब वह प्रकृतिस्थान-संक्रम कहलाता है और जब बहुत सी प्रकृतियों में एक प्रकृति संक्रमित हो, जैसे कि मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय में मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम हो तब वह प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह कहलाता है तथा जब अनेक प्रकृतियों में अनेक प्रकृतियां संक्रमित हों, जैसे कि ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां पांचों प्रकृतियों में संक्रमित हों तब वह प्रकृति-स्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह कहलाता है।

यथार्थतः तो यद्यपि अनेक प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और पतद्ग्रह भी अनेक प्रकृतियां होती हैं, लेकिन जब संक्रम और पतद्ग्रह रूप में एक-एक प्रकृति के संक्रम की और एक-एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह की विवक्षा की जाये तब उसे प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतद्ग्रह कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसा होने से आगे भी जहाँ एक-एक प्रकृतिसंक्रम और एक-एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह का विचार करेंगे वहाँ प्रकृतिस्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह का सद्भाव होने पर भी उसका प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतद्ग्रह रूप में प्रतिपादन किया जाना विरोधी नहीं होगा। जैसे कि ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियों का बंध दसवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होता है जिससे पांचों प्रकृतियां पतद्ग्रहरूप हैं और संक्रमित होने वाली भी पांचों हैं। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणादि चार में संक्रमित होता है। इस प्रकार प्रत्येक समय ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां संक्रमरूप और पतद्ग्रहरूप होने पर भी जब एक-एक के संक्रम की और एक-एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह की विवक्षा की जाये, जैसे कि मतिज्ञानावरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञानावरण में, मतिज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण में तब उसे प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतद्ग्रह कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ विवक्षा प्रमाण है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

इन प्रकृतिसंक्रम, प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह आदि की इस प्रकार चतुर्भंगी हो सकती है—१. संक्रम्यमाण प्रकृति एक, पतद्ग्रहप्रकृति भी एक, २. संक्रम्यमाण प्रकृति अनेक पतद्ग्रहप्रकृति एक, ३. संक्रम्यमाण प्रकृति एक, पतद्ग्रह अनेक और ४. संक्रम्यमाण प्रकृति अनेक, पतद्ग्रहप्रकृति भी अनेक। यथा—बध्यमान सातावेदनीय में जब असातावेदनीय संक्रांत होती है तब संक्रमित होने वाली और पतद्ग्रह एक-एक प्रकृति होने से पहला भंग घटित होता है। आठवें गुणस्थान के सातवें भाग से दसवें गुणस्थान तक बंधने वाली यशःकीर्ति में नामकर्म की बहुत सी प्रकृतियां संक्रमित होने से दूसरा भंग घटित होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के तीन पुंज किये जाते हैं, वहाँ से लेकर एक आवलिका काल पर्यन्त मिश्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता है, इसलिये उस समय मात्र मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय इस प्रकार दो में संक्रम होने से तीसरा भंग और बंधती हुई नामकर्म की तेईस आदि प्रकृतियों में संक्रांत होने वाली नामकर्म की बहुत-सी प्रकृतियां होने से वहाँ चतुर्थ भंग घटित हो सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भंगों को घटित होने की योजना कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवाद आदि का कथन करने पश्चात् इसमें और भी जो विशेष है, उसको बतलाते हैं—

खयउवसमदिट्ठीणं सेढीए न चरिमलोभसंकमणं।
खवियट्ठगस्स इयराइ जं कमा होंति पंचण्हं ॥५॥

शब्दार्थ—**खयउवसमदिट्ठीणं**—क्षायिक अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के, **सेढीए**—श्रेणि में, **न**—नहीं, **चरिमलोभसंकमणं**—चरम (संज्वलन) लोभ का संक्रमण, **खवियट्ठगस्य**—क्षपकश्रेणि वाले के आठ कषायों का, **इयराइ**—इतर, **जं**—क्योंकि, **कमा**—क्रम से, **होंति**—होता है, **पंचण्हं**—पांच का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—क्षायिक अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के श्रेणि (उपशमश्रेणि) में (अन्तरकरण करें तब) और इतर क्षपकश्रेणि में आठ कषायों का क्षय करने के बाद (अन्तरकरण करें तब) चरम—संज्वलनलोभ का संक्रम नहीं होता है। क्योंकि पांच प्रकृतियों का संक्रम क्रम से होता है।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के उपशमश्रेणि में जब अन्तरकरण करें तब तथा इतर—क्षपकश्रेणि में आठ कषायों का क्षय करने के बाद अन्तरकरण करें तब संज्वलन-लोभ का संक्रम नहीं होता है।

इसका कारण यह है कि उपशमश्रेणि में अथवा क्षपकश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद पुरुषवेद और संज्वलनक्रोधादि कषाय-चतुष्क इन पांच प्रकृतियों का क्रमपूर्वक यानि पहले जिसका बंध-विच्छेद होता है, उसका उसके बाद बंधविच्छेद होने वाली प्रकृति में संक्रम होता है, उत्क्रम से नहीं होता है। अर्थात् जिसका बंध-विच्छेद बाद में होता है, उसका पहले बंधविच्छेद होने वाली प्रकृति में संक्रम नहीं होता है।

जैसे कि पुरुषवेद का संज्वलन क्रोधादि में संक्रम होता है, परन्तु संज्वलन क्रोधादि का पुरुषवेद में संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार संज्वलन क्रोध का संज्वलन मान में संक्रमण किया जाता है, परन्तु पुरुषवेद में संक्रम नहीं होता है। संज्वलन मान को संज्वलन मायादि में संक्रमित किया जाता है परन्तु संज्वलन क्रोधादि में संक्रमित नहीं किया जाता है और संज्वलन माया का संज्वलन लोभ में संक्रम होता है परन्तु संज्वलन मानादि में नहीं। इसी बात को कर्मप्रकृति संक्रम-करण गाथा ४ में भी इसी प्रकार कहा है—'अन्तरकरण करने पर चारित्रमोहनीय की पांच प्रकृतियों का क्रमपूर्वक संक्रमण होता है।'[1] अतएव उक्त न्याय से अन्तरकरण होने के बाद संज्वलनलोभ

---

१ 'अंतरकरणंमि कए चरित्तमोहेणुपुव्वि संकमणं।'

कर्मप्रकृति संक्रमकरण गा. ४—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संक्रम घटित नहीं हो सकता है। किन्तु अन्तरकरण से अन्यत्र अर्थात् अन्तरकरण करने से पूर्व इन पांच प्रकृतियों का अनुक्रम अथवा व्युत्क्रम से—बिना क्रम के इस तरह दोनों प्रकार से संक्रम प्रवर्तित होता है। यानि क्रोध का लोभ में और लोभ का क्रोध में भी संक्रम हो सकता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का अन्तरकरण करने के बाद या पहले क्रम अथवा अक्रम दोनों प्रकार से भी संक्रम होता है।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवादों का निर्देश करने के बाद अब पतद्ग्रह सम्बन्धी अपवादों का कथन करते हैं।

पतद्ग्रह विषयक अपवाद

मिच्छे खविए मीसस्स नत्थि उभए वि नत्थि सम्मस्स।
उव्वलिएसुं दोसु, पडिग्गहया नत्थि मिच्छस्स ॥६॥
दुसुतिसु आवलियासु समयविहीणासु आइमठिईए।
संसासुं पुंसंजलणयाण न भवे पडिग्गहया ॥७॥

शब्दार्थ—**मिच्छे**—मिथ्यात्वमोहनीय का, **खविए**—क्षय होने पर, **मीसस्स**—मिश्र मोहनीय की, **नत्थि**—नहीं रहती है, **उभए**—दोनों का क्षय होने पर, **वि**—भी, **नत्थि**—नहीं होती है, **सम्मस्स**—सम्यक्त्वमोहनीय की, **उव्वलिएसुं**—उद्वलित होने पर, **दोसुं**—दोनों की, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता, **नत्थि**—नहीं रहती, **मिच्छस्स**—मिथ्यात्व की।

दुसुतिसु—दो अथवा तीन, **आवलियासु**—आवलिका, **समयविहीणासु**—समयन्यून, **आइमठिइए**—आदि—प्रथम स्थिति में, **सेसासुं**—शेष रहने पर, **पुंसंजलणयाण**—पुरुषवेद और संज्वलन की, **न भवे**—नहीं होती, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता।

गाथार्थ—मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने पर मिश्रमोहनीय की पतद्ग्रहता नहीं रहती है। मिथ्यात्व और मिश्र दोनों का क्षय होने के बाद सम्यक्त्वमोहनीय की पतद्ग्रहता नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने पर मिथ्यात्वमोहनीय पतद्ग्रह रूप नहीं रहती है।

प्रथम स्थिति की समय न्यून दो और तीन आवलिका शेष रहे तब क्रम से पुरुषवेद और संज्वलन की पतद्ग्रहता नहीं होती है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में से पहली में सामान्य पतद्ग्रह संबन्धी और दूसरी में श्रेणि संबन्धी पतद्ग्रह विषयक अपवाद का निर्देश किया है। इनमें से पहले सामान्य अपवादों को स्पष्ट करते हैं—

क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने के बाद मिश्रमोहनीय पतद्ग्रह नहीं होती है—'मिच्छे खविए मीसस्स नत्थि।' अर्थात् मिश्रमोहनीय में किसी भी अन्य प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं। क्योंकि मिश्रमोहनीय में मात्र मिथ्यात्व मोहनीय के ही दलिक संक्रमित होते हैं, अन्य किसी भी प्रकृति के संक्रमित नहीं होते हैं। उसका (मिथ्यात्वमोहनीय का) तो क्षय हुआ कि जिससे मिश्रमोहनीय की पतद्ग्रहता नष्ट हो गई।

'उभए वि नत्थि सम्मस्स' अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन दोनों का क्षय होने के बाद सम्यक्त्वमोहनीय की भी पतद्ग्रहता नहीं रहती है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय में मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का ही संक्रम होता है और इन दोनों का तो क्षय हो गया है, जिससे अन्य दूसरी किसी भी प्रकृति का संक्रम असंभव होने से सम्यक्त्वमोहनीय भी पतद्ग्रह रूप नहीं रहती है।

मिथ्यात्वगुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय पतद्ग्रह नहीं रहती है। क्योंकि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्वमोहनीय में मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय का ही संक्रम होता है। किन्तु चारित्रमोहनीय की किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है और सम्यक्त्व तथा मिश्रमोहनीय की तो उद्‌वलना हो गई, जिससे अन्य किसी भी प्रकृति के संक्रम का अभाव होने से मिथ्यात्वमोहनीय की पतद्‌ग्रहता नहीं रहती है—'उव्वलिएसु दोसु पडिग्गहया नत्थि मिच्छस्स ।,

इस प्रकार सामान्य पतद्‌ग्रहता विषयक अपवाद का कथन करने के बाद अब श्रेणि विषयक अपवाद कहते हैं—

'दुसुतिसु' इस प्रकार गाथा में ग्रहण किये हुए दो और तीन शब्द के साथ पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क की क्रमपूर्वक योजना करना चाहिये और योजना करने पर यह अर्थ हुआ कि अन्तरकरण करने के बाद समयन्यून दो आवलिका प्रमाण प्रथमस्थिति शेष रहे तब पुरुषवेद की पतद्‌ग्रहता नहीं रहती है। अर्थात् पुरुषवेद में अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं तथा समयन्यून तीन आवलिका प्रमाण प्रथमस्थिति शेष रहे तब संज्वलनचतुष्क—क्रोध, मान, माया और लोभ पतद्‌ग्रह रूप नहीं रहते हैं। प्रथमस्थिति उतनी-उतनी शेष रहे तब उनमें अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं।

इस प्रकार से पतद्‌ग्रह संबंधी अपवाद जानना चाहिये। अब क्रम-प्राप्त सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है—१—मूल प्रकृति विषयक और २—उत्तर प्रकृति विषयक। किन्तु मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होने से उनमें तो सादि-अनादि प्ररूपणा संभव नहीं है। इसलिये उत्तर प्रकृतियों में विचार करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

धुवसंतीणं चउहेह संकमो मिच्छणीयवेयणीए।
साईअधुवो बंधोव्व होइ तह अधुवसंतीणं ॥८॥

शब्दार्थ—**धुवसंतीणं**—ध्रुव सत्तावाली प्रकृतियों का, **चउहेह**—चार प्रकार का, **संकमो**—संक्रम, **मिच्छणीयवेयणीए**—मिथ्यात्व, नीचगोत्र और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदनीय का, **साई अधुवो**—सादि, अध्रुव, **बंधोव्व**—बंध की तरह, **होइ**—होता है, **तह**—तथा, **अधुवसंतीणं**—अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का।

गाथार्थ—ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का संक्रम सादि आदि चार प्रकार है, मिथ्यात्व, नीचगोत्र और वेदनीय का संक्रम तथा अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का बंध की तरह सादि और सांत, इस तरह दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—सत्ता की दृष्टि से प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका। इन दोनों प्रकारों की प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा इस प्रकार है—

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र तथा आयुचतुष्क, कुल मिलाकर अट्ठाईस प्रकृतियां अध्रुवसत्ता वाली हैं और शेष एक सौ तीस प्रकृतियों की ध्रुवसत्ता है।

अब इनके सादि आदि भंगों का विचार करते हैं—मिथ्यात्वमोहनीय, नीचगोत्र, साता-असाता वेदनीय के सिवाय शेष एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्कर्म वाली प्रकृतियों का संक्रम साद्यादि रूप चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—उपर्युक्त ध्रुवसत्कर्म. प्रकृतियों का–संक्रम की विषयभूत प्रकृतियों का–पतद्ग्रहप्रकृति का बंधविच्छेद होने के बाद संक्रम नहीं होता है। तत्पश्चात् संक्रम की विषयभूत प्रकृतियों का अपने-अपने बंधहेतु मिलने पर पुनः बंध होता है तब संक्रम होता है, इसलिये सादि, बंधविच्छेदस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, उनको अनादिकाल से संक्रम होता है, इसलिये अनादि, अभव्य के किसी भी काल बंधविच्छेद नहीं, इसलिये अनन्त (ध्रुव) और भव्य के कालान्तर में बंधविच्छेद संभव होने से सांत (अध्रुव) संक्रम होता है।

मिथ्यात्वमोहनीय, नीचगोत्र, साता-असाता वेदनीय का संक्रम सादि और सांत (अध्रुव) इस प्रकार दो तरह का है। वह इस तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है और विशुद्ध सम्यग्दृष्टित्व कादाचित्क-अमुक काल में होता है, अनादि काल से नहीं होता है। इसलिये जब उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो तब मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम होता है, जिससे सादि और उसके बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो अथवा गिरकर मिथ्यात्व में जाये तब संक्रम का अन्त होता है, जिससे अध्रुव (सांत) है। इस प्रकार मिथ्यात्व का संक्रम सादि, सान्त (अध्रुव) भंग वाला है।

साता-असाता-वेदनीय और उच्च-नीच-गोत्र प्रकृतियों के परावर्तमान होने से ही उनका संक्रम सादि-अध्रुव भंग वाला है। वह इस प्रकार—सातावेदनीय के बंध होने पर असातावेदनीय का संक्रम होता है तथा जब असातावेदनीय का बंध होता हो तब साता का संक्रम होता है। इसी प्रकार उच्चगोत्र का जब बंध तब नीचगोत्र का और जब नीचगोत्र का बंध हो तब उच्चगोत्र का संक्रम होता है। बध्यमान प्रकृति पतद्ग्रह है और नहीं बंधने वाली संक्रम्यमाण है। इस प्रकार ये प्रकृतियां परावर्तमान होने से उनका संक्रम सादि और सांत (अध्रुव) भंग वाला है।

अध्रुवसत्कर्म प्रकृतियों का बंध की तरह संक्रम भी सादि-सांत समझना चाहिये। क्योंकि उनकी सत्ता ही अध्रुव है। सत्ता हो तब संक्रम होता है और सत्ता के न होने पर संक्रम नहीं होता है। सुगमता से बोध करने के लिये प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम संबन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब संक्रम्यमाण प्रकृतियों के स्वामित्व का कथन करते हैं।

संक्रम्यमाण प्रकृतियों का स्वामित्व

साअणजसदुविहकसाय सेस दोदंसणाण जइपुव्वा।
संकामगंत कमसो सम्मुच्चाणं पढमदुइया ॥९॥

शब्दार्थ—**साअणजस**—सातावेदनीय, अनन्तानुबंधि, यशःकीर्ति, **दुविहकसाय**—दो प्रकार की कसाय, **सेस**—शेष प्रकृतियों, **दोदंसणाण**—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व और मिश्र ये दो दर्शनमोहनीय, **जइपुव्वा**—अनुक्रम से प्रमत्त-संयतादि गुणस्थानवर्ती, **संकामगंत**—संक्रम करने वाले, **कमसो**—क्रम से, **सम्मुच्चाणं**—सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र का, **पढमदुइया**—प्रथम और द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव।

गाथार्थ—सातावेदनीय, अनन्तानुबंधि, यशःकीर्ति, कषाय और नोकषाय इस प्रकार दो प्रकार की कषाय, शेष प्रकृतियों और मिथ्यात्व एवं मिश्र दर्शनमोहनीय, इन प्रकृतियों के संक्रम करने वाले अनुक्रम से प्रमत्तसंयतादि गुणस्थान तक के जीव हैं तथा सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र के अनुक्रम से पहले और दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में संक्रम के स्वामियों का निर्देश किया है। वह इस प्रकार—

सातावेदनीय, अनन्तानुबंधि, यशःकीर्ति, अनन्तानुबंधि के सिवाय शेष बारह कषाय और नोकषाय इस तरह दो प्रकार की कषाय, शेष कर्मप्रकृति और सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय रूप दो दर्शन-मोहनीय, इन सभी कर्मप्रकृतियों के संक्रम करने वाले अनुक्रम से प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती जीव हैं। अर्थात् उक्त प्रकृतियों के संक्रम-स्वामी उस-उस गुणस्थान तक के जीव हैं तथा सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र को अनुक्रम से पहले और दूसरे गुणस्थान तक के जीव संक्रमित करते हैं।

उक्त संक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सातावेदनीय के संक्रम के स्वामी मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव हैं, उससे उपरिवर्ती गुणस्थान वाले जीव नहीं हैं। क्योंकि अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में असातावेदनीय का बंध नहीं होता है, साता का ही बंध होता है, जिससे असाता का साता में संक्रम होता है। पतद्ग्रह का अभाव होने से सातावेदनीय का संक्रम नहीं होता है। इसलिये सातावेदनीय का संक्रम करने वालों में अंतिम प्रमत्तसंयत जीव ही समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार सर्वत्र संक्रम करने वालों में पर्यन्तवर्ती कौन है, यह जान लेना चाहिये। अर्थात् जिस गुणस्थान तक पतद्ग्रहप्रकृति का सद्भाव होने से जिस प्रकृति का संक्रम होता हो, उस गुणस्थान वाला जीव उस प्रकृति का अंतिम संक्रमक–संक्रमित करने वाला समझना चाहिये।

इसी तरह अनन्तानुबंधि के संक्रमस्वामी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक के जीव समझना चाहिये। आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबंधि का सर्वथा उपशम या क्षय होने से संक्रम नहीं होता है।

यशःकीर्ति के मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक के जीव संक्रम के स्वामी हैं, ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव नहीं हैं। क्योंकि मात्र यशःकीर्ति का ही बंध होने से वह पतद्ग्रह-प्रकृति है, संक्रांत होने वाली नहीं है।

अनन्तानुबंधि के सिवाय बारह कषाय और नव नोकषाय के संक्रम के स्वामी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान तक के जीव जानना चाहिये। अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान में कषाय और नोकषाय का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उनका संक्रम नहीं होता है।

जिन प्रकृतियों का नामोल्लेख किया गया है और बाद में जिनका नाम कहा जायेगा उनके सिवाय ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय,[1] यशःकीर्ति के सिवाय नामकर्म की सभी प्रकृति, नीचगोत्र और अंतरायपंचक इन सभी प्रकृतियों के मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के जीव संक्रमस्वामी जानना चाहिये, ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव नहीं। क्योंकि उपशांतमोहादि

१. यद्यपि ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक में साता का बंध होता है, परन्तु उस बंध को कषायनिमित्तक नहीं होने से उसकी पतद्ग्रह के रूप में विवक्षा नहीं की है। जिससे उसमें असाता का संक्रम नहीं होता।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

गुणस्थानों में बंध का अभाव होने से प्रकृति पतद्ग्रह रूप नहीं रहती है, जिससे किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है।

मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान तक के जीव संक्रम के स्वामी हैं। क्षीण-मोहादि गुणस्थानों में उनकी सत्ता का अभाव होने से संक्रम नहीं होता है।

मिश्रमोहनीय का मिथ्यादृष्टि भी संक्रमक है, किन्तु सासादन और मिश्रदृष्टि जीव तो किसी भी दर्शनमोहनीय का किसी भी प्रकृति में संक्रम नहीं करते हैं। क्योंकि गाथा ३ में कहा है–दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव दर्शनत्रिक का संक्रम नहीं करते हैं। मिथ्यादृष्टि तो मिथ्यात्वमोहनीय के पतद्ग्रह होने से स्वभावतः संक्रमित नहीं करता है। क्योंकि गाथा ३ में कहा है—जिस दृष्टि का उदय हो उस दृष्टि को कोई जीव संक्रमित नहीं करता है। इसलिये मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय के संक्रम के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि आदि कहे हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय के संक्रम का स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय को मिथ्यात्व में वर्तमान जीव ही संक्रमित करता है, किन्तु सासादन या मिश्र संक्रमित नहीं करता है। क्योंकि दूसरे, तीसरे गुणस्थान में किसी भी दृष्टि का संक्रम नहीं होता है और चतुर्थ आदि गुणस्थानों में विशुद्ध परिणाम हैं, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीय के संक्रम का स्वामी अविशुद्ध मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

उच्चगोत्र के संक्रम का स्वामी सासादनगुणस्थान तक का जीव है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवर्ती जीव ही नीचगोत्रकर्म बांधते हैं। जहाँ और जब तक नीचगोत्र का बंध हो वहाँ तक और तभी उच्चगोत्र का संक्रम होता है। बध्यमान प्रकृति पतद्ग्रह है और पतद्ग्रहप्रकृति के बिना संक्रम होता नहीं। नीचगोत्र दूसरे गुणस्थान तक ही बंधने वाला होने से वहाँ तक ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चगोत्र का संक्रम होता है। ऊपर के गुणस्थानों में मात्र उच्चगोत्र बंधने से नीचगोत्र का ही संक्रम होता है। उक्त समग्र कथन का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम के स्वामियों को जानना चाहिये। अब पतद्ग्रह की अपेक्षा प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

पतद्ग्रहापेक्षा साद्यादि प्ररूपणा

चउहा पडिग्गहत्तं धुवबंधिणं विहाय मिच्छत्तं।
मिच्छाधुवबंधिणं साई अधुवा पडिग्गहया ॥१०॥

शब्दार्थ—चउहा—चार प्रकार का, **पडिग्गहत्तं**—पतद्ग्रहत्व, **धुवबंधिणं**—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, **विहाय**—छोड़कर, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व को, **मिच्छाधुवबंधिणं**—मिथ्यात्व और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, **साई**—सादि, **अधुवा**—अध्रुव, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहत्व।

गाथार्थ—मिथ्यात्व को छोड़कर शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का पतद्ग्रहत्व चार प्रकार का है तथा मिथ्यात्व और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का पतद्ग्रहत्व सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—बंध की अपेक्षा प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबंधिनी और बंधप्रकृतियां पतद्ग्रह रूप होती हैं। उनकी यहाँ सादि-अनादि आदि प्ररूपणा की है—

'विहाय मिच्छत्त' अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय को छोड़कर शेष ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, कषायषोडश, भय, जुगुप्सा, तैजससप्तक, वर्णादिवीशक, निर्माण, अगुरुलघु, उपघात और अंतरायपंचक—इस तरह सड़सठ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की पतद्ग्रहता सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इस तरह चार प्रकार की है।

वह इस प्रकार—उपर्युक्त ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अपना-अपना जब बंधविच्छेद होता है तब वे पतद्ग्रह नहीं रहती हैं। यानि उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं, किन्तु जब उन-उन प्रकृतियों का अपने-अपने बंधहेतुओं के मिलने से बंध प्रारंभ होता है, तब वे पुनः पतद्ग्रह रूप होती हैं। इस प्रकार पतद्ग्रहता नष्ट होने के बाद पुनः पतद्ग्रह रूप होने से सादि है। उन प्रकृतियों का बंधविच्छेदस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनका पतद्ग्रहत्व अनादि है। अभव्य के बंधविच्छेद होता ही नहीं है, इसलिये ध्रुव है और भव्य ऊपर के गुणस्थान में जाकर उन-उन प्रकृतियों का बंध-विच्छेद करेगा—पतद्ग्रहत्व का नाश करेगा, उस अपेक्षा अध्रुव है।

मिथ्यात्वमोहनीय और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की पतद्ग्रहता सादि, अध्रुव है। वह इस प्रकार—मिथ्यात्वमोहनीय यद्यपि ध्रुव-बंधिनी है, परन्तु जिस जीव के सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता हो, वही इन दो प्रकृतियों के दलिकों को मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रांत करता है, दूसरा कोई संक्रमित नहीं करता है। सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता सर्वदा होती नहीं, इसलिये मिथ्यात्वमोहनीय की पतद्ग्रहता सादि, अध्रुव है।

अध्रुवबंधिनी शेष छियासी प्रकृतियों की पतद्ग्रहता अध्रुव-बंधिनी होने से ही सादि और अध्रुव समझना चाहिये।

चारों आयु का परस्पर संक्रम नहीं होने से उनमें सादि आदि भंगों का विचार नहीं किया जाता है। उक्त कथन का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से एक-एक प्रकृति की संक्रम और पतद्ग्रहत्व की अपेक्षा साद्यादि प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब प्रकृतिस्थान की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं। परन्तु उससे पूर्व संक्रम और पतद्ग्रह के विषय में उनके स्थानों की संख्या का निर्देश करने के लिये गाथा-सूत्र कहते हैं।

प्रकृतियों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान

संतट्ठाणसमाइं संकमठाणाइं दोण्णि बीयस्य।
बंधसमा पडिग्गहगा अट्ठहिया दोवि मोहस्स ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्नरससोलसत्तरअडचउवीसा य संकमे नत्थि।
अट्ठदुवालससोलसवीसा य पडिग्गहे नत्थि ॥१२॥

शब्दार्थ—**संतट्ठाणसमाइं**—सत्तास्थानों के समान, **संकमठाणाइं**—संक्रमस्थान, **दोण्णि**—दो, **बीयस्स**—दूसरे दर्शनावरण के, **बंधसमा**—बंधस्थान के समान, **पडिग्गहगा**—पतद्ग्रहस्थान, **अट्ठहिया**—आठ अधिक, **दोवि**—दोनों, **मोहस्स**—मोहनीयकर्म के।

पन्नरससोलसत्तरस—पन्द्रह, सोलह, सत्रह, **अडचउवीसा**—आठ और चार अधिक बीस, **य**—और, **संकमे**—संक्रम में, **नत्थि**—नहीं होते हैं, **अट्ठदुवालस-सोलसवीसा**—आठ, बारह, सोलह और बीस, **य**—अनुक्त अर्थबोधक अव्यय, **पडिग्गहे**—पतद्ग्रह में, **नत्थि**—नहीं होते हैं।

गाथार्थ—सत्तास्थानों के समान प्रत्येक कर्म के संक्रमस्थान हैं, किन्तु दूसरे दर्शनावरणकर्म के दो हैं। बंधस्थानों के समान पतद्ग्रहस्थान हैं, परन्तु मोहनीयकर्म में बंधस्थानों और सत्तास्थानों से आठ-आठ अधिक पतद्ग्रहस्थान और संक्रमस्थान हैं।

पन्द्रह, सोलह, सत्रह, आठ और चार अधिक बीस इस तरह पांच स्थान संक्रम में तथा आठ, बारह, सोलह और बीस ये चार स्थान पतद्ग्रह में नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में ज्ञानावरण आदि आठों मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की संख्या का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

सत्तास्थान के समान संक्रमस्थान होते हैं—'संतट्ठाणसमाइं संकमठाणाइं' अर्थात् जिस कर्म के जितने सत्तास्थान होते हैं, उस कर्म के उतने संक्रमस्थान भी होते हैं। किन्तु दूसरे दर्शनावरणकर्म में नौ और छह की सत्ता रूप दो ही संक्रमस्थान हैं। सत्तास्थान की तरह तीसरा चार प्रकृतिक सत्ता रूप संक्रमस्थान नहीं है। जिसका आशय इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि दर्शनावरणकर्म के तीन सत्तास्थान हैं—चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतिक, निद्राद्विक के साथ छह प्रकृतिक और स्त्यानर्द्धित्रिक सहित नौ प्रकृतिक और इसी प्रकार तीन बंधस्थान भी हैं। किन्तु इनमें से संक्रमस्थान छह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये दो ही हैं। क्योंकि बारहवें गुणस्थान के चरम समय में दर्शनावरणचतुष्क की सत्ता होती है परन्तु दर्शनावरण का बंध नहीं होता है, बंध नहीं होने से पतद्ग्रहता भी नहीं। जिससे चार प्रकृति रूप तीसरा संक्रमस्थान घटित नहीं होता है। अर्थात् चार की सत्ता बारहवें गुणस्थान के चरम समय में होती है किन्तु वहाँ कोई पतद्ग्रह न होने से चार प्रकृतिक संक्रमस्थान नहीं है।

यद्यपि बंधस्थान के समान पतद्ग्रहस्थान होते हैं—'बंधसमा पडिग्गहगा'। किन्तु मोहनीयकर्म इसका अपवाद है। क्योंकि मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह ये दोनों स्थान सत्तास्थानों और बंधस्थानों से आठ-आठ अधिक हैं। वे इस प्रकार—मोहनीयकर्म के सत्तास्थान पन्द्रह हैं, उनमें आठ अधिक करने पर संक्रमस्थान तेईस और जो बंधस्थान दस हैं, उनमें आठ अधिक करने पर पतद्ग्रहस्थान अठारह होते हैं। जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण यथाप्रसंग आगे किया जा रहा है।

इस प्रकार सामान्य से संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की संख्या का संकेत करने के बाद अब प्रत्येक कर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की संख्या बतलाते हैं।

ज्ञानावरण, अन्तराय कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान

ज्ञानावरण और अन्तराय इनका पांच-पांच प्रकृति रूप एक-एक सत्तास्थान और एक-एक संक्रमस्थान है तथा पांच-पांच प्रकृति रूप एक-एक ही बंधस्थान और एक-एक ही पतद्ग्रहस्थान है। इसका कारण यह है कि बंध और सत्ता में से इनकी पांचों प्रकृतियां एक साथ ही व्युच्छिन्न होती हैं। बंध में से एक साथ जाने वाली होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचों प्रकृतियां एक साथ पतद्ग्रहरूप और सत्ता में से पांचों के एक साथ व्युच्छिन्न होने से संक्रम करने वाली भी पांचों घटित होती हैं। वह इस प्रकार—

ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियों का परस्पर संक्रम होता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण में संक्रमित होता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण भी मतिज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण में संक्रमित होता है। इसी तरह अवधिज्ञानावरणादि के लिये भी और अंतरायकर्म की प्रकृतियों के लिये भी समझ लेना चाहिये कि उनका भी परस्पर एक दूसरे में संक्रमण होता है। क्योंकि दसवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त वे सभी प्रकृतियां निरन्तर बंधती रहती हैं और बारहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त वे निरंतर सत्ता में रहती हैं। ध्रुवबंधिनी होने से ये प्रत्येक प्रकृतियां एक साथ पतद्ग्रह रूप से घटित होती हैं तथा ध्रुवसत्ता होने से पतद्ग्रह प्रकृति होने तक एक साथ संक्रमित होने वाली भी होती हैं। इस प्रकार इन दोनों कर्मों का पांच-पांच प्रकृति रूप एक ही पतद्ग्रहस्थान और पांच-पांच प्रकृति रूप एक संक्रमस्थान है।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव शेष कर्मों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों की संख्या बतलाते हैं।

वेदनीय और गोत्रकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान

वेदनीय और गोत्र कर्म इन दोनों में से प्रत्येक कर्म के दो-दो सत्तास्थान हैं। वे इस प्रकार—दो प्रकृति रूप और एक प्रकृति रूप। यद्यपि वेदनीय और गोत्र कर्म का दो प्रकृति रूप सत्तास्थान है, लेकिन दो प्रकृतियों का एक साथ संक्रम नहीं होने से एक-एक प्रकृति रूप एक-एक संक्रमस्थान ही होता है। क्योंकि परावर्तमान होने से गोत्र और वेदनीय की दो-दो प्रकृतियों में से मात्र एक-एक का ही बंध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। जिससे बंधने वाली प्रकृति पतद्ग्रहरूप है और नहीं बंधने वाली प्रकृति संक्रम करने वाली है। यदि दोनों प्रकृतियां एक साथ बंधती होती तो ज्ञानावरण की तरह परस्पर संक्रम हो सकता था, अर्थात् दोनों प्रकृतियां पतद्ग्रहरूप और संक्रमरूप घटित हो सकती थीं, किन्तु वैसा नहीं होने से एक-एक प्रकृति रूप ही संक्रमस्थान समझना चाहिये।

वह इस प्रकार—सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दोनों की सत्ता वाले सातावेदनीय के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त के जीव जब सातावेदनीय का बंध करते हैं तब पतद्ग्रहरूप उस प्रकृति में असातावेदनीय को संक्रमित करते हैं। इसी प्रकार साता-असातावेदनीय इन दोनों की सत्ता वाले असातावेदनीय के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत पर्यन्तवर्ती जीव जब असातावेदनीय बांधें तब पतद्ग्रह रूप उस प्रकृति में सातावेदनीय को संक्रमित करते हैं। इस प्रकार साता-असातावेदनीय का एक प्रकृति-रूप संक्रमस्थान और एक प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान होता है।

उच्चगोत्र के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय पर्यन्तवर्ती जीव जब उच्चगोत्र का बंध करें तब पतद्ग्रह रूप उस प्रकृति में नीच-गोत्र संक्रमित करते हैं और उच्च-नीच दोनों की सत्ता वाले नीचगोत्र के बंधक मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव जब नीचगोत्र का बंध करें तब बंधने वाली उस प्रकृति में उच्चगोत्र संक्रमित करते हैं। इस प्रकार गोत्रकर्म में भी एक संक्रमस्थान और एक पतद्ग्रह-स्थान संभव है।

आयुकर्म की प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता है। अतः उनमें पतद्ग्रहादित्व भी संभव नहीं हैं।

नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का पृथक् से आगे विचार किया जायेगा। अतएव अब मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्-ग्रह स्थानों का विचार करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान

मोहनीयकर्म के पन्द्रह सत्तास्थान इस प्रकार हैं—अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। किन्तु संक्रमस्थान तेईस हैं। वे इस प्रकार—एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, तेईस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस प्रकृतिक।

यद्यपि सत्तास्थान में अट्ठाईस और चौबीस प्रकृतिक का भी ग्रहण किया है, लेकिन संक्रम में नहीं होने से उन दोनों सत्तास्थानों को संक्रमस्थानों में नहीं गिना है। इसका कारण यह है कि अट्ठाईस की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का पतद्ग्रह है, इसलिये मिथ्यात्व के सिवाय शेष सत्ताईस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं, किन्तु अट्ठाईस संक्रांत नहीं होती हैं। उनमें से चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां चारित्रमोहनीय में परस्पर संक्रमित होती हैं और मिथ्यात्वमोहनीय में मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय संक्रमित होती हैं। क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है।

इसी प्रकार अनन्तानुबंधि का विसंयोजक चौबीस की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय की पतद्ग्रह होने से उसके बिना शेष तेईस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं, चौबीस नहीं। इसलिये चौबीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान नहीं है तथा पन्द्रह, सोलह और सत्रह प्रकृतिक रूप तीन संक्रमस्थान नहीं होने का कारण जब सभी संक्रमस्थानों का विचार करेंगे, उससे ज्ञात होगा, अतएव उनको यहाँ स्पष्ट नहीं किया है।

अब शेष संक्रमस्थानों का विचार करते हैं—

सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना होने के पश्चात् सत्ताईस की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय का पतद्ग्रह होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से, उसके बिना शेष छब्बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं तथा मिश्र-मोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, अथवा छब्बीस की सत्ता वाले अनादि मिथ्यादृष्टि के भी पच्चीस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम नहीं होता है। कारण यह है कि वह चारित्रमोहनीय में संक्रमित नहीं होती है। क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के परस्पर संकम का अभाव है।

अथवा अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् आवलिका बीतने के बाद सम्यक्त्व-मोहनीय में मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का संक्रम होता है, जिससे सम्यक्त्वमोहनीय पतद्ग्रह है, अतएव उसको अलग करने पर शेष सत्ताईस प्रैकृतियां संक्रम में होती हैं तथा वही अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाला और आवलिका के अन्तर्वर्ती अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त हुए जिसे आवलिका बीती नहीं ऐसे औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिश्र-मोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व के अनुरूप विशुद्धि की सामर्थ्य द्वारा मिथ्यात्व के पुद्गल ही मिश्रमोहनीय रूप परिणाम को प्राप्त होते हैं यानि मिश्रमोहनीय रूप में परिणमित हुए हैं। क्योंकि अन्य प्रकृति रूप में परिणमन करना ही संक्रम कहलाता है। जिस समय जिसका अन्य प्रकृति रूप में परिणमन होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त वे दलिक सभी करणों के अयोग्य होते हैं, अर्थात् उनमें किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है।

यहाँ सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आवलिका के अन्दर मिश्र-मोहनीय की संक्रमावलिका पूर्ण नहीं होने से उसके दलिक सम्यक्त्व-मोहनीय में संक्रमित नहीं होते हैं, मात्र मिथ्यात्वमोहनीय के ही संक्रमित होते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय का तो सम्यक्त्वी के संक्रम होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं है। इसलिये उन दोनों को अलग करने पर शेष छब्बीस प्रकृतियों का ही संक्रम होता है।

चौबीस की सत्ता वाला सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व से पतन कर मिथ्यात्व में जाने पर भी और वहाँ पुनः अनन्तानुबंधिकषाय का बंध करता है, लेकिन सत्ताप्राप्त उस कषाय को संक्रमित नहीं करता है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व से पतित हुआ अनन्तानुबंधि का विसंयोजक जीव अनन्तानुबंधि का बंध पुनः प्रारंभ करता है, परन्तु जिस समय बंध करता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त उसमें कोई भी करण लागू न पड़ने से मिथ्यात्वगुणस्थान में बंधावलिका पर्यन्त अनन्तानुबंधि का संक्रम नहीं होता है और मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय की पतद्ग्रह है, इसलिये अनन्तानुबंधि और मिथ्यात्वमोहनीय को पृथक् करने पर शेष तेईस प्रकृतियों का संक्रम होता है।

इस प्रकार विचार करने से चौबीस प्रकृतिक संक्रमस्थान का अभाव है तथा चौबीस की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि के क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते जब मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होता है तब सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। यहाँ सत्ता में तेईस प्रकृतियां होती हैं।

अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि जब चारित्रमोहनीय का अंतरकरण करता है तब उसके संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि अन्तरकरण करता है तब पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का अनानुपूर्वी-उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है तथा अनन्तानुबंधि का क्षय अथवा सर्वोपशम किया गया होने से उसका संक्रम होता नहीं है और सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीय तथा मिथ्यात्वमोहनीय की पतद्ग्रह है, अतएव उसका भी संक्रम नहीं होता है। जिससे संज्वलन लोभ, अनन्तानुबंधिचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय इन छह प्रकृतियों के सिवाय शेष बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी उपशम सम्यग्दृष्टि के नपुंसकवेद का उपशम हो तब इक्कीस प्रकृतियों का संक्रम होता है। अथवा क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए बाईस की सत्ता वाला क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को कहीं पर संक्रमित नहीं करता है, जिससे उसके इक्कीस का संक्रमस्थान होता। अथवा क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के जहाँ तक आठ कषाय का क्षय नहीं होता है, वहाँ तक इक्कीस प्रकृति का संक्रम होता है।

उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से जब स्त्रीवेद का उपशम होता है तब बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि का मांडने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय का जब अन्तरकरण करता है तब पूर्व में कही गई युक्ति से संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होने से उसके सिवाय बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् नपुंसकवेद का जब उपशम हो तब उन्नीस और स्त्रीवेद का उपशम हो तब उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अठारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त बीस में से जब छह नोकषाय का उपशम होता है तब शेष चौदह प्रकृतियां, उसके बाद उनमें से पुरुषवेद उपशमित हो तब तेरह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से आठ कषाय का क्षय हो तब तेरह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं, उसी के जब चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण करे तब बारह प्रकृतियों का संक्रम होता है। क्योंकि अन्तरकरण करने के बाद चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का क्रम पूर्वक संक्रम होने से संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों में से छह नोकषायों का उपशम हो तब शेष बारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् जब पुरुषवेद का उपशम हो तब उसी के ग्यारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त बारह में से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नपुंसकवेद का क्षय हो तब शेष ग्यारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम हो तब ग्यारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के पूर्वोक्त ग्यारह में से स्त्रीवेद का क्षय हो तब दस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध उपशांत हो तब शेष दस प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त ग्यारह में से अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम हो तब शेष नौ प्रकृतिक तथा उसके बाद उसी के संज्वलन क्रोध का उपशम हा तब आठ प्रकृतिक संक्रमस्थान होता है। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त दस में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो तब शेष आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। उसी के संज्वलन मान का उपशम हो तब सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त आठ में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो तब शेष छह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन मान का उपशम हो तब शेष पांच प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सात में से अपत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया उपशमित हो तब शेष पांच प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उसी के जब संज्वलन माया उपशमित हो तब चार प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त दस में से छह नोकषाय का क्षय हो तब शेष चार प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के पुरुषवेद का क्षय हो तब तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त पांच में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो तब शेष तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन माया उपशमित हो तब संज्वलन लोभ पतद्ग्रह हो वहाँ तक शेष दो लोभ (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ)संक्रम में होते हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त चार में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप लोभ उपशांत हो तब शेष मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय रूप दो प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध का क्षय हो तब दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन मान का क्षय हो तब एक संज्वलन माया संक्रमित होती है।

इस प्रकार विचार करने पर अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह और पन्द्रह प्रकृति रूप संक्रमस्थान संभव नहीं होने से उनका निषेध किया है। उनके सिवाय शेष तेईस संक्रमस्थान जानना चाहिये।

सुगमता से समझने के लिये श्रेणीगत संक्रमस्थानों का दिग्दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

घटित होने के स्थान	कितने	कितने प्रकृतिक
क्षायिकसम्यक्त्व उपशमश्रेणि में ही	४	१९,१८,९,६
उपशमसम्यक्त्व उपशमश्रेणि में ही	२	१४,७
क्षपकश्रेणि में ही	१	१,
तीनों श्रेणियों में	२	११,२
क्षपकश्रेणि तथा उपशमसम्यक्त्व उपशमश्रेणि इन दोनों में	४	१३,१०,४,२
क्षपकश्रेणि तथा क्षायिक सम्यक्त्व उपशमश्रेणि इन दोनों में	२	१२,३
उपशमसम्यक्त्व, उपशमश्रेणि क्षायिकसम्यक्त्व	३	१८,५,२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों का विचार करने के बाद अब पतद्ग्रहस्थानों का निर्देश करते हैं।

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थान

पतद्ग्रहस्थान आधारभूत प्रकृतियों के समुदाय को कहते हैं। अतएव मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थानों का कथन करने के लिये पहले बंधस्थानों को बतलाते हैं कि बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक, ये मोहनीयकर्म के दस बंधस्थान हैं। किन्तु पतद्ग्रहस्थान इन दस बंधस्थानों से आठ अधिक होने से अठारह हैं। वे इस प्रकार—आठ, बारह, सोलह, बीस ये चार तथा गाथा में वीसा के बाद आगत 'य, च' शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चायक होने से तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिक ये छह कुल मिलाकर दस स्थान पतद्ग्रह के विषयभूत न होने से शेष अठारह पतद्ग्रहस्थान होते हैं। अर्थात् एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, नौ, दस, ग्यारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, इक्कीस और बाईस प्रकृतिक, ये अठारह पतद्ग्रहस्थान हैं।

इन पतद्ग्रहस्थानों में कौन और कितनी प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, अब इसका विचार करते हैं—

अट्ठाईस की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की पतद्ग्रह होने से, उसके सिवाय शेष सत्ताईस प्रकृतियां मिथ्यात्व, सोलह कषाय तथा तीन वेद में से बंधने वाला कोई एक वेद, युगलद्विक में से बंधने वाला एक युगल, भय और जुगुप्सा रूप बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

सम्यक्त्व की उद्वलना करे तब सत्ताईस की सत्ता वाले उसी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व ये मिश्रमोहनीय की पतद्ग्रह होने से उसके बिना शेष छब्बीस प्रकृतियां पूर्वोक्त बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिश्रमोहनीय की उद्‌वलना करे तब छब्बीस की सत्ता वाले उसी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वमोहनीय में किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होने से वह किसी की पतद्‌ग्रह नहीं, इसलिये पूर्वोक्त बाईस में से उसे कम करने पर शेष इक्कीस प्रकृति के समुदाय रूप पतद्‌ग्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व किसी भी प्रकृति में संक्रमित नहीं होता है, एवं उसमें भी अन्य कोई प्रकृति संक्रमित नहीं होती है, इसलिये आधार-आधेयभाव रहित उस मिथ्यात्वमोहनीय को दूर करने पर शेष पच्चीस प्रकृतियां इक्कीस प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

चौबीस की सत्ता वाला कोई सम्यग्दृष्टि गिरकर मिथ्यात्व में जाये, वहाँ यद्यपि मिथ्यात्व रूप हेतु के द्वारा अनन्तानुबंधिकषाय को पुनः बांधता है, लेकिन वह बंधावलिका पर्यन्त सकल करण के अयोग्य होने से सत्ता में होने पर भी उसको संक्रमित नहीं करता है और मिथ्यात्व-मोहनीय सम्यक्त्व एवं मिश्र मोहनीय की पतद्‌ग्रह है। इसलिये अनन्तानुबंधिचतुष्क और मिथ्यात्वमोहनीय को छोड़कर शेष तेईस प्रकृतियों को पूर्वोक्त बाईस प्रकृतियों में संक्रमित करता है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के बाईस प्रकृतिक पतद्‌ग्रह में सत्ताईस, छब्बीस और तेईस प्रकृति के समूह रूप तीन संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं और इक्कीस के पतद्‌ग्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। शेष संक्रमस्थान या पतद्‌ग्रहस्थान मिथ्यादृष्टि के नहीं होते हैं।

सासादनसम्यग्दृष्टि के 'दूसरा और तीसरा गुणस्थान वाला दर्शनत्रिक को संक्रमित नहीं करता है'[1] ऐसा सिद्धान्त होने से दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियों के संक्रम का अभाव है। इसलिये यहाँ सदैव इक्कीस के पतद्‌ग्रह में पच्चीस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं।

१. दुइयतइज्जा न दंसणतिगंपि। —संक्रमकरण गाथा ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्‌मिथ्यादृष्टि के भी दर्शनमोहत्रिक प्रकृतियों के संक्रम का अभाव होने से अट्ठाईस की सत्ता वाले अथवा सम्यक्त्वमोह के बिना सत्ताईस की सत्ता वाले मिश्रदृष्टि के पच्चीस प्रकृतियां और अनन्तानुबंधि रहित चौबीस की सत्ता वाले मिश्रदृष्टि के इक्कीस प्रकृतियां बारह कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा और युगलद्विक में से किसी एक युगलरूप बंधती हुई सत्रह प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानों में संक्रमस्थान समान होने से इनके एक साथ ही पतद्ग्रहस्थान कहते हैं।

अविरत आदि चार गुणस्थानों में औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्राप्ति के प्रथम समय से लेकर आवलिका कालपर्यन्त सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय पतद्ग्रह रूप ही होती है। इसलिये शेष छब्बीस प्रकृतियां अविरतसम्यग्दृष्टि के बारह कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा और युगलद्विक में से एक युगल रूप बंधती हुई सत्रह तथा सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय कुल उन्नीस प्रकृतियों के समुदाय रूप पतद्ग्रह में, देशविरति के प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, संज्वलनचतुष्क, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय रूप पन्द्रह प्रकृतिक पतद्ग्रह में और प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत के संज्वलनचतुष्क, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय रूप ग्यारह प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रमित होती हैं।

उन्हींअविरत सम्यग्दृष्टि आदि के उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति से आवलिका पूर्ण होने के बाद मिश्रमोहनीय संक्रम और पतद्ग्रह दोनों में होती है। क्योंकि मिश्रमोहनीय की संक्रमावलिका व्यतीत हो गई है, जिससे वह करणसाध्य हो गई है। इसलिये सत्ताईस प्रकृतियां पूर्वोक्त उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह रूप तीन पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमित होती हैं।

अनन्तानुबंधि की उद्वलना होने के बाद चौबीस की सत्ता वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हीं अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्त्वमोहनीय पतद्ग्रह होने से शेष तेईस प्रकृतियां पूर्वोक्त उन्नीस आदि तीन पतद्ग्रहस्थानों में संक्रान्त होती हैं। तत्पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद मिश्रमोहनीय पतद्ग्रह रूप नहीं होती है और मिथ्यात्व संक्रम में नहीं होती, इसलिये शेष बाईस प्रकृतियां अविरत, देशविरत और संयत जीव के अनुक्रम से अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रमित होती हैं। उसके बाद मिश्रमोहनीय का क्षय होने के अनन्तर सम्यक्त्वमोहनीय पतद्ग्रहत्व में नहीं होती है और संक्रम में तो है ही नहीं, जिससे इक्कीस प्रकृतियां अविरत आदि गुणस्थान वालों को अनुक्रम से सत्रह, तेरह और नौ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि की संक्रम-पतद्ग्रह विधि

अब उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के संक्रमस्थानों की अपेक्षा पतद्ग्रहविधि का कथन करते हैं—

चौबीस की सत्ता वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय ये मिथ्यात्व और मिश्र की पतद्ग्रह होने से, उसे अलग करने पर शेष तेईस प्रकृतियां पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इस प्रकार सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी जीव के अन्तरकरण करने के अनन्तर संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, जिससे उसके सिवाय शेष बाईस प्रकृतियां पूर्वोक्त सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। उसी के नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद इक्कीस प्रकृतियां सात के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उसके बाद स्त्रीवेद का उपशम होने के अनन्तर बीस प्रकृतियां सातप्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समयन्यून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्ग्रह रूप में नहीं रहता है। क्योंकि प्रथमस्थिति की समयन्यून दो और तीन आवलिका शेष रहे तब अनुक्रम से पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क में पतद्ग्रहरूपता नहीं रहती है, ऐसा नियम है।[1] इसलिये पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से पुरुषवेद को पृथक् करने पर शेष छह के पतद्ग्रहस्थान में बीस प्रकृति संक्रमित होती हैं। तदनन्तर जब छह नोकषाय उपशमित हों तब शेष चौदह प्रकृतियां उक्त छह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। छह में चौदह प्रकृतियां समयोन दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। इसका कारण यह है कि जिस समय छह नोकषाय उपशमित होती हैं, उस समय पुरुषवेद का बंध-विच्छेद होता है, तब समयन्यून दो आवलिकाकाल का बंधा हुआ दलिक ही अनुपशमित शेष रहता है। उसका उपशम और संक्रम समयन्यून दो आवलिकाकाल पर्यन्त होता है, इसीलिये कहा है कि छह में चौदह प्रकृतियां समयोन दो आवलिका तक संक्रमित होती हैं। पुरुषवेद का उपशम होने के बाद शेष तेरह प्रकृतियां छह के पतद्ग्रह-स्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रांत होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन क्रोध भी पतद्ग्रह नहीं होता है, इसलिये पूर्वोक्त छह में से उसे कम करने पर शेष पांच के पतद्ग्रहस्थान में वही तेरह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध उपशमित हो तब शेष ग्यारह प्रकृतियां पांच के पतद्ग्रहस्थान में समयोन दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। इसका कारण पुरुषवेद के लिये जो पूर्व में कहा जा चुका है उसी प्रकार समझ लेना चाहिये। तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध उपशमित हो तब शेष दस प्रकृतियां उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रांत होती हैं।

---

१. दुसुतिसु आवलियासु। —संक्रमकरण गाथा ७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तर संज्वलन मान की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन मान भी पतद्ग्रह नहीं होता है। इसलिये पांच में से उसे अलग करने पर शेष चार के पतद्ग्रहस्थान में दस प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान उपशमित हो तब शेष आठ प्रकृतियां चार के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। संज्वलन मान उपशमित हो तब शेष सात प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चार के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन माया की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन माया भी पतद्ग्रह नहीं होती है, इसलिये चार में से उसे दूर करने पर शेष तीन के पतद्ग्रहस्थान में पूर्वोक्त सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। वे समय न्यून दो आवलिका काल जाने तक संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया उपशमित हो तब शेष पांच प्रकृतियां तीन के पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। वे तब तक ही संक्रमित होती हैं यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये। उसके बाद संज्वलन माया उपशमित हो तब शेष चार प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तीन के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ उपशमित हो तब शेष मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय ये दो प्रकृतियां सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि नौवें गुणस्थान का समय न्यून दो आवलिका काल शेष रहे, उसी समय से संज्वलन लोभ पतद्ग्रह नहीं होता है, तभी से दो प्रकृतियों का दो प्रकृतियों में संक्रम होता है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होने से मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय का लोभ में संक्रम नहीं होता है, जिससे दो का दो में संक्रम होता है। उसमें मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिश्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय में और मिश्रमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होती है।

इस प्रकार से उपशम सम्यग्दृष्टि की उपशमश्रेणि में संक्रम और पतद्ग्रह विधि जानना चाहिये। अब उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की संक्रम और पतद्ग्रह विधि का निरूपण करते हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिकसम्यग्दृष्टि की संक्रम-पतद्ग्रह विधि

अनन्तानुबंधिचतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय होने के बाद इक्कीस की सत्ता वाला जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणि को स्वीकार करता है, उसके नौवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच के पतद्ग्रहस्थान में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। आठवें गुणस्थान में तो उसे नौ के पतद्ग्रहस्थान में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, यह समझना चाहिये। नौवें गुणस्थान में जब अन्तरकरण करे तब संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होने से उसके सिवाय शेष बीस प्रकृतियां पांच के पतद्ग्रहस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं, तत्पश्चात् नपुंसकवेद उपशमित हो तब उन्नीस प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उसके बाद स्त्रीवेद का उपशम हो तब अठारह प्रकृतियां उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्ग्रह नहीं होता है, इसलिये उसके सिवाय शेष चार के पतद्ग्रहस्थान में अठारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। उसके बाद छह नोकषाय का उपशम हो, तब शेष बारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रांत होती हैं। तदनन्तर पुरुषवेद का उपशम होने पर ग्यारह प्रकृतियां चार के पतद्ग्रहस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब वह भी पतद्ग्रह नहीं रहता है, अतः चार में से उसे दूर करने पर शेष तीन के पतद्ग्रहस्थान में पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और वे भी तब तक संक्रमित होती हैं, यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दोनों क्रोध उपशांत हों तब नौ प्रकृतियां पूर्वोक्त तीन के पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध उपशमित हो तब आठ प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तीन के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन मान की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन मान भी पतद्ग्रह नहीं होता है, अतः तीन में से उसे निकालने पर शेष दो के पतद्ग्रह में पूर्वोक्त आठ प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दोनों मान उपशमित हों तब छह प्रकृतियां दो के पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद संज्वलन मान का उपशमन हो तब पांच प्रकृतियां दो के पतद्ग्रहस्थान में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् संज्वलन माया की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन माया भी पतद्ग्रह रूप नहीं रहती है, इसलिये दो में से उसे कम करने पर शेष संज्वलन लोभ रूप पतद्ग्रह स्थान में वे पांच प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो तब शेष तीन प्रकृतियां संज्वलन लोभ में संक्रांत होती हैं। वे तब तक संक्रमित होती हैं यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये।

तत्पश्चात् संज्वलन माया उपशमित हो तब अप्रत्याख्यानावरण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यानावरण ये दोनों लोभ संज्वलन लोभ में अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होते हैं। अर्थात् जब तक संज्वलन लोभ पतद्ग्रह रूप हो तब तक उपर्युक्त दोनों लोभ संक्रमित होते हैं। नौवें गुणस्थान का समय न्यून दो आवलिका काल शेष रहे, यानि संज्वलन लोभ पतद्ग्रह रूप नहीं रहता तब से दोनों लोभ का संक्रम नहीं होता है किन्तु उपशम ही होता है और नौवें गुणस्थान के चरम समय में ये दोनों लोभ सर्वथा शांत हो जाते हैं।

तत्पश्चात् अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में उक्त दोनों लोभों के उपशांत हो जाने से दसवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का किसी भी प्रकृति में संक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा संक्रम-पतद्ग्रहविधि जानना चाहिये। अब क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा संक्रम और पतद्ग्रह विधि का विचार करते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणि में वर्तमान की संक्रम-पतद्ग्रहविधि

इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणि स्वीकार करता है।

अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान को प्राप्त हुए उसके पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् आठ कषाय का क्षय होने पर तेरह प्रकृतियां अन्तमुहूर्त पर्यन्त पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। उसके बाद अन्तरकरण होने पर संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, इसलिये शेष बारह प्रकृतियां उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रह में अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद नपुंसकवेद का क्षय होने पर ग्यारह प्रकृतियां और स्त्रीवेद का क्षय होने पर दस प्रकृतियां अन्तमुहूर्त पर्यन्त उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रमित होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका शेष रहने पर वह पतद्ग्रह नहीं रहता है, इसलिये पांच में से उसे कम करने पर शेष चार प्रकृतिक पतद्ग्रह में वही दस प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद छह नोकषायों का क्षय होने पर शेष चार प्रकृतियां समयोन दो आवलिका पर्यन्त उसी चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

जिस समय पुरुषवेद का क्षय हुआ उसी समय संज्वलन क्रोध भी पतद्ग्रह नहीं होता है। इसलिये उसके सिवाय शेष मान, माया लोभ इन तीन प्रकृतियों में क्रोध, मान, माया ये तीन प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रांत होती हैं।

संज्वलन क्रोध का बंधविच्छेद होने के बाद समय न्यून दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का क्षय होता है और उसी समय संज्वलन मान पतद्ग्रह रूप नहीं रहता है, जिससे शेष दो प्रकृतियों का दो प्रकृतियों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रम होता है। संज्वलन मान का बंधविच्छेद होने के बाद समयोन दो आवलिका काल में संज्वलन मान का भी सत्ता में से नाश हो जाता है और उसी समय संज्वलन माया की भी पतद्ग्रहता नहीं रहती है, जिससे एक संज्वलन लोभ रूप पतद्ग्रहस्थान में संज्वलन माया रूप एक प्रकृति अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती है। संज्वलन माया का बंधविच्छेद होने के बाद समय न्यून दो आवलिकाकाल में संज्वलन माया का भी सत्ताविच्छेद होता है, तब उसके बाद कोई प्रकृति किसी प्रकृति में संक्रमित नहीं होती है।

इस प्रकार से क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा संक्रम और पतद्ग्रह विधि जानना चाहिये।

अब पूर्वोक्त कर्मप्रकृतियों के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम-पतद्ग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा

संकमण पडिग्गहया पढमतइज्जट्ठमाणचउभेया ।
इगवीसो पडिग्गहगो पणुवीसो संकमो मोहे ॥१३॥

शब्दार्थ—**संकमण पडिग्गहया**—संक्रमणता और पतद्ग्रहता, **पढमत-इज्जट्ठमाण**—पहले, तीसरे और आठवें कर्म की, **चउभेया**—चार प्रकार की है, **इगवीसो**—इक्कीस प्रकृति रूप, **पडिग्गहगो**—पतद्ग्रह, **पणुवीसो**—पच्चीस प्रकृति रूप, **संकमो**—संक्रमस्थान, **मोहे**—मोहनीयकर्म में ।

गाथार्थ—पहले, तीसरे और आठवें कर्म की संक्रमणता और पतद्ग्रहता चार प्रकार की है और मोहनीयकर्म में इक्कीस प्रकृति रूप पतद्ग्रह और पच्चीस प्रकृति रूप संक्रम भी चार प्रकार का है ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म के सभी प्रकृतिस्थानों के संक्रम तथा पतद्ग्रह के सादि आदि चारों भंगों को तथा मोहनीयकर्म के इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान एवं पच्चीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के भंगों को बतलाया है । जिसका विस्तार के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है ।

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के साद्यादि भंग

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म में संक्रमत्व और पतद्ग्रहत्व सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है । जो इस प्रकार—उपशांतमोहगुणस्थान में इन दोनों कर्मों का बंध नहीं होने से पतद्ग्रहत्व नहीं है और पतद्ग्रह नहीं होने से संक्रमत्व भी नहीं होता है । वहाँ से पतन करने पर दोनों प्रवर्तित होते हैं, इसलिये सादि हैं । उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के संक्रम तथा पतद्ग्रह ये दोनों अध्रुव-सांत हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदनीयकर्म के साद्यादि भंग

तीसरे वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से अबध्यमान एक प्रकृति रूप संक्रमस्थान और बध्यमान एक प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान सामान्यतः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त होता है। उससे आगे उपशांतमोह आदि गुणस्थानों में सांपरायिक बंध का अभाव होने से संक्रम अथवा पतद्ग्रह दोनों में से कोई भी स्थान नहीं होता है। कषायरूप बंधहेतु द्वारा जहाँ तक प्रकृतियां बंधती हैं, वहाँ तक ही बंधने वाली प्रकृति पतद्ग्रह होती है। जहाँ कषाय बंधहेतु नहीं है, वहाँ कदाचित् प्रकृति बंधती भी हो, लेकिन वह पतद्ग्रह नहीं होती है।

ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में सातावेदनीय के सिवाय अन्य किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता है और बंध न होने से पतद्ग्रह नहीं है एवं पतद्ग्रह का अभाव होने से कोई भी प्रकृति संक्रमित नहीं होती है।

यद्यपि सातावेदनीय का बंध होता है, किन्तु वह पतद्ग्रह नहीं है। क्योंकि उसके बंध में कषाय हेतु नहीं है। उपशांतमोहगुणस्थान से जब पतन होता है तब उसके दोनों स्थानों की शुरुआत होती है। दसवें से सातवें गुणस्थान तक सातावेदनीय पतद्ग्रह, असाता का संक्रम और छठे से नीचे के गुणस्थानों में परिणाम के अनुसार दोनों में से जिसका बंध हो, वह पतद्ग्रह और शेष का संक्रम होता है। इसलिये वे दोनों स्थान सादि हैं। ग्यारहवां गुणस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव–अनन्त और भव्य के अध्रुव–सांत है। सामान्य की अपेक्षा वेदनीयकर्म के लिये विचार करें तब उक्त प्रकार से चार भंग घटित होते हैं, परन्तु जब उसकी एक-एक प्रकृति की अपेक्षा विचार किया जाये तब एक-एक प्रकृति रूप संक्रम और पतद्ग्रह दोनों सादि और अध्रुव-सांत हैं। क्यों बारंबार परावर्तन होना संभव है।

गोत्रकर्म के साद्यादि भंग

वेदनीयकर्म की तरह गोत्रकर्म की भी स्थिति है। क्योंकि इसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों प्रकृतियां परावर्तमान रूप हैं। जिससे परस्पर संक्रम और पतद्ग्रह स्थान होती रहती हैं। इसलिये वे दोनों स्थान वेदनीय की तरह सादि, अध्रुव हैं।[1]

अब मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह और संक्रम स्थानों के साद्यादि भंगों की प्ररूपणा करते हैं।

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह-संक्रम-स्थानों के साद्यादि भंग

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह और संक्रम स्थानों की संख्या का निरूपण पहले किया जा चुका है कि संक्रमस्थान तेईस और पतद्ग्रहस्थान अठारह हैं। उनमें से पच्चीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार है। वह इस प्रकार—अट्ठाईस की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की उद्वलना करे तब उसके पच्चीस का संक्रमस्थान होता है, इसलिये सादि है, अनादि मिथ्यादृष्टि के अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव होता है और शेष रहे सभी संक्रमस्थान अमुक काल पर्यन्त ही प्रवर्तमान होने से सादि-सांत हैं।

पतद्ग्रहस्थानों में से इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले के इक्कीस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान की शुरुआत होती है, इसलिये सादि है। छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है। शेष समस्त पतद्ग्रहस्थान नियतकाल पर्यन्त प्रवर्तित होने से सादि, अध्रुव–सांत हैं।

आयुकर्म में परस्पर संक्रम न होने से संक्रमत्व पतद्ग्रहत्व संबन्धी उनके सादि आदि भंग भी घटित नहीं होते हैं।

---

१. वेदनीय और गोत्र कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों विषयक विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार दर्शनावरण और नाम कर्म के सिवाय शेष कर्मों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के सादि आदि भंगों की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब दर्शनावरण-कर्म के सादि आदि भंगों का कथन करते हैं।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के साद्यादि भंग

दंसणवरणे नवगो संकमणपडिग्गहा भवे एवं।
साई अधुवा सेसा संकमणपडिग्गहठाणा ॥१४॥

शब्दार्थ—**दंसणवरणे**—दर्शनावरणकर्म में, **नवगो**—नौ प्रकृति रूप, **संकमणपडिग्गहा**—संक्रम और पतद्ग्रह स्थान, **भवे**—होता है, **एवं**—इसी प्रकार, **साई अधुवा**—सादि, अध्रुव, **सेसा**—शेष, **संकमणपडिग्गहठाणा**—संक्रम और पतद्ग्रह स्थान।

गाथार्थ—दर्शनावरणकर्म में नौ प्रकृति रूप संक्रम और पतद्ग्रहस्थान इसी प्रकार सादि आदि चार प्रकार का है। शेष संक्रम और पतद्ग्रह स्थान सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियों का बंधक मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव नौ के पतद्ग्रह में नौ प्रकृतियों को संक्रमित करता है। इन नौ का पतद्ग्रह सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि मिश्रदृष्टि आदि गुणस्थान में छह का बंध होने से नौ का पतद्ग्रह नहीं है। वहाँ से पतन होने पर होता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये।

इसी प्रकार नौ प्रकृति रूप संक्रमस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान से आगे उपशांतमोहगुणस्थान में संक्रम नहीं होता है, वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब शेष रहे पतद्ग्रहस्थानों और संक्रमस्थानों के सादि आदि भंगों को स्पष्ट करते हैं—

मिश्रगुणस्थान से लेकर अपूर्वकरणगुणस्थान के संख्यात भाग पर्यन्त दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियों की सत्ता वाला और छह का बंधक छह में नौ संक्रमित करता है। यह छह का पतद्ग्रह सादि, सांत है। क्योंकि कदाचित्क-अमुककाल ही प्रवर्तित होता है।

अपूर्वकरण के संख्यातवें भाग में निद्रा और प्रचला का बंधविच्छेद होने के बाद से लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उपशमश्रेणि में नौ की सत्ता वाला और चार का बंधक चार में नौ प्रकृतियों को संक्रमित करता है। यह चार प्रकृतिक पतद्ग्रह भी अन्त-मुहूर्त पर्यन्त ही होने से सादि, अध्रुव है।

क्षपकश्रेणि में अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान का संख्यातवां भाग शेष रहे तब स्त्यानर्द्धित्रिक का सत्ता में से क्षय होता है। उसका क्षय होने के बाद से लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त दर्शनावरण की छह प्रकृतियों की सत्ता वाला और चार का बंधक चार में छह प्रकृतियों को संक्रमित करता है। यह संक्रम और पतद्-ग्रह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही प्रवर्तित होने से सादि, अध्रुव-सांत है।

इस प्रकार से दर्शनावरणकर्म के नौ प्रकृति रूप संक्रम और पतद्-ग्रह स्थानों की सादि आदि रूप चतुर्भंगता और शेष स्थानों की द्विभंगता जानना चाहिये और इस में कारण उनका परिमित काल पर्यन्त होना है।

सुगमता से जानने के लिये साद्यादि भंगों की प्ररूपणा बोधक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों को जानने की विधि

नवछक्कचउक्केसुं नवगं संकमइ उवसमगयाणं।
खवगाण चउसु छक्कं दुइए मोहं अओ वोच्छं ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—नवछक्कचउक्केसु—नौ, छह और चार प्रकृतिक में, **नवगं**—नौ प्रकृतियां, **संकमइ**—संक्रमित होती हैं, **उवसमगयाणं**—उपशमश्रेणि वालों के, **खवगाण**—क्षपकश्रेणि गत के, **चउसु**—चार में, **छक्कं**—छह प्रकृतियां, **दुइए**—दूसरे कर्म (दर्शनावरण) में, **मोहं**—मोहनीय के, **अओ**—इसके बाद **वोच्छं**—कहूंगा।

गाथार्थ—दर्शनावरणकर्म के नौ, छह और चार इन तीन पतद्ग्रह में उपशमश्रेणि वालों के नौ संक्रमित होती हैं और क्षपकश्रेणिगत जीवों के चार में छह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अब इसके बाद मोहनीय के लिये कहूँगा।

विशेषार्थ—दूसरे दर्शनावरणकर्म में नौ, छह और चार प्रकृतिक इन तीन पतद्ग्रह में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उनमें से आदि के दो गुणस्थानों पर्यन्त नौ में नौ संक्रमित होती हैं। तीसरे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध नहीं होने से शेष छह प्रकृतिक पतद्ग्रह में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

आठवें गुणस्थान के दूसरे भाग से दसवें गुणस्थान के चरम समय-पर्यन्त उपशमश्रेणि को प्राप्त जीवों के बंधने वाली दर्शनावरण की चार प्रकृतियों में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। चार में नौ का संक्रम उपशमश्रेणि में ही होता है। क्षपकश्रेणिगत जीव ही नौवें गुणस्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय होने के बाद सूक्ष्मसंपरायगुण-स्थान के चरमसमय पर्यन्त बंधने वाली चार प्रकृतियों में छह प्रकृतियां संक्रमित करता है। अन्य कोई संक्रमित नहीं करता है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से बारहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त यद्यपि दर्शनावरणकर्म की सत्ता होती है, लेकिन दर्शनावरण-कर्म का संक्रम नहीं होता है। क्योंकि बंध नहीं है और बंध नहीं होने से पतद्ग्रह भी नहीं और इसी कारण से चार प्रकृति रूप संक्रमस्थान भी नहीं तथा संक्रम या पतद्ग्रह नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के सम्बन्ध में विचार करते हैं। उसमें भी पहले संक्रमस्थानों को जानने की विधि बतलाते हैं।

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान जानने की विधि

लोभस्स असंकमणा उव्वलणा खवणओ छसत्तण्हं।
उवसंताण वि दिट्ठीण संकमा संकमा नेया ॥१६॥

शब्दार्थ—**लोभस्स**—लोभ के, **असंकमणा**—संक्रम का अभाव, **उव्वलणा**—उद्वलना, **खवणओ**—क्षपणा, **छसत्तण्हं**—छह और सात की, **उवसंताण**—उपशांत, **वि**—भी **दिट्ठीण**—दृष्टियों का **संकमा**—संक्रमण से, **संकमा**—संक्रमस्थान, **नेया**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—लोभ के संक्रम का अभाव, छह प्रकृतियों की उद्वलना, सात प्रकृतियों की क्षपणा तथा उपशांत होने पर भी दृष्टियो के संक्रमण से संक्रमस्थान जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान प्राप्त करने का विधि-सूत्र बतलाया है। अतः गाथा में जो संकेत किये हैं, उनको लक्ष्य में रखकर कहाँ-कहाँ कौन-कौन संक्रमस्थान संभव हैं, वे जान लेना चाहिये। जैसे—

नौवें गुणस्थान में अन्तरकरण करने के पश्चात् संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, अतएव उसके बाद प्रारम्भ में बाईस, बीस या बारह प्रकृतिक संक्रमस्थान होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये तथा सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और अनन्तानुबन्धिचतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना और हास्यषट्क तथा पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों का क्षय होने के बाद उनका संक्रम नहीं होता है तथा तीन दृष्टियों का उपशम होने पर भी संक्रम होता है।[1]

१. सम्यक्त्वमोहनीय का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम नहीं होता है परन्तु अपवर्तनासंक्रम होता है। मिश्र, मिथ्यात्व मोहनीय का ही अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से इन सबका विचार करके जो संक्रमस्थान जहाँ और जब घटित हो, वह वहाँ घटित कर लेना चाहिये। कौनसा संक्रमस्थान कहाँ घटित होता है, इसका विस्तार से निर्देश पूर्व में[1] किया जा चुका है।

अब जो-जो संक्रमस्थान जिस-जिस गुणस्थान में संभव हैं, उनका प्रतिपादन करते हैं।

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान

आमीसं पणुवीसो इगवीसो मीसगाउ जा पुव्वो।
मिच्छखवगे दुवीसो मिच्छे य तिसत्तछव्वीसो ॥१७॥

शब्दार्थ—**आमीसं**—मिश्रगुणस्थान पर्यन्त, **पणुवीसो**—पच्चीस प्रकृति रूप, **इगवीसो**—इक्कीस प्रकृति रूप, **मीसागाउ**—मिश्रगुणस्थान से, **जा पुव्वो**—अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त, **मिच्छखवगे**—मिथ्यात्व के क्षपक के, **दुवीसो**—बाईस प्रकृति रूप, **मिच्छे**—मिथ्यात्व गुणस्थान में, **य**—अनुक्त समुच्चायक शब्द और, **तिसत्तछव्वीसो**—तेईस, छब्बीस, सत्ताईस प्रकृति रूप।

गाथार्थ—मिश्रगुणस्थान पर्यन्त पच्चीस प्रकृतिरूप, मिश्रगुणस्थान से अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त इक्कीस प्रकृतिरूप, मिथ्यात्व के क्षपक के बाईस प्रकृतिरूप, मिथ्यात्वगुणस्थान में तेइस, छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों के स्वामियों का निर्देश किया है—

पच्चीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर मिश्रगुणस्थान पर्यन्त होता है, अन्यत्र नहीं होता है तथा मिश्रगुणस्थान से लेकर अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त इक्कीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान होता है, शेष गुणस्थानों में नहीं होता है।

---

२. गाथा ग्यारहवीं के विवेचन में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व के क्षपक अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा सर्वविरत प्रमत्त-अप्रमत्त-गुणस्थान में बाईस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान होता है, अन्यत्र नहीं होता है तथा मिथ्यात्वगुणस्थान में एवं गाथा में उक्त 'य च' शब्द से अविरत, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थानों को ग्रहण करके उन में भी तेईस, सत्ताईस और छब्बीस प्रकृतिरूप इस प्रकार तीन संक्रमस्थान होते हैं। शेष गुणस्थानों में नहीं होते हैं।

अब पतद्ग्रहस्थान अठारह ही क्यों, हीनाधिक क्यों नहीं होते ? इसको युक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं।

मोहनीयकर्म के अठारह पतद्‌ग्रहस्थान होने में युक्ति

खवगस्स सबंधच्चिय उवसमसेढीए सम्ममीसजुया।
मिच्छखवगे ससम्मा अट्ठारस इय पडिग्गहया ॥१८॥

शब्दार्थ—**खवगस्स**—क्षपक के **सबंधच्चिय**—अपने बंधस्थान ही, **उवसमसेढीए**—उपशमश्रेणि में, **सम्ममीसजुया**—सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय युक्त, **मिच्छेखवगे**—मिथ्यात्व के क्षपक के, **ससम्मा**—सम्यक्त्व युक्त, **अट्ठारस**—अठारह, **इय**—इस कारण, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रह।

गाथार्थ—क्षपक के अपने बंधस्थान ही पतद्ग्रह होते हैं, वे ही पतद्ग्रह उपशमश्रेणि में सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय युक्त होते हैं। मिथ्यात्व के क्षपक के सम्यक्त्व युक्त पतद्ग्रह होते हैं। इस कारण अठारह पतद्ग्रहस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अठारह पतद्ग्रहस्थान होने का कारण स्पष्ट किया है—

जिसने अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि सात प्रकृतियों का क्षय किया है, उसे और चारित्रमोहनीय के क्षपक के अपने जो बंधस्थान हैं अर्थात् मोहनीयकर्म की जितनी प्रकृतियों का बंध करते हैं, वे ही पतद्ग्रह होती हैं। जैसे कि क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत, देशविरत और सर्वविरत जीवों के अनुक्रम से सत्रह, तेरह और नौ प्रकृतिक इस प्रकार तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रहस्थान होते हैं। चारित्रमोहनीय के क्षपक[1] के पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति के बंध रूप पांच पतद्ग्रहस्थान होते हैं।

उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्दृष्टि के क्षपक संबन्धी जो पांच आदि प्रकृति रूप पतद्ग्रह हैं, वे ही सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय युक्त ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उनके सात, छह, पांच, चार और तीन प्रकृतिक इस तरह पांच पतद्ग्रहस्थान होते हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने के बाद जब तक मिश्रमोहनीय का क्षय न हो, तब तक पूर्व में क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत, देशविरत और सर्वविरत के सत्रह, तेरह और नौ प्रकृति रूप जो पतद्ग्रह कहे हैं, उनमें सम्यक्त्वमोहनीय को मिलाने पर अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक इस प्रकार तीन पतद्ग्रहस्थान होते हैं और जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय न हो, तब तक वही सत्रह आदि पतद्ग्रहस्थान सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के साथ उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृति रूप इस प्रकार तीन होते हैं।

बाईस और इक्कीस प्रकृति के समूह रूप दो पतद्ग्रहस्थान मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में होते हैं। उनमें से मिथ्यादृष्टि के दोनों और सासादनसम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृति रूप एक पतद्ग्रह-स्थान ही होता है।

इस प्रकार अठारह पतद्ग्रहस्थान होते हैं, हीनाधिक नहीं। एक ही संख्या यदि दो बार आये तो वहाँ संख्या एक ही लेना चाहिये और एक पतद्ग्रहस्थान दो प्रकार से होता है, यह समझना चाहिये। जैसे कि सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इस तरह दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान ग्यारहवें गुणस्थान में भी होता है। और क्षपकश्रेणि में माया और लोभ इन दो प्रकृतिरूप नौवें गुणस्थान में भी होता है।

---

१. यहाँ क्षपक कहने से चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले नौवें गुणस्थान-वर्ती जीव को ग्रहण करना चाहिये, आठवें गुणस्थान वाले को नहीं। क्योंकि वहाँ चारित्रमोहनीय की एक भी प्रकृति का क्षय नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब श्रेणि की अपेक्षा जिस पतद्ग्रहस्थान में जो संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं, उनका कथन करते हैं।

श्रेणि की अपेक्षा पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान

दसगट्ठारसगाई चउ चउरो संकमंति पंचंमि।
सत्तडचउदसिगारसबारसट्ठारा चउक्कमि ॥१९॥

शब्दार्थ—**दसगट्ठारसगाई**—दस और अठारह आदि, **चउ**—चार, **चउरो**—चार, **संकमंति**—संक्रमित होते हैं, **पंचंमि**—पांच पतद्ग्रहस्थान में, **सत्तडचउदसिगारसबारसट्ठारा**—सात, आठ, चार, दस, ग्यारह, बारह और अठारह, **चउक्कंमि**—चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में।

गाथार्थ—दस और अठारह आदि चार-चार संक्रमस्थान पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में तथा सात, आठ, चार, दस, ग्यारह, बारह और अठारह प्रकृतिक ये सात संक्रमस्थान चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में श्रेण्यापेक्षा किस पतद्ग्रहस्थान में कितने और कौन-कौन संख्या वाले संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं, यह स्पष्ट किया है—

पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में दस, ग्यारह, बारह और तेरह तथा अठारह, उन्नीस, बीस और इक्कीस प्रकृतिक यह चार-चार संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं। उनमें क्षपकश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद अनुक्रम से ग्यारह और दस प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं एवं उपशमश्रेणि में उपशमसम्यग्दृष्टि के अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा संज्वलन क्रोध उपशमित होने पर ग्यारह और दस प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और बारह प्रकृतियों का पांच में संक्रमण क्षपकश्रेणि में ही होता है तथा वह भी अन्तरकरण करने के बाद नपुंसकवेद का क्षय न हो, वहाँ तक होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा तेरह प्रकृतियों का आठ कषायों का क्षय करने के बाद अन्तरकरण न करे, वहाँ तक क्षपकश्रेणि में तथा पुरुषवेद का उपशम होने के बाद उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमण होता है। तथा—

अठारह, उन्नीस और बीस प्रकृतिरूप तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें से अन्तरकरण करने पर लोभ का संक्रमण नहीं होता है, इसलिये बीस, नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद उन्नीस और स्त्रीवेद का उपशम हुआ कि अठारह प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में अन्तरकरण करने के पूर्व और आठ कषाय के क्षय के पहले क्षपकश्रेणि में इक्कीस प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

चार के पतद्ग्रह में सात, आठ, चार, दस, ग्यारह, बारह और अठारह ये संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं। उनमें हास्यषट्क का क्षय होने पर चार प्रकृतियां चार में क्षपकश्रेणि में ही संक्रमित होती हैं तथा स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद उपशमश्रेणि में दस प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं तथा उसी उपशम सम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हुआ कि आठ और संज्वलन मान उपशमित हुआ कि सात प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं तथा ग्यारह, बारह और अठारह प्रकृतिक ये तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें स्त्रीवेद का उपशम होने के बाद अठारह, हास्यषट्क का उपशम होने के बाद बारह और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद ग्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रमित होती हैं। तथा—

तिन्नि तिगाई सत्तट्ठनवय संकमभिगारस तिगम्मि।
दोसु छडट्ठदुपंच य इगि एक्कं दोण्णि तिण्णि पण ॥२०॥

शब्दार्थ—**तिन्नि**—तीन, **तिगाई**—तीन आदि, **सत्तट्ठनवय**—सात, आठ, नौ, **संकमम**—संक्रमित होते हैं, **इगारस**—ग्यारह, **तिगम्मि**—तीन प्रकृतिक

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

पतद्ग्रहस्थान में, **दोसु**—दो में, **छडट्ठदुपंच**—छह, आठ, दो और पांच प्रकृतिक, **य**—और, **इगि**—एक में, **एक्कं**—एक, **दोण्णि तिण्णि पण**—दो तीन, पांच ।

गाथार्थ—तीन आदि तीन तथा सात, आठ, नौ और ग्यारह ये सात संक्रमस्थान तीन में संक्रमित होते हैं तथा दो में छह, आठ, दो और पांच ये चार संक्रमस्थान एवं एक में एक, दो, तीन और पांच प्रकृतिक ये चार संक्रमस्थान संक्रान्त होते हैं ।

विशेषार्थ—तीन आदि अर्थात् तीन, चार और पांच तथा सात, आठ, नौ एवं ग्यारह प्रकृतिक ये सात संक्रमस्थान तीन प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं । उनमें क्षपकश्रेणि में पुरुषवेद का क्षय होने के बाद तीन प्रकृतियां तीन में संक्रमित हाती हैं तथा उपशम सम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में संज्वलन मान के उपशांत होने के बाद सात, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया के उपशमित होने पर पांच एवं संज्वलन माया का उपशम होने पर चार प्रकृतियां तीन में संक्रांत होती हैं । आठ, नौ और ग्यारह प्रकृतिरूप तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं । उनमें पुरुषवेद का उपशम होने के बाद ग्यारह प्रकृतियां, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उपशांत होने के बाद नौ और संज्वलन क्रोध उपशमित होने पर आठ प्रकृतियां तीन प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रमित होती हैं ।

दो प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में छह, आठ, दो और पांच प्रकृतिरूप चार संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं । उनमें छह, आठ और पांच ये तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं । उनमें संज्वलन क्रोध के उपशमित होने के बाद मान पतद्ग्रह रूप नहीं रहता है, अतः आठ दो प्रकृतियों में संक्रान्त होती हैं । उनमें से अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हाने पर छह और संज्वलन मान का उपशम होने पर पांच प्रकृतियां दो में संक्रमित होती हैं तथा क्षपकश्रेणि में क्रोध का क्षय होने के बाद मान और माया ये दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियां माया और लोभ इन दो में और उपशमश्रेणि में सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दो में मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय ये दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में एक, दो, तीन और पांच प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उनमें संज्वलन मान उपशांत होने के बाद माया पतद्ग्रहरूप नहीं रहती है जिससे एक लोभ में पांच प्रकृतियां क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में संक्रमित होती हैं। उसी के अप्रत्याख्या-नावरण-प्रत्याख्यानावरण माया के उपशमित होने के बाद तीन और संज्वलन माया के उपशमित होने के बाद दो लोभ रूप दो प्रकृतियां संज्वलन लोभ में संक्रमित होती हैं तथा क्षपकश्रेणि में मान का क्षय होने के बाद एक संज्वलन माया का लोभ में संक्रम होता है।[1]

अब पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार निम्नलिखित प्रकारों से किया जायेगा—

१—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान।

२—क्षपकश्रेणि के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान।

३—क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रम-स्थान।

इनमें से पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान

---

१. सुगमता से समझने के लिये संक्रमस्थानों में पतद्ग्रहस्थानों का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

पणवीसो संसारिसु इगवीसे सत्तरे य संकमइ ।
तेरस चउदस छक्के वीसा छक्के य सत्ते य ॥२१॥

शब्दार्थ—**पणवीसो**—पच्चीस, **संसारिसु**—संसारी जीवों में, **इगवीसे**—इक्कीस में, **सत्तरे**—सत्रह में, **य**—और, **संकमइ**—संक्रमित होती हैं, **तेरस चउदस**—तेरह और चौदह, **छक्के**—छह में, **वीसा**—बीस, **छक्के**—छह में, **य**—और, **सत्ते**—सात में, **य**—और ।

गाथार्थ—संसारी जीवों के इक्कीस और सत्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । तेरह तथा चौदह छह में तथा बीस छह और सात में संक्रमित होती हैं ।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि रूप संसारी जीवों के इक्कीस और सत्रह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थानों में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । आशय इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में इक्कीस में और सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में सत्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं ।

उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्दृष्टि के अनुक्रम से हास्यषट्क और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद चौदह और तेरह प्रकृतियां छह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा पुरुषवेद पतद्ग्रह में से जब तक कम न हुआ हो तब तक सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में बीस प्रकृतियां और उसके कम होने के बाद छह प्रकृतिक पतद्ग्रह में बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । तथा—

बावीसे गुणवीसे पन्नरसेक्कारसेसु छव्वीसा ।
संकमइ सत्तवीसा मिच्छे तह अविरयाईणं ॥२२॥

शब्दार्थ—**बावीसे गुणवीसे**—बाईस, उन्नीस, **पन्नरसेक्कारसेसु**—पन्द्रह और ग्यारह में, **छव्वीसा**—छब्बीस, **संकमइ**—संक्रमित होती हैं, **सत्तवीसा**—सत्ताईस, **मिच्छे**—मिथ्यात्व में, **तह**—तथा, **अविरयाईणं**—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—बाईस, इक्कीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि तथा अविरतादि-अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान वालों के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उनमें से मिथ्यादृष्टि के बाईस में, अविरतसम्यग्दृष्टि के उन्नीस में, देशविरत के पन्द्रह में और सर्वविरत-प्रमत्त-अप्रमत्त के ग्यारह में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उसमें पहले गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृतियां बाईस में संक्रमित होती हैं और अविरत आदि के उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आवलिका के अंदर छब्बीस तथा आवलिका के बाद सत्ताईस प्रकृतियां उन्नीस आदि पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। तथा—

बावीसे गुणवीसे पन्नरसेक्कारसे य सत्ते य।
तेवीसा संकमइ मिच्छाविरयाइयाण कमा ॥२३॥

शब्दार्थ—**बावीसे**—बाईस में, **गुणवीसे**—उन्नीस में, **पन्नरसेक्कारसे**—पन्द्रह और ग्यारह में, **य**—तथा, **सत्ते**—सात में, **य**—और, **तेवीसा**—तेईस, **संकमइ**—संक्रमित होती हैं, **मिच्छाविरयाइयाण**—मिथ्यादृष्टि और अविरत आदि के, **कमा**—अनुक्रम से।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि और अविरत आदि के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह और सात के पतद्ग्रहस्थान में तेईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि और अविरति आदि–अविरत, देशविरत, संयत और अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीवों के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह और सात प्रकृतिक पतद्ग्रह में तेईस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। वे इस प्रकार—

अनन्तानुबंधि की विसंयोजना कर पहले गुणस्थान को प्राप्त हुए मिथ्यादृष्टि के एक आवलिका पर्यन्त तेईस प्रकृतियां चारित्रमोहनीय की इक्कीस और मिथ्यात्व इस प्रकार बाईस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा अनन्तानुबंधि के विसंयोजक चौबीस की सत्ता वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अविरत, देशविरत और सर्वविरत जीवों के अनुक्रम से उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृतिक पतद्ग्रह में तेईस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में अन्तरकरण प्रारंभ करने के पूर्व सात के पतद्ग्रहस्थान में तेईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तथा—

अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु बावीस खीणमिच्छाणं।
सत्तरसतेरनवसत्तगेसु इगवीसं संकमइ ॥२४॥

शब्दार्थ—**अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु**—अठारह, चौदह, दस, सात में, **बावीस**—बाईस, **खीणमिच्छाणं**—क्षीणमिथ्यादृष्टि के, **सत्तरसतेरनवसत्तगेसु**—सत्रह, तेरह, नौ, सात में, **इगवीसं**—इक्कीस प्रकृतियां, **संकमइ**—संक्रमित होती हैं।

गाथार्थ—क्षीणमिथ्यादृष्टि ऐसे अविरतादि के अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में और उपशमश्रेणि में उपशम सम्यक्त्वी के सात प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं तथा उसी क्षीणसप्तक अविरतादि के सत्रह, तेरह और नौ के पतद्ग्रह में और उपशमश्रेणि में उपशम सम्यक्त्वी के सात के पतद्ग्रह में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते हुए जिन्होंने मिथ्यात्वमोह का क्षय किया है ऐसे अविरत, देशविरत और संयत जीवों के अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में बाईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। उसमें जिसने मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि के अठारह में, देशविरत के चौदह में और सर्वविरत के दस में बाईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं तथा गाथा में गृहीत बहुवचन इष्ट अर्थ की व्याप्ति के लिये होने से औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद सात प्रकृति रूप पतद्ग्रह में बाईस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं ।

उन्हीं क्षायिक सम्यग्दृष्टि अविरत आदि के सत्रह, तेरह और नौ के पतद्ग्रह में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती है ।[1] उनमें से चौथे गुणस्थान में सत्रह के, पांचवें में तेरह के और छठे-सातवें में नौ के पतद्ग्रहस्थानों इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद इक्कीस प्रकृतियां सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं ।

पूर्व में क्षपकश्रेणि और उपशमश्रेणि के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रम-स्थानों का निर्देश किया । अब केवल क्षपकश्रेणि के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का प्रतिपादन करते हैं —

दसगाइचउक्कं एक्कवीस खवगस्स संकमहि पंचे ।
दस चत्तारि चउक्के तिसु तिन्नि दु दोसु एक्केक्कं ॥२५॥

शब्दार्थ—**दसगाइचउक्कं**—दस आदि चार, **एक्कवीस**—इक्कीस, **खवगस्स**—क्षपक के, **संकमहि**—संक्रमित होती हैं, **पंचे**—पांच में, **दस चत्तारि**—दस और चार, **चउक्के**—चार में, **तिसु**—तीन में, **तिन्नि**—तीन, **दु**—दो, **दोसु**—दो में, **एक्केक्कं**—एक में एक ।

गाथार्थ—क्षपक के दस आदि चार और इक्कीस प्रकृतियां पांच में, दस और चार चार में, तीन तीन में, दो दो में और एक एक में संक्रमित होती हैं ।

---

१. इसी प्रकार मिश्रमोहनीय का क्षय होने के बाद बाईस की सत्ता वाले अविरत आदि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के भी इन्हीं तीन पतद्ग्रहस्थानों में इक्कीस प्रकृतियों का संक्रम होता है । परन्तु वह क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करते हुए ही होता है, इसलिये उसकी संभवतः विवक्षा न की हो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि में वर्तमान अनिवृत्तिबादरसंपरायगुण-स्थानवर्ती जीव के दस, ग्यारह, बारह और तेरह तथा इक्कीस यह पांच संक्रमस्थान पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। उसमें आठ कषाय का क्षय होने के पहले इक्कीस प्रकृतियां पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क इन बंधने वाली पांच प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। आठ कषायों का क्षय होने के बाद तेरह प्रकृतियां पांच में संक्रांत होती हैं। अन्तरकरण करने के बाद लोभ का संक्रम नहीं होता है, अतः बारह प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं। नपुंसकवेद का क्षय होने के बाद ग्यारह और स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद दस प्रकृतियां पूर्वोक्त पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं।

दस और चार प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उनमें पुरुषवेद की प्रथमस्थिति समयन्यून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्ग्रह नहीं रहता है, जिससे पूर्वोक्त दस प्रकृतियां संज्वलनचतुष्क में संक्रमित होती हैं और हास्यषट्क का क्षय होने के बाद चार प्रकृतियां पूर्वोक्त चार में संक्रमित होती हैं।

पतद्ग्रह में से क्रोध कम होने के बाद शेष तीन प्रकृतिक पतद्ग्रह में तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। इसी प्रकार पतद्ग्रह में से मान के जाने के बाद माया और लोभ ये दो प्रकृतियां माया और लोभ इन दो के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और माया के भी पतद्ग्रह में से कम होने के बाद एक लोभ में माया का संक्रम होता है।

अब क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का प्रतिपादन करते हैं—

अट्ठाराइचउक्कं पंचे अट्ठार बार एक्कारा।

चउसु इगारसनवअड तिगे दुगे अट्ठछप्पंच ॥२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**अट्ठाराइचउक्कं**—अठारह आदि चार, **पंचे**—पांच में, **अट्ठार बार एक्कारा**—अठारह, बारह, ग्यारह, **चउसु**—चार में, **इगारसनवअड**—ग्यारह, नौ, आठ, **तिगे**—तीन में, **दुगे**—दो में, **अट्ठछप्पंच**—आठ, छह, पांच।

गाथार्थ—अठारह आदि चार पांच के पतद्ग्रह में, अठारह, बारह और ग्यारह चार में, ग्यारह, नौ और आठ तीन में, आठ, छह और पांच प्रकृतियां दो प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में अठारह, उन्नीस, बीस और इक्कीस प्रकृतिक ये चार संक्रमस्थान पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। उनमें अन्तरकरण करने के पहले इक्कीस प्रकृतियां पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं और अन्तरकरण करने के बाद लाभ के सिवाय बीस प्रकृतियां पांच में संक्रांत होती हैं। नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद उन्नीस प्रकृतियां और स्त्रीवेद के उपशांत होने के बाद अठारह प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

अठारह, बारह और ग्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं। पतद्ग्रह में से पुरुषवेद के जाने के बाद अठारह प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं। हास्यषट्क के उपशांत होने के पश्चात् बारह प्रकृतियां और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद ग्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं—'अट्ठार बार एक्कारा चउसु।

'इगारसनवअड तिगे' अर्थात् ग्यारह, नौ और आठ प्रकृतियां तीन प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। वे इस प्रकार—संज्वलन क्रोध पतद्ग्रह हो वहाँ तक संज्वलनचतुष्क में ग्यारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और क्रोध पतद्ग्रह में से जाने के बाद ग्यारह प्रकृतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उपशांत होने के बाद नौ प्रकृतियां और संज्वलन क्रोध के उपशमित होने पर आठ प्रकृतियां तीन में संक्रमित होती हैं।

दो प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में आठ, छह और पांच प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं—'दुगे अट्ठछप्पंच'। वे इस प्रकार—संज्वलन मान के पतद्ग्रह में से कम होने के बाद आठ प्रकृतियां दो में संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के उपशमित होने के बाद छह प्रकृतियां और संज्वलन मान के उपशांत होने पर पांच प्रकृतियां माया और लोभ इस दो प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। तथा—

पण दोन्नि तिन्नि एक्के उवसमसेढीए खइयदिट्ठिस्स।
इयरस्स उ दो दोसु सत्तसु वीसाइ चत्तारि ॥२७॥

शब्दार्थ—**पण दोन्नि तिन्नि**—पांच, दो, तीन, **एक्के**—एक में, **उवसमसेढीए**—उपशमश्रेणि में, **खइयदिट्ठिस्स**—क्षायिक सम्यग्दृष्टि के, **इयरस्स**—इतर के-उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्दृष्टि के, **उ**—और, **दो**—दो, **दोसु**—दो में, **सत्तसु**—सात में, **वीसाइ चत्तारि**—बीस आदि चार।

गाथार्थ—उपशमश्रेणि में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के एक में पांच, दो और तीन प्रकृतियां और इतर—उपशमश्रेणि में उपशमसम्यग्दृष्टि के दो में दो तथा सात में बीस आदि चार संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—माया के पतद्ग्रह में से दूर होने पर एक लोभ में पांच प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यावरण माया के उपशांत होने पर तीन प्रकृतियां एक लोभ में और संज्वलन माया के उपशांत होने पर मात्र अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दो लोभ संज्वलन लोभ पतद्ग्रह रूप हो वहाँ तक एक में संक्रमित होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार अठारह आदि संक्रमस्थान पांच आदि पतद्ग्रहस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में समझना चाहिये।

इतर—उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय ये दो प्रकृतियां दो प्रकृतियों—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय में संक्रमित होती हैं तथा सात प्रकृतिक पतद्ग्रह में बीस, इक्कीस, बाईस और तेईस ये चार संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं। उनमें अन्तरकरण करने के पहले अनन्तानुबंधिचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय तेईस प्रकृतियां सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। अन्तरकरण करने के बाद लोभ के सिवाय बाईस, नपुंसकवेद के उपशांत होने पर इक्कीस और स्त्रीवेद के उपशमित होने पर बीस प्रकृतियां सात प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। तथा—

छसु वीस चोद्द तेरस तेरेक्कारस य दस य पंचंमि।

दसडसत्त चउक्के तिगंमि सग पंच चउरो य ॥२८॥

शब्दार्थ—**छसु**—छह में, **बीस चोद्द तेरस**—बीस, चौदह, तेरह, **तेरेक्कारस**—तेरह, ग्यारह, **य**—और, **दस**—दस, **य**—और, **पंचंमि**—पांच में, **दसड**—दस, आठ, **सत्त**—सात, **चउक्के**—चार में, **तिगंमि**—तीन में, **सग पंच चउरो**—सात, पांच, चार, **य**—और।

गाथार्थ—छह में बीस, चौदह और तेरह प्रकृतियां तथा पांच में तेरह, ग्यारह, दस प्रकृतियां, चार में दस, आठ और सात प्रकृतियां तथा तीन में सात, पांच और चार प्रकृतियां संक्रांत होती हैं।

विशेषार्थ—पतद्ग्रह में से पुरुषवेद के कम होने पर छह प्रकृतियों में पूर्वोक्त बीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं तथा हास्यषट्क के उपशमित होने पर चौदह प्रकृतियां छह के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और पुरुषवेद के उपशांत होने पर तेरह प्रकृति संक्रांत होती हैं।

क्रोध के पतद्ग्रह में से कम होने पर पांच में तेरह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान के उपशांत होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर ग्यारह और संज्वलन क्रोध के उपशमित होने पर दस प्रकृतियां पांच प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

पतद्ग्रह में से मान के कम होने पर चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में दस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान के उपशांत हो जाने पर आठ और संज्वलन मान के उपशमित होने पर सात प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

संज्वलन माया पतद्ग्रह में से कम होने पर तीन में सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया के उपशांत हो जाने पर पांच और संज्वलन माया के उपशमित होने पर चार प्रकृतियां तीन प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

जब तक संज्वलन लोभ पतद्ग्रह हो तब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ उसमें संक्रान्त होता है और संज्वलन लोभ के पतद्ग्रह न रहने पर मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय ये दो प्रकृतियां सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इन दो में संक्रमित होती हैं।

इस प्रकार से श्रेण्यापेक्षा पतद्ग्रह स्थानों में संक्रमस्थानों का कथन जानना चाहिये। अब मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थान के पतद्ग्रहस्थान सुगम होने से उनको नहीं कहकर शेष गुणस्थानों के पतद्ग्रहस्थानों का कथन करते हैं।

अविरत आदि गुणस्थानों के पतद्ग्रहस्थान

गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ ति ति सम्मदेसविरयाणं।
सत्त पणाइ छ पंच उ पडिग्गहगा उभयसेढीसु ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—**गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ**—उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह आदि, **ति ति** तीन-तीन, **सम्मदेसविरयाणं**—अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, सर्वविरत, **सत्त पणाइ**—सात आदि और पांच आदि, **छ पंच**—छह, पांच, **उ**—और **पडिग्गहगा**—पतद्ग्रह, **उभयसेढीसु**—दोनों श्रेणियों में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह आदि तीन-तीन पतद्ग्रह अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थानों में तथा अनुक्रम से सात आदि छह एवं पांच आदि पांच पतद्ग्रह-स्थान दोनों श्रेणियों में होते हैं।

विशेषार्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि के उन्नीस, अठारह और सत्रह ये तीन पतद्ग्रहस्थान, देशविरत के पन्द्रह, चौदह और तेरह ये तीन पतद्ग्रहस्थान और सर्वविरत—प्रमत्त अप्रमत्त संयत के ग्यारह, दस और नौ प्रकृतिक ये तीन पतद्ग्रहस्थान होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अविरतसम्यग्दृष्टि के बंधती सत्रह प्रकृतियां तथा सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय ये उन्नीस प्रकृतियां पतद्ग्रह रूप होती हैं। उसी के क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद अठारह तथा मिश्रमोहनीय का क्षय होने के बाद सत्रह प्रकृतियां पतद्ग्रह में होती हैं।

देशविरत के अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बंध नहीं होने से उपर्युक्त उन्नीस प्रकृतियों में से उनको कम करने पर शेष पन्द्रह प्रकृतियां प्रारम्भ में पतद्ग्रह रूप होती हैं। उनमें से पूर्वोक्त क्रम से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय होने पर चौदह और तेरह प्रकृतियां पतद्ग्रह में होती हैं।

सर्वविरत के प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बंध नहीं होता है। इसलिये उनके सिवाय शेष ग्यारह प्रकृतियां प्रारम्भ में पतद्ग्रह में होती हैं। उनमें से क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते हुए अनुक्रम से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय होने के बाद दस और नौ प्रकृतियां अनुक्रम से पतद्ग्रह में होती हैं।

सात, छह, पांच, चार, तीन और दो प्रकृति रूप ये छह पतद्ग्रह-स्थान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं तथा पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान क्षायिक सम्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्दृष्टि के उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि में होते हैं। यद्यपि गाथा में सात आदि छह और पांच आदि पांच पतद्ग्रह उभय श्रेणि में होते हैं, ऐसा सामान्य से कहा है। लेकिन श्रेणिगत पूर्व में कहे गये संक्रम पतद्ग्रह स्थानों को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सात आदि छह पतद्ग्रहस्थान उपशमसम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में होते हैं। इसीलिये यहाँ उक्त प्रकार से स्पष्ट किया है। किन्तु मात्र सात आदि छह उपशमश्रेणि में और पांच आदि पांच क्षपकश्रेणि में होते हैं, ऐसा क्रम नहीं समझना चाहिये।

इस प्रकार से मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों के विषय में विस्तार से निरूपण जानना चाहिये।[1] अब शेष रहे नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का विचार करते हैं।

नामकर्म के संक्रमस्थान और पतद्ग्रहस्थान

सत्तागत प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अतएव संक्रमस्थानों को जानने के लिये पहले नामकर्म के सत्तास्थानों को बतलाते हैं।

नामकर्म के बारह सत्तास्थान हैं। वे इस प्रकार—१०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९ और ८ प्रकृतिक तथा संक्रमस्थान भी बारह है—१०३, १०२, १०१, ९६, ९५, ९४, ९३, ८९, ८८, ८४, ८२, ८१ प्रकृतिक। ये संक्रमस्थान सत्तास्थानों की उपेक्षा कुछ भिन्न संख्या वाले हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण इस प्रकार हैं—

एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, इन चार सत्तास्थानों की 'प्रथम' यह संज्ञा है। जहाँ प्रथमसत्तास्थानचतुष्क कहा जाये, वहाँ यह चार सत्तास्थान ग्रहण करना चाहिये। इनमें नामकर्म

१. सुगमता से समझने के लिये मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों के प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सभी प्रकृतियों का जो समूह वह एक सौ तीन प्रकृतिक, तीर्थंकरनाम की सत्तारहित एक सौ दो प्रकृतिक तथा पूर्वोक्त एक सौ तीन की सत्ता जब आहारकसप्तक रहित हो तब छियानवै प्रकृतिक और पूर्वोक्त एक सौ दो की सत्ता आहारकसप्तक रहित हो तब पंचानवै प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

उपर्युक्त प्रथमसत्ताचतुष्क में से क्षपकश्रेणि के नौवें गुणस्थान में तेरह प्रकृतियों का क्षय हो तब अनुक्रम से नव्वै ,नवासी, तेरासी और बयासी प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। इनकी 'द्वितीयसत्ता-चतुष्क' यह संज्ञा है।

पंचानवै में से देवद्विक की उद्वलना होने पर तेरानवै, उनमें से वैक्रियसप्तक और नरकद्विक की उद्वलना हो तब चौरासी और मनुष्यद्विक की उद्वलना हो तब बयासी प्रकृतिक ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इन तीन की 'अध्रुव' यह संज्ञा है। यद्यपि बयासी प्रकृतिक सत्तास्थान द्वितीयसत्ताचतुष्क में आता है तथा चौरासी की सत्ता वाला मनुष्यद्विक की उद्वलना करे तब भी होता है, परन्तु संख्या तुल्य होने से उसे एक ही गिना है। एक सत्तास्थान दो प्रकार से होता है, किन्तु सत्तास्थान की संख्या का भेद नहीं होता है। इस प्रकार दस सत्तास्थान हुए।

इनमें से द्वितीयसत्ताचतुष्क में के नव्वै और तेरासी प्रकृति रूप दो सत्तास्थान संक्रम में घटित नहीं होते हैं। जिसका कारण संक्रम-स्थान का विचार करने के प्रसंग में स्पष्ट किया जायेगा। शेष सत्ता-स्थान संक्रम में होते हैं। इसलिये अभी कहे गये दस सत्तास्थानों में से आठ संक्रमस्थान संभव हैं।

नौ और आठ प्रकृति के समूह रूप दो सत्तास्थान और भी हैं। परन्तु वे अयोगि-अवस्था के चरम समय में होने से संक्रम के विषय-भूत नहीं होते हैं। क्योंकि जब पतद्ग्रह हो तब संक्रम होता है और बध्यमान प्रकृति पतद्ग्रह होती है। लेकिन चौदहवें गुणस्थान में कोई भी प्रकृति बंधती नहीं है। जिससे पतद्ग्रह न होने से किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार नामकर्म के बारह सत्तास्थानों में से आठ संक्रमस्थान होते हैं और दूसरे चार संक्रमस्थान सत्तास्थान से बाहर के हैं। वे इस प्रकार—एक सौ एक, चौरानवै, अठासी और इक्यासी प्रकृतिक। इस प्रकार होने से सत्तास्थान जैसे बारह हैं वैसे ही संक्रमस्थान भी बारह होते हैं। किन्तु दोनों में कुछ भिन्नता है। वे इस प्रकार १०३, १०२, १०१, ९६, ९५, ९४,९३, ८९, ८८, ८४, ८२, ८१ प्रकृतिक।

नामकर्म के इन सत्तास्थानों और संक्रमस्थानों को स्पष्टता से समझने का प्रारूप इस प्रकार है—

नामकर्म के सत्तास्थान और संक्रमस्थान

नामकर्म के सत्तास्थान—१०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, प्रकृतिक।

नामकर्म के संक्रमस्थान—१०३, १०२, १०१, ९६, ९५, ९४, ९३, ८९, ८८, ८४, ८२, ८१ प्रकृतिक।

पतद्ग्रहस्थानों को बतलाने के लिये पहले नामकर्म के बंधस्थानों का निर्देश करते हैं कि तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक। इन आठों बंधस्थानों के बराबर अर्थात् बंधस्थानों के समान ही और उतनी-उतनी प्रकृतियों के समुदाय रूप नामकर्म के पतद्ग्रहस्थान जानना चाहिये। वे इस प्रकार—२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक।

इस प्रकार से नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का निर्देश करने के बाद अब कौन प्रकृतियां किस में संक्रमित होती हैं? इसका निरूपण करते हैं।

नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमण

पढमचउक्कं तित्थगरवज्जितं अधुवसंततियजुत्तं।
तिगपणछव्वीसेसुं संकमइ पडिग्गहेसु तिसु॥ ३०॥

शब्दार्थ—**पढमचउक्कं**--प्रथमचतुष्क, **तित्थगरवज्जितं**—तीर्थंकरनामकर्म वाले को छोड़कर, **अधुवसंततियजुत्तं**—अध्रुवसत्तात्रिकयुक्त, **तिगपणछव्वीसेसु**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—तेईस, पच्चीस और छब्बीस में, **संकमइ**—संक्रमित होते हैं, **पडिग्गहेसु**—पतद्ग्रह में, **तिसु**—तीन में।

गाथार्थ—तीर्थंकरनामकर्म वाले सत्तास्थानों को छोड़कर शेष प्रथमसत्ताचतुष्क और अध्रुवसत्तात्रिक इस प्रकार पांच संक्रमस्थान तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृति रूप तीन पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं।

विशेषार्थ—प्रथमसत्तास्थानचतुष्क (१०३, १०२, ९६ और ९५) में से तीर्थंकरनामकर्म की जिनमें सत्ता है ऐसे १०३ और ९६ प्रकृतिक इन दो सत्तास्थानों को छोड़कर और उनमें अध्रुवसत्ता वाले ९३, ८४ और ८२ प्रकृतिक इन तीन सत्तास्थानों को मिलाने पर कुल १०२, ९५, ९३, ८४ और ८२ प्रकृतिक ये पांच स्थान बंधने वाले तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक तीन पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि तेईस आदि तीन पतद्ग्रहस्थानों में एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक ये पांच-पांच संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तैजस, कार्मण, औदारिकशरीर, हुंडकसंस्थान, एकेन्द्रियजाति, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, बादर-सूक्ष्म इन दोनों में से एक, स्थावर, अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण में से एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति रूप अपर्याप्त एकेन्द्रिययोग्य तेईस प्रकृतियों का बंध होने पर और एक सौ दो आदि उपर्युक्त पांच प्रकृतिस्थानों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच अनुक्रम से उन तेईस प्रकृतियों में १०२, ९५, ९३, ८४ और ८२ प्रकृति रूप पांच संक्रमस्थानों को संक्रमित करते हैं।

यहाँ मनुष्य को ग्रहण नहीं करने का कारण यह है कि उसे सभी सत्तास्थान नहीं होते हैं। मनुष्यद्विक रहित बयासी प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है, उसके सिवाय शेष चार सत्तास्थान होते हैं। वे चार सत्तास्थान तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक इन तीन पतद्ग्रह-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

स्थानों में संक्रमित हो सकते हैं। मनुष्य भी तेईस आदि तीन बंधस्थानों को बांध सकते हैं। जिससे वे जब बंधें तब उपर्युक्त एक सौ दो आदि प्रकृतिस्थानों में के जो सत्ता में हों, वे संक्रमित हो सकते हैं।

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, हुंडकसंस्थान, औदारिकशरीर, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर, बादर-सूक्ष्म में से एक, पर्याप्तनाम, प्रत्येक-साधारण में से एक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, पराघात और उच्छ्वास रूप एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो प्रकृतिक आदि पांच में से कोई एक प्रकृतिस्थान की सत्ता वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्दिय आदि जीव उस पच्चीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और ब्यासी प्रकृतिक ये पांच संक्रमस्थान संक्रमित करते हैं।[1] अथवा—

तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, द्वीन्द्रियादि कोई एक जाति, हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, त्रस, बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति रूप अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य योग्य[2] पच्चीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो आदि उपर्युक्त पांच प्रकृतिस्थानों की सत्ता वाले एकेन्दिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य पच्चीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो आदि प्रकृतिक पांच संक्रमस्थान संक्रमित करते हैं।

---

१. यहाँ इतना विशेष है कि देवों के एक सौ दो और पंचानवै तथा मनुष्यों के बयासी प्रकृतिक सिवाय शेष संक्रमस्थान होते हैं।

२. परन्तु मनुष्य योग्य पच्चीस प्रकृतियां बांधने पर बयासी के बिना शेष चार संक्रमस्थान होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, हुंडकसंस्थान, औदारिकशरीर, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर, पर्याप्त, बादर, प्रत्येक स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, पराघात, उच्छ्वास और आतप-उद्योत में से एक, इस तरह एकेन्द्रिय-प्रायोग्य छब्बीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो और पंचानवै की सत्ता वाले नारकी का छोड़कर एकेन्द्रियादि सभी जीव उस छब्बीस प्रकृतिक स्थान में एक सौ दो और पंचानवै संक्रमित करते हैं तथा छब्बीस प्रकृतियों को बांधने पर तेरानवै और चौरासी की सत्ता वाले देव और नारक बिना शेष एकेन्द्रियादि जीव छब्बीस में तेरानवै और चौरासी प्रकृतियां संक्रमित करते हैं। तथा—

बयासी की सत्ता वाले और छब्बीस प्रकृतियों को बांधने पर देव, नारक और मनुष्य वर्जित वे एकेन्द्रियादि जीव छब्बीस में बयासी प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

इस प्रकार से तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रह-स्थानों में संक्रमित हाने वाले संक्रमस्थानों का जानना चाहिये। अब शेष पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं—

पढमं संतचउक्कं इगतीसे अधुवतियजुयं तं तु।
गुणतीसतीसएसु जसहीणा दो चउक्क जसे ॥३१॥

शब्दार्थ—**पढमं संतचउक्कं**—प्रथम सत्ताचतुष्क, **इगतीसे**—इकतीस में, **अधुवतियजुयं**—अध्रुवसत्तात्रिक के साथ, **तं**—वह (प्रथम सत्ताचतुष्क), **तु**—और, **गुणतीसतीसएसु**—उनतीस तीस में, **जसहीणा**—यशःकीर्ति हीन, **दो चउक्क**—दो चतुष्क, **जसे**—यशःकीर्ति में।

गाथार्थ—प्रथमसत्ताचतुष्क इकतीस में संक्रमित होता है। अध्रुवसत्तात्रिक के साथ वह (प्रथमसत्ताचतुष्क) उनतीस और तीस में तथा यशःकीर्ति हीन दो चतुष्क यशःकीर्ति में संक्रान्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपाग, समचतुरस्रसंस्थान, देवानुपूर्वी, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तीर्थंकर और आहारकद्विक रूप इकतीस प्रकृतियों का बंध करता हुआ अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयत जीव उन इकतीस में प्रथमसत्ताचतुष्क (१०३, १०२, ९६, ९५ प्रकृतिक) रूप चार संक्रमस्थानों को संक्रमित करता है। उनमें तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद एक सौ तीन संक्रमित करता है। जिसे तीर्थंकरनाम की बंधावलिका न बीती हो परन्तु आहारकसप्तक की बीत गई हो वह एक सौ दो इकतीस में संक्रमित करता है।[1] तीर्थंकरनाम की बंधावलिका बीत गई हो परन्तु आहारकसप्तक की न बीती हो, वह छियानवै संक्रमित करता है और तीर्थंकरनाम तथा आहारकसप्तक इन दोनों की बंधावलिका जिसके न बीती हो, वह पंचानवै प्रकृतियां बंधने वाली इकतीस प्रकृतियों में संक्रमित करता है।

अध्रुवसत्तात्रिक के साथ प्रथमसत्ताचतुष्क उनतीस और तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमित करता है। अर्थात् उनतीस और तीस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थानों में एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृति रूप सात-सात संक्रम-स्थान संक्रमित करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--

तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराच-

---

१. तीर्थंकरनाम का निकाचित बंध होने के बाद प्रतिसमय चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त तीर्थंकरनाम अवश्य बंधता रहता है। इसी प्रकार आहारकद्विक के बंधने के बाद सातवें से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक भी आहारकद्विक प्रतिसमय बंधता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संहनन, मनुष्यद्विक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति और तीर्थंकरनाम रूप मनुष्यगतियोग्य तीस कर्मप्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ तीन की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि देव के बंधती हुई इन तीस प्रकृतियों में एक सौ तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रिय-अंगोपांग, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और आहारकद्विक रूप देवगतियोग्य तीस प्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाला अप्रमत्तसंयत अथवा अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव उन बंधने वाली तीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करता है। अथवा—

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, तिर्यंचद्विक, द्वीन्द्रियादिजाति में से कोई एक जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, औदारिकद्विक, कोई भी एक संस्थान, कोई भी एक संहनन,[1] अप्रशस्तविहायोगति, पराघात, उच्छ्वास और उद्योत रूप द्वीन्दियादि तिर्यंचों के योग्य तीस प्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि

---

१. यदि यहाँ द्वीन्द्रियादिक में बताये गये आदि शब्द से संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच सिवाय को तिर्यंच जीवप्रायोग्य तीस प्रकृतियां बताई हों तो संहनन और संस्थान छह में से चाहे जो न लेकर सेवार्तसंहनन और हुंडकसंस्थान लेना चाहिये और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचप्रायोग्य प्रकृतियां भी बताई हों तो छह संहनन, छह संस्थान की तरह वहाँ घटित प्रतिपक्षी सभी प्रकृतियों का भी ग्रहण होना चाहिये। यह विचारणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

पूर्व में कही तीर्थंकरनाम सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस कर्मप्रकृतियों का बंध करते हुए छियानवै की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि देव-नारकों के बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

आहारकद्विक सहित देवगतियोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ दो की सत्ता वाले आहारकसप्तक की बंधावलिका जिनकी बीती नहीं है, ऐसे अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में पंचानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं। अथवा पंचानवै की सत्ता वाले उद्योतनाम के साथ तिर्यंचगतियोग्य तीस प्रकृतियों को बांधते हुए एकेन्द्रियादि जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में पंचानवै प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं।

तेरानवै, चौरासी अथवा बयासी प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों के पूर्व में कही गई तिर्यंचगतियोग्य उद्योतनाम सहित तीस प्रकृतियों को बांधने पर बंधती हुई तीस प्रकृतियों में अनुक्रम से तेरानवै, चौरासी और बयासी कर्मप्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तीर्थंकरनाम के साथ देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, समचतुरस्रसंस्थान, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण रूप उनतीस (२९) कर्मप्रकृतियों को बांधने पर एक सौ तीन की सत्ता वाले अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर उन्हीं अविरत आदि तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के तीर्थंकरनाम की बंधावलिका बीतने के पूर्व एक सौ दो प्रकृतियां उन्हीं उनतीस प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। अथवा पूर्व में कही गई द्वीन्द्रियादियोग्य उद्योत रहित उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि जीव उनतीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

तीर्थंकरनाम सहित देवगतियोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर छियानवै प्रकृतियों के सत्ता वाले अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीव उनतीस के पतद्ग्रहस्थान में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

अपर्याप्तावस्था में वर्तमान तीर्थंकरनाम की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि नारक मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, छह संहननों में से एक, छह संस्थानों में से एक, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, तैजस, कार्मण, निर्माण, औदारिकद्विक, सुस्वर-दुःस्वर में से एक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्तविहायोगति में से एक, इस तरह मनुष्यगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर उनतीस में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

तीर्थंकरनामसहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर छियानवै प्रकृतियों के सत्ता वाले अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत जीव तीर्थंकरनाम की बंधावलिका बीतने के पहले उनतीस प्रकृतियों में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं तथा तिर्यंचगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि जीवों के बंधती हुई उनतीस प्रकृतियों में पंचानवै प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक इन तीन संक्रमस्थानों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये पूर्व में तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में जैसा कहा गया है, वैसा ही उनतीस के पतद्ग्रहस्थान में भी समझ लेना चाहिये।

आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद यशःकीर्ति रूप बंधती हुई एक प्रकृति के पतद्ग्रह में ये आठ संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं—एक सौ दो, एक सौ एक, पंचानवै, चौरानवै, नवासी, अठासी, बयासी और इक्यासी प्रकृतिक, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता वाले के बध्यमान यशःकीर्ति पतद्ग्रह होने से उसके बिना शेष एक सौ दो प्रकृतियां एक यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। इसी प्रकार एक सौ दो की सत्ता वाले के एक सौ एक, छियानवै की सत्ता वाले के पंचानवै और पंचानवै की सत्ता वाले के चौरानवै प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद मात्र एक यशःकीर्तिनाम का ही बंध होता है, नामकर्म की अन्य किसी प्रकृति का बंध नहीं होता है और बध्यमान प्रकृति ही पतद्ग्रह होती है, इसलिये उसके सिवाय एक सौ दो आदि कर्मप्रकृतियां एक यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। तथा—

एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता वाले के क्षपकश्रेणि में नौवें गुणस्थान में नामकर्म की नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति के सिवाय शेष जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद उनके सिवाय और यशःकीर्ति पतद्ग्रह होने से उसके अलावा नवासी कर्मप्रकृतियां यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। इसी तरह एक सौ दो की सत्ता वाले के तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद अठासी, छियानवै की सत्ता वाले के बयासी और पंचानवै की सत्ता वाले के नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद इक्यासी प्रकृतियां यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं।

आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद से अन्य कोई पतद्ग्रह नहीं होने से यशःकीर्ति का संक्रम नहीं होता है, इसलिये संक्रमित होने वाली प्रकृतियों में से उसे कम किया जाता है। तथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढमचउवकं आइल्लवज्जियं दो अणिच्च आइल्ला।
संकमंहि अट्ठवीसे सामी जहसंभवं नेया ॥३२॥

शब्दार्थ—**पढमचउक्कं**—प्रथमचतुष्क, **आइल्लवज्जियं**—आदि वर्जित, **दो**—दो, **अणिच्च आइल्ला**—अनित्यसंज्ञा वाले आदि के, **संकमंहि**—संक्रमित होते हैं, **अट्ठवीसे**—अट्ठाईस में, **सामी**—स्वामी, **जहसंभवं**—यथासंभव, **नेया**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—आदि वर्जित प्रथमसत्ताचतुष्क में के तीन सत्तास्थान और अनित्यसंज्ञा वाले आदि के दो सत्तास्थान अट्ठाईस में संक्रमित होते हैं। स्वामी यथासंभव जानना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रथमसत्ताचतुष्क में से आदि का—एक सौ तीन प्रकृति का समूह रूप—सत्तास्थान छोड़कर शेष तीन सत्तास्थान और अनित्य संज्ञा वाले आदि के तेरानवै और चौरासी प्रकृतिक ये दो, कुल पांच सत्तास्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अट्ठाईस के पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै और चौरासी प्रकृतिक ये पांच संक्रम-स्थान संक्रमित होते हैं। जिनका अनुक्रम से वर्णन करते हैं—

नरकद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, हुंडकसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, तैजस, कार्मण और निर्माण, इन नरकप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ दो की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य के अट्ठाईस में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा—

तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, देवद्विक, वैक्रियद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयश:कीर्ति में से एक, इस प्रकार देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ दो की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच के यथायोग्य रूप से अट्ठाईस में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तथा—

जिसने पहले नरकायु का बंध किया है और नरक में जाने के सन्मुख हुआ है, ऐसे तीर्थंकरनाम के साथ छियानवै की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य के नरकयोग्य अट्ठाईस प्रकृति बांधते छियानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं।

पंचानवै के संक्रम का विचार एक सौ दो प्रकृतियों के संक्रम के अनुरूप जानना चाहिये। मात्र एक सौ दो के स्थान पर पंचानवै प्रकृतियां कहना चाहिये तथा देवगतियोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर तेरानवै की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के वैक्रियसप्तक और देवद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा पंचानवै की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के देवगतियोग्य अट्ठाईस प्रकृतियां बांधने पर देवद्विक की बंधावलिका बीतने के पूर्व तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा तेरानवै की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के नरकगतियोग्य अट्ठाईस कर्मप्रकृतियों को बांधते वैक्रियसप्तक और नरकद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा पंचानवै की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के नरकगतियोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृति का बंध होने पर नरकद्विक की बंधावलिका बीतने के पूर्व अट्ठाईस में तेरानवै प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं।

तेरानवै की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि देवगतियोग्य अट्ठाईस प्रकृतियां बांधने पर देवद्विक और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका बीतने के पूर्व चौरासी प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित करता है, अथवा तेरानवै की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि नरकयोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते नरकद्विक और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका बीतने के पूर्व अट्ठाईस में चौरासी प्रकृतियों को संक्रमित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रमस्थान के स्वामित्व का विचार यानि किस संक्रमस्थान का स्वामी कौन है, उसका विचार संभव प्रमाणानुसार समझ लेना चाहिये। अर्थात् जहाँ जो संभव हो, वह जानना चाहिये और वह प्रायः प्रत्येक संक्रमस्थान के प्रसंग में बताया गया है।

इस प्रकार से नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का किस पतद्ग्रहस्थान में कौन-कौन संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं आदि का विचार समाप्त हुआ।[1]

अब प्रकृतिसंक्रम में प्रकृतियों के संक्रम के रूपक का वर्णन करते हैं।

प्रकृतिसंक्रम में प्रकृतिसंक्रम का रूपक

संकमइ नन्न पगइं पगईओ पगइसंकमे दलियं।

ठिइअणुभागा चेवं ठंति तहट्ठा तयणुरूवं ॥३३॥

शब्दार्थ—**संकमइ**—संक्रमित करता है, **नन्न पगइं**—अन्य प्रकृति रूप नहीं, **पगईओ**—प्रकृति में से, **पगइसंकमे**—प्रकृतिसंक्रम में, **दलियं**—दलिक को, **ठिइअणुभागा**—स्थिति और अनुभाग, **चेवं**—इसी प्रकार, **ठंति**—स्थित रहते हैं, **तहट्ठा**—उसी रूप को, **तयणुरूवं**—तदनुरूप (पतद्ग्रह प्रकृतिरूप)

गाथार्थ—प्रकृतिसंक्रम में (संक्रम्यमाण प्रकृति में से) दलिक खींचकर अन्य प्रकृति रूप संक्रमित नहीं करता है, स्थिति और अनुभाग में भी इसी प्रकार (का प्रश्न है)। तो इसका उत्तर है कि संक्रम्यमाण प्रकृति के दलिक पतद्ग्रहप्रकृति के रूप को प्राप्त कर पतद्ग्रहप्रकृति रूप हो जाते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में प्रकृतियों के संक्रम के रूपक को प्रश्नोत्तर शैली से स्पष्ट किया है।

---

१. सुगम बोध के लिये नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में सक्रमस्थानों आदि का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासु का प्रश्न है कि प्रकृतिसंक्रम के विषय में जीव संक्रमती प्रकृतियों में से उनके परमाणु रूप दलिकों को खींचकर पतद्ग्रहप्रकृति रूप संक्रमित नहीं करता है। अर्थात् संक्रमित होने वाली प्रकृति में रहे हुए दलिकों को खींचकर पतद्ग्रहप्रकृति रूप नहीं करता है। अतएव यदि ऐसा हो तो परमाणु रूप दलिकों का संक्रम प्रकृतिसंक्रम नहीं कहा जायेगा। क्योंकि परमाणुओं का संक्रम तो प्रदेशसंक्रम कहलाता है, किन्तु प्रकृतिसंक्रम नहीं।

अब कदाचित् यह कहा जाये कि प्रकृति यानी स्वभाव, उसका जो संक्रम, वह प्रकृतिसंक्रम तो वह भी अयोग्य है। क्योंकि कर्मपरमाणुओं में वर्तमान ज्ञानावरणत्वादि स्वभाव को अन्य में संक्रमित करना अशक्य है। क्योंकि पुद्गलों में से केवल स्वभाव को खींचा नहीं जा सकता है। इस प्रकार से विचार करने पर प्रकृतिसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। इसलिये उसका प्रतिपादन करना बंध्यापुत्र के सौभाग्य आदि के वर्णन करने जैसा है।

स्थिति, अनुभाग संक्रम के विषय में भी जिनका कथन आगे किया जाने वाला है, वह भी अयुक्त है। विचार करने पर वे दोनों घटित नहीं हो सकते हैं। क्योंकि नियतकाल पर्यन्त अमुक स्वरूप में रहने को स्थिति कहते हैं और काल के अमूर्त होने से अन्य में संक्रान्त करना, अन्य स्वरूप करना अशक्य है। अनुभाग रस को कहते हैं और रस तो परमाणुओं का गुण है। गुण गुणी के सिवाय अन्य में संक्रान्त किये नहीं जा सकते हैं और गुणी-गुण वाले परमाणुओं का जो संक्रम होता है, वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। इस प्रकार विचार करने पर स्थिति-संक्रम और अनुभागसंक्रम भी घटित नहीं हो सकता है।

जिज्ञासु के इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य उत्तर देते हैं—

संक्रमित होती प्रकृतियों के परमाणु जब पतद्ग्रहप्रकृति रूप होते हैं तब तद्गत स्वभाव, स्थिति और रस भी पतद्ग्रहप्रकृति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव, स्थिति और रस का अनुसरण करने वाले होते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि जिस कर्मप्रकृति के जितने स्थानक और जितने रस वाले जितने कर्मपरमाणु जिस स्वरूप होते हैं, उतने स्थानक के उतने रस वाले परमाणु उतने काल पर्यन्त उस स्वरूप कार्य करते हैं। यानि जिस समय जिस कर्मप्रकृति के परमाणु पतद्ग्रह रूप होते हैं, उसी समय तद्गत स्वभाव, स्थिति और रस भी उसी रूप ही होता है। जिससे परमाणु में से स्वभाव, स्थिति या रस को खींचकर अन्य में कैसे संक्रान्त किया जा सकता है ? इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं रहता है।

अब इसी आशय को विस्तार से स्पष्ट करते हैं—

प्रकृति यानि ज्ञानादि गुण को आवृत आदि करने रूप स्वभाव, स्थिति यानि नियतकाल पर्यन्त अवस्थान और वह भी कर्मपरमाणुओं का जीव के साथ अमुक काल पर्यन्त रहने रूप अवधि-मर्यादा विशेष ही है, अनुभाग यानि अध्यवसाय के अनुसार उत्पन्न हुआ आवारक शक्ति रूप रस और इन तीनों के आधारभूत जो परमाणु वे प्रदेश हैं। इस प्रकार होने से परमाणुओं को जब परप्रकृति में संक्रमित करता है और संक्रमित करके जब परप्रकृति रूप करता है, तब प्रकृतिसंक्रम आदि सभी घटित हो सकता है। वह इस प्रकार—

संक्रम्यमाण परमाणुओं के स्वभाव को पतद्ग्रहप्रकृति के स्वभाव के अनुरूप करना प्रकृतिसंक्रम है। संक्रमित होते परमाणुओं की अमुक स्थिति काल पर्यन्त रहने रूप मर्यादा को पतद्ग्रहप्रकृति का अनुसरण करने वाली करना स्थितिसंक्रम है, संक्रमित होते परमाणुओं के रस को—आवारक शक्ति को पतद्ग्रहप्रकृति के रस का अनुसरण करने वाला बना देना अनुभागसंक्रम है और परमाणुओं का ही जो प्रक्षेपण-संक्रम वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। अतएव जिस समय प्रदेशों का संक्रम होता है उसी समय तदन्तवर्ती स्वभाव आदि भी परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् पतद्ग्रह का अनुसरण करने वाले हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार होने से पूर्व में जो प्रश्न किया था कि प्रकृति यानि स्वभाव, उसका जो संक्रम प्रकृतिसंक्रम यह माना जाये तो वह अयुक्त है। इसका कारण यह है कि स्वभाव को परमाणुओं में से खींचकर अन्यत्र संक्रमित नहीं किया जा सकता है आदि यह सब अयोग्य है। क्योंकि विवक्षित परमाणुओं में से स्वभाव, स्थिति और रस खींचकर अन्य परमाणुओं में प्रक्षिप्त किया जाये, वह प्रकृतिसंक्रम आदि कहलाता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं, परन्तु विवक्षित परमाणुओं में विद्यमान स्वभाव आदि को परिवर्तित करके पतद्ग्रहप्रकृति के स्वभाव आदि का अनुसरण करने वाला बना देने को प्रकृतिसंक्रम आदि कहते हैं। जिससे यहाँ कोई दोष नहीं है और इस प्रकार होने से ही एक दूसरे, बिना एक दूसरे के रह नहीं सकते, एक के होने पर सब होते हैं। ऐसा जब हो तब सब कुछ घटित हो जाता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये स्वयं ग्रन्थकार आचार्य ने अपनी मूल टीका में कहा है कि—

अमी प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशेषु संक्रमा बन्धा वा उदया वा समकं–समकालं प्रवर्तन्ते इति केवलं युगपदभिधातुं न शक्यन्ते, वाचः क्रमवर्तित्वात्, ततो यो यदा संक्रमोवक्तुमिष्यते स तदानीं बुद्ध्या पृथक्कृत्वा सप्रपञ्चमुच्यते।

अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के संबंध में बंध अथवा उदय अथवा संक्रम एक साथ ही प्रवर्तित होते हैं, यानि कि इन चारों का साथ ही बंध अथवा उदय अथवा संक्रम होता है। किन्तु वाणी के क्रमपूर्वक प्रवर्तित होने से एक साथ इन चारों के स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता है। इसलिये जब जिसके स्वरूप को कहने की इच्छा होती है, तब उसको बुद्धि से पृथक् करके सविस्तार उसका कथन किया जाता है। जिससे यह सब कुछ संगत हो जाता है तथा स्थिति, रस और प्रदेश का जो समूह वह प्रकृति और उन तीनों का जो समुदाय वह प्रकृतिबंध (**तस्समुदाओ पगईबन्धो**) यह पूर्व में कहा जा चुका है, अतः उनका जो संक्रम वह प्रकृति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम। इस प्रकार तीनों का समूह प्रकृतिबंध होने से प्रकृति का जब संक्रम हो तब तीनों का ही संक्रम होता है।

अब यदि यह प्रश्न हो कि तीनों का समूह जब प्रकृतिसंक्रम है तब प्रकृतिसंक्रम भिन्न कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि समुदायी-अवयवी से समुदाय-अवयव कथंचित् भिन्न होते हैं। जैसे कि समस्त शरीर से हाथ-पैर आदि कुछ भिन्न होते हैं। उसी प्रकार स्थितिसंक्रम आदि से प्रकृतिसंक्रम कथंचित् भिन्न है। स्थितिसंक्रम और अनुभागसंक्रम का स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

स्थितिसंक्रम आदि के संबन्ध में उक्त स्पष्टीकरण करने पर भी जिज्ञासु द्वारा पुनः किये गये प्रश्न का उत्तर--

दलियरसाणं जुत्तं मुत्तत्ता अन्नभावसंकमणं।
ठिईकालस्स न एवं उउसंकमणं पिव अदुट्ठं ॥३४॥

शब्दार्थ---**दलियरसाणं**—दलिक और रस का, **जुत्तं**--योग्य है, **मुत्तत्ता**—मूर्त होने से, **अन्नभावसंकमणं**—अन्य रूप संक्रमण होना, **ठिईकालस्स**—स्थिति-काल का, **न एवं**—इस प्रकार नहीं है, **उउसंकमणं**—ऋतुसंक्रम, **पिव**—की तरह, **अदुट्ठं**—निर्दोष।

गाथार्थ—दलिक और रस मूर्त होने से उनका अन्य रूप संक्रमण योग्य है, परन्तु स्थिति काल इस प्रकार न होने से उनका संक्रम योग्य नहीं है। (उत्तर) ऋतुसंक्रम की तरह काल का संक्रम निर्दोष है।

विशेषार्थ—जिज्ञासु का प्रश्न है कि—पृथ्वी और जल की तरह कर्मपरमाणुओं और उनके अंदर रहे रस के मूर्त होने से उनका अन्य रूप संक्रम हो तो वह योग्य है। परन्तु काल अमूर्त है अतः काल का अन्य रूप में संक्रम कैसे घटित हो सकता है?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह प्रश्न अयोग्य है। क्योंकि हम स्थिति का संक्रम मानते हैं काल का नहीं। स्थिति यानि अवस्था—कर्मपरमाणुओं का अमुक स्वरूप में रहना। वह स्थिति पूर्व में अन्य रूप थी किन्तु अब जब संक्रम होता है तब पतद्ग्रहरूप की जाती है। अर्थात् पहले जो परमाणु जितने काल के लिये जो फल देने के लिये नियत हुए थे, वे परमाणु उतने काल अन्य रूप में फल दें वैसी स्थिति में स्थापित किये जाते हैं, उसे हम स्थितिसंक्रम कहते हैं और इसका कारण प्रत्यक्षसिद्ध है। वह इस प्रकार—

जैसे तृण आदि के परमाणु जो पहले तृण आदि रूप में थे, वे नमक की खान में गिर जाने पर कालक्रम से नमक रूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य रूप में रही हुई वस्तु अन्य रूप में हो जाती है। वैसे ही अध्यवसाय के योग से अन्य रूप रहे हुए परमाणु अन्य रूप में हो जाते हैं। अथवा—

स्थिति, काल का संक्रमण हो, इसमें भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'उउसंकमणं पिव अदुट्ठं' अर्थात् ऋतुसंक्रमण की तरह स्थितिकाल का संक्रमण भी निर्दोष है। अर्थात् वृक्षादि में स्वभाव से क्रमशः और देवादिक के प्रयोग द्वारा एक साथ भी जैसे सभी ऋतुयें संक्रमित होती हैं। क्योंकि उस ऋतु के कार्य—उस-उस प्रकार के पुष्प और फल आदि रूप में दिखते हैं, वैसे ही यहाँ भी आत्मा स्ववीर्य के योग से कर्मपरमाणुओं में के सातादि स्वरूप के हेतुभूत काल को अलग करके असातादि के हेतुभूत काल को संक्रमित करती है—असातादि के हेतुभूत काल को करती है। इसलिये वह भी निर्दोष है।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम विषयक वक्तव्यता जानना चाहिये। अब स्थितिसंक्रम का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

२. स्थितिसंक्रम

स्थितिसंक्रम को प्रारंभ करने के पूर्व प्रकृतिसंक्रम के सामान्य लक्षण को बाधित न करे, वैसा स्थितिसंक्रम का विशेष लक्षण कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितिसंक्रम-लक्षण व भेद

उवट्टणं च ओवट्टणं च पगतितरम्मि वा नयणं।
बंधे व अबंधे वा जं संकामो इइ ठिईए ॥३५॥

शब्दार्थ—**उवट्टणं च ओवट्टणं**—उद्वर्तन अथवा अपवर्तन, **च**—तथा, **पगतितरम्मि**—प्रकृत्यन्तर में, **वा**—अथवा, **नयणं**—नयन (परिवर्तन), **बंधे व अबंधे वा**—बंध हो अथवा न हो, **जं**—जो, **संकामो**—संक्रम, **इइ**—इस प्रकार **ठिईए**—स्थिति में।

गाथार्थ—उद्वर्तन अथवा अपवर्तन तथा प्रकृत्यन्तरनयन इस प्रकार स्थिति में तीन प्रकार का संक्रम होता है और वह बंध हो अथवा न हो, फिर भी होता है।

विशेषार्थ—प्रकृतिसंक्रम का विचार करने के पश्चात् यहाँ से स्थितिसंक्रम का विवेचन करना प्रारंभ किया है। स्थितिसंक्रम का विचार करने के पांच अधिकार हैं—१. भेद, २. विशेषलक्षण, ३. उत्कृष्ट स्थितिसंक्रमप्रमाण, ४. जघन्य स्थितिसंक्रमप्रमाण[1] तथा ५. सादि-अनादि प्ररूपणा। उनमें से यहाँ भेद और विशेषलक्षण इन दो का निरूपण करते हैं। भेद का निरूपण इस प्रकार है—

भेद अर्थात् प्रकार। स्थिति के संक्रम के दो प्रकार हैं—१. मूल कर्मों की स्थिति का संक्रम, २. उत्तर प्रकृतियों की स्थिति का संक्रम। मूल कर्मों की स्थिति का संक्रम मूल कर्म आठ होने से आठ प्रकार का है और उत्तर प्रकृति की स्थिति का संक्रम मतिज्ञानावरण से वीर्यान्तराय पर्यन्त उत्तर प्रकृतियां एक सौ अट्ठावन होने से एक सौ अट्ठावन प्रकार का है।

अब विशेष लक्षण का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

अल्पकाल पर्यन्त फल प्रदान करने के लिये व्यवस्थित हुए कर्माणुओं को दीर्घकाल पर्यन्त फल देने योग्य स्थिति में स्थापित करना

---

१. इसके साथ ही संक्षेप में स्वामित्व का भी संकेत किया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्तन कहते हैं और दीर्घकाल पर्यन्त फल देने के लिये व्यवस्थित हुए कर्माणुओं को अल्पकाल पर्यन्त फल देने वाली स्थिति में स्थापित करना अपवर्तन और पतद्ग्रहप्रकृति रूप करना वह अन्यप्रकृतिनयन-संक्रम है। इस प्रकार स्थिति का संक्रम तीन प्रकार का होता है। अर्थात् स्थिति की उद्वर्तना, अपवर्तना होती है तथा अन्यप्रकृति रूप में रही हुई स्थिति अन्य पतद्ग्रहरूप में भी होती है। यह संक्रम बंध हो अथवा न हो तब भी होता है, ऐसा समझना चाहिये।

इनमें भी अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय के सिवाय शेष पतद्ग्रह प्रकृतियों का बंध होता हो तभी होता है। अर्थात् जिसमें संक्रम होता है उस प्रकृति के बंध के सिवाय अन्यप्रकृति-नयनसंक्रम नहीं होता है। मात्र सम्यक्त्व एवं मिश्र मोहनीय का बंध नहीं होने से उनका बंध के बिना भी उन दोनों में मिथ्यात्वमोहनीय का और सम्यक्त्वमोहनीय में मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है। जैसा कि कहा है—

दुसु वेगे दिट्ठिदुगं बंधेण विणा वि सुद्धदिट्ठिस्स।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के बंध बिना भी दो में और एक में अनु-क्रम से मिथ्यात्व का और मिश्र मोहनीय का संक्रम होता है।

उद्वर्तनासंक्रम भी जिस प्रकृति की उद्वर्तना होती है, उसका बंध होता है, वहीं तक ही उद्वर्तना होती है और मात्र अपवर्तना-संक्रम जिसकी अपवर्तना होती है, उसका बंध होता हो या न होता हो, किन्तु प्रवर्तित होता है।

तात्पर्य यह कि अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम पतद्ग्रहप्रकृति के बंध की और उद्वर्तनासंक्रम अपने बंध की अपेक्षा रखता है, किन्तु अपवर्तना बंध की अपेक्षा नहीं रखती है।

उक्त स्पष्टीकरण के पश्चात् विशेषलक्षण यह हुआ कि प्रकृति और प्रदेश का तो अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम होता है और स्थिति तथा रस में उपर्युक्त तीनों संक्रम प्रवर्तित होते हैं। स्थितिसंक्रम का यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषलक्षण संक्रम के सामान्य लक्षण का बाध किये सिवाय प्रवर्तित होता है, ऐसा समझना चाहिये। किन्तु सामान्यलक्षण के अपवाद रूप प्रवर्तित होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। जिससे सामान्यलक्षण में मूल कर्मप्रकृतियों का परस्परसंक्रम का प्रतिषेध किया होने से यहाँ—स्थिति में भी मूलकर्म की स्थिति का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम प्रवर्तित नहीं होता है। परन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना ये दोनों ही प्रवर्तित होते हैं और उत्तरप्रकृतियों में तीनों ही प्रवर्तित होते हैं।

इस प्रकार से भेद और विशेषलक्षण का प्रतिपादन करके उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम और जघन्य स्थितिसंक्रम का ज्ञान करने के लिये प्रकृतियों का वर्गीकरण करते हैं।

प्रकृतियों का वर्गीकरण

जासिं बंधनिमित्तो उक्कोसो बंध मूलपगईणं।
ता बंधुक्कोसाओ सेसा पुण संकमुक्कोसा ॥३६॥

शब्दार्थ—**जासिं**—जिनका, **बंधनिमित्तो**—बंध के निमित्त से, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **बंध**—बंध, **मूलपगईणं**—मूलप्रकृतियों के, **ता**—वे, **बंधुक्कोसाओ**—बंधोत्कृष्टा, **सेसा**—शेष, **पुण**—पुनः, **संकमुक्कोसा**—संक्रमोत्कृष्टा।

गाथार्थ—जिन उत्तर प्रकृतियों का मूल प्रकृतियों के बंध के निमित्त से उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, वे प्रकृतियां बंधोत्कृष्टा और शेष प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं।

विशेषार्थ—स्थितिसंक्रम का प्रमाण बतलाने के लिये उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण किया है—मूल कर्मप्रकृतियों का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध कहा है, उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबंध जिन उत्तर प्रकृतियों का बंधनिमित्तों से होता है, अर्थात् बंधकाल में उतना ही बंध हो सकता है, वे प्रकृतियां बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं। उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अंतरायपंचक, आयुचतुष्टय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असातावेदनीय, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, नीलवर्ण और कटुरस वर्जित शेष अशुभवर्णादि सप्तक, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण, हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, अशुभविहायोगति, स्थावरनाम, त्रसचतुष्क, अस्थिरषट्क, नीचगोत्र, सोलह कषाय और मिथ्यात्व कुल मिलाकर ये सत्तानवै कर्मप्रकृतियां अपने बंधकाल में अपने मूलकर्म के समान उत्कृष्ट स्थितिबंध हो सकने से बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों में मनुष्य और तिर्यंच आयु का ग्रहण किया है। उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध यद्यपि अपने मूलकर्म के समान नहीं होता है, लेकिन आयु में परस्पर संक्रम नहीं होने से संक्रम द्वारा उनकी स्थिति उत्कृष्ट नहीं हो सकती है, इसलिये उनकी बंधोत्कृष्टा में गणना की है। सोलह कषायों को चारित्रमोहनीय रूप मूल कर्म की अपेक्षा समान स्थिति वाली होने से बंधोत्कृष्टा में गिना है।

ऊपर कही गई प्रकृतियों के अतिरिक्त इकसठ प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, नव नोकषाय, आहारकसप्तक, शुभवर्णादि एकादश, नीलवर्ण, कटुरस, देवद्विक, मनुष्यद्विक, विकलेन्द्रियत्रिक, आदि के पांच संहनन और आदि के पांच संस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, स्थिरषट्क, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र। इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अपने मूल कर्म के समान बंध द्वारा नहीं होती है, किन्तु अपनी स्वजातीय प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम द्वारा होती है, इसलिये इनको संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति कहते हैं।

इस प्रकार से वर्गीकरण करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट करते हैं कि इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों की कितनी-कितनी स्थिति अन्यत्र संक्रमित हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त उत्कृष्टा-प्रकृतिद्वय के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का परिमाण

बंधुक्कोसाण ठिई मोत्तु दो आवली उ संकमइ ।
सेसा इयराण पुणो आवलियतिगं पमोत्तूणं ।।३७।।

शब्दार्थ—**बंधुक्कोसाण**—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की, **ठिइ**—स्थिति, **मोत्तु**—छोड़कर, **दो आवली**—दो आवलिका, **उ**—ही, **संकमइ**—संक्रमित होती है, **सेसा**—शेष, **इयराण**—इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की, **पुणो**—पुनः और, **आवलियतिगं**—तीन आवलिका, **पमोत्तूणं**—छोड़कर न्यून ।

गाथार्थ—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की दो आवलिका स्थिति को छोड़कर और इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की तीन आवलिका स्थिति छोड़कर शेष स्थिति संक्रमित होती है ।

विशेषार्थ—दोनों प्रकार की प्रकृतियों की कितनी-कितनी स्थिति संक्रमित होती है, यह स्पष्ट करते हैं —

बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की बंधावलिका और उदयावलिका रूप दो आवलिकाप्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष समस्त स्थिति संक्रमित होती है । दो आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़ने का कारण यह है कि किसी भी कर्म के बंध समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त उसमें किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है । आवलिका बीतने के बाद ही करण की प्रवृत्ति होती है । अतः ऐसा नियम होने से जिस समय उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका जाने के बाद, वह स्थिति संक्रम के योग्य होती है । इसी प्रकार कोई भी प्रकृति चाहे वह प्रदेशोदयवती हो या रसोदयवती हो उदय समय से लेकर आवलिका काल में भोगे जायें उतने स्थानों को उदयावलिका कहते हैं और उसमें भी कोई करण लागू नहीं होता है, उससे ऊपर करण लागू होता है । अतएव बंधावलिका और उदयावलिका हीन शेष समस्त स्थिति संक्रमित होती है ।

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय और अंतरायपंचक की बंधावलिका जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर की अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधावलिका और उदयावलिका, इस तरह दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है। इसी प्रकार कषायों की चालीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और नरकद्विकादि प्रकृतियों की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति दो आवलिका न्यून संक्रांत होती है।

इतर—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की बंधावलिका, संक्रमावलिका और उदयावलिका, इस तरह तीन आवलिका रूप स्थिति को छोड़कर शेष समस्त स्थिति संक्रमित होती है। वह इस प्रकार—

बंधोत्कृष्टा प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति बंधावलिका जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति में संक्रमित होती है और वह भी उसकी उदयावलिका से ऊपर संक्रांत होती है। उदयावलिका से ऊपर संक्रमित होती है, इसलिये उस उदयावलिका को मिलाने पर कुल स्थिति की सत्ता दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्रमाण होती है। जिस समय संक्रम होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त संक्रमित हुए दलिकों में भी कोई करण नहीं लगता है, इसलिये जिस समय संक्रमित हुई उस समय से लेकर संक्रमावलिका के जाने के बाद उसकी उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है। इसीलिये कहा है—'आवलियतिगं पमोत्तूणं'—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की स्थिति कुल स्थिति में से तीन आवलिकान्यून अन्यत्र संक्रमित होती है।

अब उक्त कथन को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

नरकद्विक की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर उसकी बंधावलिका बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति को मनुष्यद्विक को बांधने वाला मनुष्यद्विक में उसकी उदयावलिका के ऊपर संक्रमित करता है। जिस समय नरकद्विक की स्थिति मनुष्यद्विक में संक्रमित की उस समय से लेकर संक्रमावलिका के जाने के बाद उसकी उदयावलिका से ऊपर की समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति को देवद्विक को बांधता हुआ उसमें संक्रमित करता है ।

यहाँ बंधावलिका बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की स्थिति मनुष्यद्विक में संक्रमित हुई और संक्रमावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की मनुष्यद्विक की स्थिति देवद्विक में संक्रांत हुई, यानि संक्रमोत्कृष्टा मनुष्यद्विक की तीन आवलिकाहीन स्थिति का ही देवद्विक में संक्रमण हुआ। इसी से ऊपर कहा है कि संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की तीन आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का ही अन्यत्र संक्रमण होता है ।

यहाँ यद्यपि नरकद्विक की बंधावलिका और उदयावलिका तथा मनुष्यद्विक की संक्रमावलिका और उदयावलिका इस तरह चार आवलिका ज्ञात होती हैं, परन्तु नरकद्विक की उदयावलिका और मनुष्यद्विक की संक्रमावलिका का काल एक ही होने से कुल मिलाकर तीन आवलिका स्थिति ही कम होती है, अधिक नहीं। इसी प्रकार अन्य संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के लिये भी समझना चाहिये ।

तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक को अनुक्रम से सम्यग्दृष्टि आदि जीव और संयत बांधते हैं। उनको उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होता है तथा समस्त कर्म प्रकृतियों की सत्ता भी उनको अंतःकोडाकोडी से अधिक नहीं होती है, इसलिये संक्रम द्वारा भी उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता अन्तःकोडाकोडी से अधिक नहीं होती है ।

यहाँ शंका होती है कि क्या ये प्रकृतियां बंधोत्कृष्टा हैं अथवा संक्रमोत्कृष्टा ? अतएव अब इस शंका का समाधान करते हैं—

तित्थयराहाराणं संकमणे बंधसंतएसु पि ।
अंतोकोडाकोडी तहावि ता संकमुक्कोसा ॥३८॥
एवइय संतया जं सम्मद्दिट्ठीण सव्वकम्मेसु ।
आऊणि बंधउक्कोसगाणि जं णण्णसंकमणं ॥३६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**तित्थयराहाराणं**—तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक में, **संकमणे**—संक्रम होने पर, **बंधसंतएसु पि**—बंध और सत्ता में भी, **अंतोकोडाकोडी**—अंत:कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण, **तहावि**—तो भी, **ता**—वे, **संकमुक्कोसा**—संक्रमोत्कृष्टा ।

एवइय—इतनी ही, **संतया**—सत्ता, **जं**—क्योंकि, **सम्मद्दिट्ठीण**—सम्यग्दृष्टियों के, **सव्वकम्मेसु**—सभी कर्मों की, **आऊणि**—आयु, **बंधउक्कोसगाणि**—बंधोत्कृष्टा, **जं**—क्योंकि, **णण्णसंकमणं**—अन्य का संक्रमण नहीं होता है ।

गाथार्थ—तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक में संक्रम होने पर भी बंध और सत्ता में अन्त:कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही स्थिति होती है, तो भी वे संक्रमोत्कृष्टा हैं ।

क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों के सभी कर्मों की इतनी ही सत्ता होती है । आयुकर्म बंधोत्कृष्टा है, क्योंकि उसमें अन्य का संक्रमण नहीं होता है ।

विशेषार्थ—तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक में जब अन्य प्रकृतियों की स्थिति का संक्रम होता है, तब भी उन प्रकृतियों का स्थितिबंध और सत्ता अन्त:कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही होने से संक्रम भी अन्त:कोडाकोडी से अधिक स्थिति का नहीं होता है । जिससे वे प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा हैं, बंधोत्कृष्टा नहीं हैं, यह समझना चाहिये ।

अंत:कोडाकोडी से अधिक बंध और सत्ता नहीं होने का कारण यह है कि तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक के बंधक अनुक्रम से सम्यग्दृष्टि आदि जीव और संयत मनुष्य हैं । उनको किसी भी प्रकृति का अंत:कोडाकोडी से अधिक स्थितिबंध एवं अंत:कोडाकोडी से अधिक सत्ता नहीं होती है ।

प्रथम गुणस्थान से जब जीव चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जाये तब अपूर्व शुद्धि के योग से स्थिति कम करके ही जाता है । कदाचित् उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में लेकर चतुर्थ गुणस्थान में जाये, परन्तु उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती है। विशुद्धि के बल से अन्तर्मुहूर्त में ही अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है और बंध तो अन्तःकोडाकोडी सागरोपम ही होता है।

कदाचित् यहाँ यह शंका हो कि वह उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में जब हो तब उस स्थिति का संक्रम होने से मनुष्यद्विकादि की तरह उत्कृष्ट स्थितिसत्ता क्यों नहीं होती है ? तो इसका उत्तर यह है कि उस समय तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक का बंध ही नहीं होता है। जब उनका बंध होता है तब किन्हीं भी कर्मप्रकृतियों की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक सत्ता नहीं होती है, जिससे यशःकीर्तिनाम आदि की स्थिति का जब उनमें संक्रम होता है, तब अंतःकोडाकोडी सागरोपमप्रमाण स्थिति का ही होता है, जिससे तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक की सत्ता अंतःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक होती ही नहीं है।

मात्र बंधस्थिति से सत्तागतस्थिति संख्यातगुणी होने से बंध से संख्यातगुणी स्थिति का संक्रम होता है। अर्थात् तीर्थंकरनामकर्म और आहारकसप्तक के बंध से उनकी सत्तागत स्थिति संख्यात गुणी होती है।[1] सामान्यतः सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के प्रत्येक प्रकृति के बंध से उनकी सत्तागत स्थिति संख्यातगुणी होती है। तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक के बंधकाल में उनमें संक्रमित होने वाली स्वजातीय प्रकृति की जितनी उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वह यथायोग्य रूप से संक्रमित हो सकती है, इसीलिये तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक को संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति कहा गया है।

प्रश्न—नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण है। अतएव जब आहारकसप्तक और तीर्थंकरनामकर्म की मनुष्यद्विक की तरह संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता बंधावलिका

---

१. बंधठिइउ संतकम्मठिइ संखेज्जगुणा। —कर्मप्रकृतिचूर्णि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् एक आवलिकान्यून बीस कोडाकोडी सागरोपम घटित हो सकती है, तब फिर यह क्यों कहा है कि तीर्थंकरनाम और आहारक-सप्तक की संक्रम द्वारा भी उत्कृष्ट स्थिति अंतःकोडाकोडी सागरोपम-प्रमाण ही होती है ?

उत्तर—यह प्रश्न तभी सम्भव है जब तीर्थंकरनाम और आहारक-सप्तक बंधता हो तब उसमें संक्रमित होने योग्य प्रकृति की सत्ता बीस कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण हो, परन्तु वैसा है नहीं। क्योंकि आयुकर्म के सिवाय किसी भी कर्मप्रकृति की स्थिति की सत्ता सम्यग्दृष्टि जीव के अंतः कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही होती है, इससे अधिक नहीं। इसलिये संक्रम भी उतनी ही स्थिति का होता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरनाम और आहारक-सप्तक में उनके बंधकाल में अन्य प्रकृति की स्थिति संक्रमित होती है अन्यकाल में नहीं। इन प्रकृतियों का बंध क्रमशः विशुद्ध सम्यग्दृष्टि और संयत जीवों के ही होता है। उनको आयु के सिवाय समस्त कर्मों की सत्ता अन्तःकोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही होती है, इससे अधिक नहीं है। इसीलिये संक्रम भी उतनी ही स्थिति का होता है। यदि उनको अंतःकोडाकोडी से अधिक बंध हाता तो अधिक स्थिति की सत्ता संभव हो सकती है, परन्तु बंध ही अंतःकोडाकोडी सागरोपम का होता है, अधिक होता नहीं। मात्र बंध से सत्ता संख्यातगुणी होती है। इसका पूर्व में संकेत किया जा चुका है।

आयुकर्म की चारों प्रकृतियां बंधोत्कृष्टा समझना चाहिये, संक्रमोत्कृष्टा नहीं। क्योंकि उनमें परस्पर या अन्य किसी भी कर्मप्रकृति के दलिकों का संक्रम नहीं होता है।

कदाचित् यहाँ प्रश्न हो कि मनुष्य, तिर्यंच आयु का तो स्वमूलकर्म के समान बंध नहीं होने से उनको बंधोत्कृष्टा क्यों माना है ? तो इसके लिये समझना चाहिये कि यदि संक्रमोत्कृष्टा माना जाये तो यह भ्रम हो सकता है कि आयु में अन्य प्रकृति के दलिकों का संक्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, लेकिन ऐसा भ्रम न हो जाये, इसलिये बंधोत्कृष्टा में गणना की है। क्योंकि चारों आयु में परस्पर संक्रम या किसी अन्य प्रकृति के दलिक का संक्रम होता ही नहीं है और बंधोत्कृष्टा और संक्रमोत्कृष्टा के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा भेद है नहीं कि जिसमें उसको गर्भित किया जा सके, इसलिये या तो दोनों में ही नहीं गिनना चाहिये या फिर बंधोत्कृष्टा में ग्रहण करना चाहिये। यहाँ जो बंधोत्कृष्टा में गिना है, वह युक्तियुक्त ही है।

इस प्रकार जिन कर्मप्रकृतियों का पतद्‌ग्रह प्रकृतियों का बंध होने पर संक्रम होता है, उनकी स्थिति के संक्रम का प्रमाण बताया। अब जिन प्रकृतियों का पतद्‌ग्रहप्रकृति के बंध के अभाव में भी संक्रम होता है, उनकी स्थिति के संक्रम का प्रमाण बतलाते हैं—

गंतुं सम्मो मिच्छंतस्सुक्कोसं ठिइं च काऊणं।
मिच्छियराणुक्कोसं करेति ठितिसंकमं सम्मो ॥४०॥
अंतोमुहुत्तहीणं आवलियदुहीण तेसु सट्ठाणे।
उक्कोससंकमपहू उक्कोसगबंधगण्णासु ॥४१॥

शब्दार्थ—**गंतुं**—जाकर, **सम्मो**—सम्यग्दृष्टि, **मिच्छंतस्सुक्कोसं**—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट, **ठिइं**—स्थिति, **च**—और, **काऊणं**—करके, बांधकर, **मिच्छियराणुक्कोसं**—मिथ्यात्व से इतरों में उत्कृष्ट, **करेति**—करता है, **ठितिसंकमं**—स्थितिसंक्रम, **सम्मो**—सम्यग्दृष्टि।

अंतोमुहुत्तहीणं—अन्तर्मुहूर्त न्यून, **आवलियदुहीण**—आवलिकाद्विक हीन, **तेसु**—उनमें, **सट्ठाणे**—स्वस्थान में, **उक्कोससंकमपहू**—उत्कृष्ट संक्रम का स्वामी, **उक्कोसगबंधगण्णासु**—अन्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंधक।

गाथार्थ—कोई (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में जाकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में जाये, वहाँ वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व से इतरों (सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय) में मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की अन्तर्मुहूर्त और आवलिकाद्विक-हीन उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है। उनमें से सम्यक्त्व का स्व-स्थान में और मिश्रमोहनीय का उभय में होता है। शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का बंधक समझना चाहिये।

विशेषार्थ—पतद्ग्रहप्रकृति के अभाव में भी जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम संभव है, उनका यहाँ संकेत किया है। जो इस प्रकार है—

कोई जीव पहले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाये और मिथ्यात्व में जाकर उत्कृष्ट संक्लेश में रहते मिथ्यात्वमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबंध करे और उत्कृष्ट स्थितिबंध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मिथ्यात्वगुणस्थान में रहे, फिर अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद विशुद्धि के बल से सम्यक्त्व प्राप्त करे, तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि होकर वह जीव अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोडा-कोडी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टस्थिति को सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय का बंध नहीं होने पर भी उनमें संक्रमित करता है। इस प्रकार मिथ्या-त्वमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम सम्यग्दृष्टि को होता है और वह मिश्र एवं सम्यक्त्व मोहनीय में होता है।

यहाँ क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करने का कारण यह है कि उसके मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंज सत्ता में होते हैं। पहले गुण-स्थान में से करण करके एवं करण किये सिवाय, इस तरह दो प्रकार से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। करण करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह तो अन्तःकोडाकोडी की सत्ता लेकर ऊपर जाता है, लेकिन जो करण किये बिना ही आरोहण करता है, वह ऊपर कहे अनुसार उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता लेकर चतुर्थ गुणस्थान में जाता है और अन्त-र्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करता है। उत्कृष्ट स्थितिबंध करके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पहले गुणस्थान में रहकर ही सम्यक्त्व प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। इसीलिये अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्टस्थिति का संक्रम होता है, ऐसा कहा है। चतुर्थ गुणस्थान में जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त ही उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता रहती है, उतने काल में विशुद्धि के बल से अन्तः-कोडाकोडी सागरोपम से उपरान्त की स्थिति का क्षय करता है, जिससे अन्तर्मुहूर्त के बाद अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक स्थिति की सत्ता नहीं होती है।

इस प्रकार से मिथ्यात्वमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम जानना चाहिये और उसका स्वामी सम्यग्दृष्टि है यह बताया। अब सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के उत्कृष्ट स्थिति-संक्रम का प्रमाण और उसके स्वामी तथा अन्य सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामियों का प्रतिपादन करते हैं—

कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व में जाकर तीव्र संक्लेश से मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति बांधकर अंतर्मुहूर्त के बाद अविरतसम्यक्त्वगुणस्थान में जाकर वहाँ अन्तर्मुहूर्त न्यून और उदया-वलिका से ऊपर की उस सत्तर कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय में उनकी उदयाव-लिका से ऊपर संक्रमित करता है। उदयावलिका से ऊपर संक्रमित करने वाला होने से उस उदयावलिका को मिलाने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्र-मोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होती है। मिथ्यात्वमोहनीय की स्थिति का जिस समय संक्रम हुआ, उस समय से संक्रमावलिका सकल करण के अयोग्य होने से उस एक आवलिका के जाने के पश्चात् उदयावलिका से ऊपर की सम्यक्त्वमोहनीय की स्थिति का स्वस्थान में अपवर्तनासंक्रम होता है और मिश्रमोहनीय का स्वस्थान में अप-वर्तनासंक्रम होता है एवं सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रम होता है।

अपनी-अपनी दृष्टि का अन्यत्र संक्रमण नहीं होता है तथा चारित्र-मोहनीय और दर्शनमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है, इस नियम के अनुसार सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को किसी परप्रकृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में संक्रमित नहीं करता है। जिससे उसमें एक अपवर्तनासंक्रम ही होता है। स्थिति को कम करने रूप अपवर्तनासंक्रमण स्व में ही होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम दो आवलिका अधिक अन्तर्मुहूर्तन्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होता है और उनका स्वामी वेदक सम्यग्दृष्टि है।

देवायु, जिननाम और आहारकसप्तक के सिवाय शेष बंधोत्कृष्टा अथवा संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के उन-उन प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति बांधने वाले उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के स्वामी हैं और वे प्राय:[1] संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव ही हैं तथा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के सन्मुख हुआ प्रमत्तसंयत है। पूर्व में जिसने जिननामकर्म बांधा हो ऐसा नरक के सन्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि जिननाम की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी है तथा आहारक-सप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमत्तगुणस्थान के अभिमुख हुआ अप्रमत्त-संयत बांधता है और वह बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करता है।[2]

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामी जानना चाहिये।

---

१. यहाँ प्राय: शब्दप्रयोग का संभव कारण यह हो सकता है कि जिन परिणामों से मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बांधे वैसे परिणामों से अन्य ज्ञानावरणादि की भी उत्कृष्ट स्थिति बंध सकती है। जैसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता लेकर चौथे गुणस्थान में जाता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करता है, वैसे ही अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम हो सकता है। तत्त्व केवलिगम्य है।

२. आहारकसप्तक की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी प्रमत्तसंयत है, क्योंकि अप्रमत्तसंयतगुणस्थान से प्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाते हुए के उसकी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, ऐसा प्रतीत होता है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

संक्षेप में जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

प्रकृतियां	स्वामी	विशेष
बंधोत्कृष्टा	चतुर्गति के जीव	बंधावलिका से आगे
संक्रमोत्कृष्टा	,,	बंध एवं संक्रम आवलिका से आगे
दर्शनमोह	सम्यग्दृष्टि	×

अब यह स्पष्ट करते हैं कि बंधोत्कृष्टा अथवा संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की स्थिति का जब संक्रम होता है, तब उनकी कुल कितनी स्थिति होती है।

प्रकृतियों की यत्स्थिति

बंधुक्कोसाणं आवलिए आवलिदुगेण इयराणं।
हीणा सव्वावि ठिई सो जट्ठिइ संकमो भणिओ ॥४२॥

शब्दार्थ—**बंधुक्कोसाणं**—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की, **आवलिए**—एक आवलिका, **आवलिदुगेण**—आवलिकाद्विक से, **इयराणं**—इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की, **हीणा**—हीन, **सव्वावि**—सभी, **ठिइ**—स्थिति, **सो**—वह, **जट्ठिइ**—यत्थिति, **संकमो**—संक्रम, **भणिओ**—कहलाता है।

गाथार्थ—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की एक आवलिका और इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की आवलिकाद्विक हीन जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह यत्स्थितिसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—कर्मप्रकृतियों की जब स्थिति संक्रमित होती है, तब वह कुल कितनी होती है ? इसका यहाँ स्पष्टीकरण किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस समय किसी भी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है, उस समय कुल कितनी स्थिति होती है, इसके विचार को यत्स्थिति-संक्रम कहते हैं।

जिस समय बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है तब उनकी स्थिति उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक आवलिका-न्यून होती है। वह इस प्रकार—संक्लिष्ट परिणाम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर बंधावलिका के जाने के बाद अन्य प्रकृति में संक्रमित होना प्रारंभ होता है। इसलिये बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमण-काल में एक आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। बंध समय से एक आवलिकापर्यन्त बंधी हुई उस उत्कृष्ट स्थिति में कोई करण लागू न होने से उतनी स्थिति कम होती है। इसलिये संक्रम-काल में एक आवलिकान्यून उत्कृष्टस्थिति सत्ता में घटित होती है।

इतर—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमकाल में समस्त स्थिति दो आवलिकान्यून होती है। वह इस प्रकार—बंधावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति का अन्य प्रकृति में उसकी उदयावलिका के ऊपर संक्रम होता है और संक्रम समय से एक आवलिका—संक्रमावलिका के जाने के बाद कुल दो आवलिकान्यून उस उत्कृष्ट स्थिति का अन्य प्रकृति में संक्रमित किया जाना प्रारम्भ होता है, इसलिये संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमकाल में बंधावलिका और संक्रमावलिका इस तरह दो आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। बंधावलिका के जाने के बाद बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की उदयावलिका से ऊपर की उत्कृष्टस्थिति संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की उदयावलिका से ऊपर संक्रमित होती है, जिससे उस उदयावलिका को मिलाने पर एक आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। एक आवलिका न्यून उस उत्कृष्ट स्थिति का संक्रमावलिका के जाने के बाद अन्यत्र संक्रमण होता है जिससे संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमणकाल में दो आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति संभव है।

सुगम बोध के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट संक्रमस्थिति एवं यत्स्थिति

प्रकृतियां	संक्रमस्थितिप्रमाण	यत्स्थितिप्रमाण
मिथ्यात्वरहित शेष बंधोत्कृष्टा	आवलिकाद्विकहीन	एक आवलिकाहीन
संक्रमोत्कृष्टा	आवलिकात्रिकहीन	आवलिकाद्विकहीन
मिथ्यात्व	अंतर्मुहूर्तहीन ७० को. को.सागरो.	अन्तर्मु. हीन ७० को. को. सागरो.
सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	आवलिकाद्विकाधिक अन्तर्मु. हीन ७० को. को. सागरोपम	सावलिकान्तर्मुहूर्तहीन ७० को.को.सागरोपम

अब आयुकर्म की यत्स्थिति एवं जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं।

आयुकर्म की यत्स्थिति : जघन्य स्थितिसंक्रमप्रमाण

साबाहा आउठिई आवलिगूणा उ जट्ठिति सट्ठाणे।
एक्का ठिई जहण्णो अणुदइयाणं निहयसेसा ॥४३॥

शब्दार्थ—**साबाहा**—अबाधासहित, **आउठिई**—आयु की स्थिति, **आवलिगूणा**—आवलिकान्यून, **उ**—और, **जट्ठिति**—यत्स्थिति, **सट्ठाणे**—स्वस्थान में, **एक्का**—एकस्थानक का, **ठिई**—स्थिति, **जहण्णो**—जघन्य, **अणुदइयाणं**—अनुदयवती प्रकृतियों का, **निहयसेसा**—हतशेष।

गाथार्थ—स्वस्थानसंक्रम हो तब आवलिकान्यून अबाधासहित जो स्थिति वह आयुकर्म की यत्स्थिति है तथा एकस्थानक का संक्रम एवं अनुदयवती प्रकृतियों की हतशेष स्थिति का संक्रम जघन्यसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—आयु में मात्र उद्वर्तना-अपवर्तना ही होती है किन्तु अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम नहीं होता है। उसमें भी व्याघातभाविनी अप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तना उस-उस आयु का जब उदय हो तभी होती है,[1] इसीलिये उसकी अपेक्षा यहाँ आयु की यत्स्थिति का निरूपण नहीं किया है, परन्तु निर्व्याघातभावी अपवर्तना या जो उदय न हो, तब भी होती है, उसकी अपेक्षा और जब बंध प्रवर्तमान हो तब प्रथम आदि समय में बंधी हुई लता की बंधावलिका के बीतने के बाद उद्वर्तना भी होती है, उसकी अपेक्षा यत्स्थिति का निरूपण किया है।

इस प्रकार जब निर्व्याघातभावि अपवर्तना और उद्वर्तना रूप स्वस्थानसंक्रम होता है, तब आयु की यत्स्थिति का—समस्त स्थिति का प्रमाण आवलिकान्यून अबाधासहित उत्कृष्टस्थिति जितना है। जैसे कि पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला कोई जीव दो भाग जाने के बाद बराबर तीसरे भाग के प्रथम समय में तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु बांधे तो उसका बंधावलिका के बीतने के बाद उपर्युक्त दोनों में से कोई भी संक्रमण हो सकता है। जिससे उस एक आवलिकाहीन पूर्वकोटि के तीसरे भाग अधिक तेतीस सागरोपमप्रमाण कुल स्थिति संभव है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का प्रमाण, उसके स्वामी और यत्स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थिति के संक्रम का प्रमाण बतलाते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम

उदयवती प्रकृतियों की सत्ता में समयाधिक आवलिका शेष रहे तब एक समय प्रमाण स्थिति का अंतिम जो संक्रम होता है तथा अनु-

---

१. यहाँ जो उस-उस आयु की उदय समय में व्याघातभाविनी अपवर्तना बताई है, वह अपवर्तनीय आयु में समझना चाहिये। अनपवर्तनीय आयु में तो व्याघातभाविनी अपवर्तना होती ही नहीं है, निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दयवती प्रकृतियों की क्षय होते-होते जो स्थिति शेष रहे, उसका जो अंतिम संक्रम वह जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है।

यहाँ उदयवती प्रकृतियों की अपने-अपने क्षय के समय समयाधिक आवलिका सत्ता में शेष रहे तब ऊपर की समयप्रमाण स्थिति को जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है। परन्तु उदयवती समस्त प्रकृतियों में अपने-अपने क्षय के समय समयप्रमाण स्थिति का संक्रम घटित नहीं होता है। क्योंकि चरमोदय वाली नामकर्म की नौ, उच्चगोत्र एवं वेदनीयद्विक इन बारह प्रकृतियों का अयोगिकेवली गुणस्थान में उदय होता है, किन्तु वहाँ संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का जघन्य स्थितिसंक्रम समय प्रमाण आता नहीं है। परन्तु ऊपर कही गई उक्त चौदह प्रकृतियों के सिवाय शेष बीस उदयवती प्रकृतियों का और तदुपरान्त निद्रा एवं प्रचला इन बाईस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अपवर्तना की अपेक्षा एक समय प्रमाण घटित होता है। कर्मप्रकृति संक्रमकरण इसी ग्रंथ में भी आगे इसी प्रकार बताया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ सभी उदयवती प्रकृतियों का सामान्य से निर्देश किया गया है। यदि अन्य कोई कारण हो तो वह बहुश्रुतगम्य है, जिसका विद्वज्जन स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

इस प्रकार से जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामियों का निर्देश करते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम-स्वामी

जो जो जाणं खवगो जहण्णठितिसंकमस्स सो सामी।
सेसाणं तु सजोगी अंतमुहुत्तं जओ तस्स ॥४४॥

शब्दार्थ—**जो-जो**—जो-जो, **जाणं**—जिनका, **खवगो**—क्षपक, **जहण्णठितिसंकमस्स**—जघन्य स्थितिसंक्रम का, **सो**—वह, **सामी**—स्वामी, **सेसाणं**—शेष का, **तु**—तो, **सजोगी**—सयोगिकेवली, **अंतमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त, **जओ**—क्योंकि, **तस्स**—उसकी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—जो-जो जीव जिन प्रकृतियों का क्षपक है, वह उनकी जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी है। शेष प्रकृतियों का तो सयोगिकेवली स्वामी है। क्योंकि उसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

विशेषार्थ—जो जीव जिन कर्मप्रकृतियों का क्षपक है, वह जीव उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को संक्रमित करता है। क्योंकि उन-उन प्रकृतियों का क्षय करते-करते अंत में अल्प स्थितिसत्ता में शेष रहती है और उसे संक्रमित करता है। जैसे कि चारित्रमोहनीय की संज्वलन लोभ के सिवाय शेष बीस प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादर-संपरायगुणस्थानवर्ती जीव और संज्वलन लोभ का सूक्ष्मसंपरायगुण-स्थानवर्ती जीव स्वामी है। दर्शनसप्तक के चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव स्वामी हैं। ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, अन्तराय-पंचक इन सोलह प्रकृतियों का क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव स्वामी है तथा शेष अघाति कर्मप्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी सयोगिकेवली हैं। क्योंकि उन्हीं के चरम समय में उन प्रकृतियों की संक्रमयोग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति सत्ता में होती है, अन्य को नहीं होती है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण बतलाते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण

उदयावलिए छोभो अण्णप्पगईए जो य अंतिमओ।
सो संकमो जहण्णो तस्स पमाणं इमं होइ ॥४५॥

शब्दार्थ—**उदयावलिए**—उदयावलिका में, **छोभो**—प्रक्षेप, **अण्णप्पगईए**—अन्य प्रकृति का, **जो**—जो, **य**—वह, **अंतिमओ**—अंतिम, **सो**—वह, **संकमो**—संक्रम, **जहण्णो**—जघन्य, **तस्स**—उसका, **पमाणं**—प्रमाण, **इमं**—यह, **होइ**—है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—अन्यप्रकृति का उदयावलिका में जो अंतिम प्रक्षेप होता है, उसे जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं। उसका प्रमाण यह है।

विशेषार्थ—गाथा में जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण बतलाकर विभिन्न प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण का संकेत करने की सूचना दी है।

जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण इस प्रकार है—किसी विवक्षित प्रकृति की स्थिति का पतद्ग्रहप्रकृति की उदयावलिका में जो अंतिम प्रक्षेप-संक्रम होता है उसे तथा अपनी ही प्रकृति सम्बन्धी उदयावलिका में अर्थात् अपनी ही उदयावलिका में जो अंतिम संक्रम होता है, उसे जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि क्षय करने पर अंत में जितनी स्थिति का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम[1] द्वारा—संक्रमकरण द्वारा पर-प्रकृति की उदयावलिका में संक्रम होता है वह अथवा अपवर्तना-संक्रम द्वारा अपनी ही उदयावलिका में जो संक्रम होता है, वह जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उदयावलिका से बाहर के भाग में जो संक्रम होता है, वह तो नहीं किन्तु अंत में जितनी स्थिति का उदयावलिका में प्रक्षेप होता है वह जघन्य स्थितिसंक्रम है। यह जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण निद्राद्विक को

---

१. यद्यपि अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम द्वारा जितने स्थानों का संक्रम होता है, उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् बांधते समय जिस काल में जिस प्रकार का फल देना नियत हुआ हो, संक्रम होने के बाद उस काल में जिसमें संक्रम हुआ उसके अनुरूप ही प्रकृति फल देती है परन्तु अंत में जितनी जघन्य स्थिति का संक्रम होता है वह स्थिति संकुचित होकर उदयावलिका में संक्रमित होती है। अर्थात् उदयावलिका के काल में फल दे, वैसी हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर[1] शेष प्रकृतियों के लिये समझना चाहिये।

वह जघन्य स्थितिसंक्रम किस प्रकृति का कितना होता है ? अब इसका निर्देश करते हैं।

प्रत्येक प्रकृति का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण

संजलणलोभनाणंतराय-दंसणचउक्कआऊणं ।

सम्मत्तस्स य समओ सगआवलियातिभागंमि ॥४६॥

शब्दार्थ—**संजलणलोभ**—संज्वलनलोभ, **नाणंतराय**—ज्ञानावरण, अंतराय, **दंसणचउक्क**—दर्शनावरणचतुष्क, **आऊणं**—आयु का, **सम्मत्तस्स**—सम्यक्त्वमोहनीय का, **य**—और, **समओ**—समय, **सगआवलियातिभागंमि**—अपनी आवलिका के तीसरे भाग में।

गाथार्थ—संज्वलन लोभ, ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरणचतुष्क, आयु और सम्यक्त्वमोहनीय का अपनी आवलिका के तीसरे भाग में समय प्रमाण स्थिति का जो संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है।

विशेषार्थ—संज्वलन लोभ, ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, आयुचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय कुल मिलाकर बीस प्रकृतियों की स्थिति का क्षय होते सत्ताविच्छेद काल में उनकी एक समय प्रमाण स्थिति का अपनी ही उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में होने वाला प्रक्षेप, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि क्षपकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में क्षय करते जब संज्वलन लोभ की समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका सकल करण के अयोग्य होने से

---

१. निद्राद्विक के जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण स्वतंत्र रूप में आगे बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा नीचे के अपने ही उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है। वह संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव है।

इसी प्रकार क्षीणमोहगुणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों की सत्ता में समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तनासंक्रम द्वारा अपनी ही उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमण होता है, वह उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है और उसका स्वामी क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव है। तथा—

चारों आयु की स्थिति भोगते-भोगते सत्ता में जब समयाधिक आवलिका शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की उस समयप्रमाण स्थिति को अपनी-अपनी उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी उस-उस आयु का उदय वाला जीव है।

जघन्य समयप्रमाण स्थिति को जीव तथास्वभाव से उदयावलिका के प्रथम समय से—उदय समय से लेकर समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है। जैसे कि आवलिका के नौ समय मान लें तो आदि के चार समय में संक्रमित करता है, अन्य समयों में संक्रमित नहीं करता है।

उपर्युक्त समस्त प्रकृतियों की यत्स्थिति समयाधिक आवलिका-प्रमाण जानना चाहिये। तथा—

खविऊण मिच्छमीसे मणुओ सम्मम्मि खवयसेसम्मि।
चउगइउ तओ होउं जहण्णठितिसंकमस्सामी ॥४७॥

शब्दार्थ—खविऊण—क्षय करके, **मिच्छमीसे**—मिथ्यात्व और मिश्र-मोहनीय को, **मणुओ**—मनुष्य, **सम्मम्मि**—सम्यक्त्वमोहनीय, **खवयसेसम्मि**—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपितशेष, **चउगइउ**—चतुर्गतिक—चारों गतियों में से किसी भी गति वाला, **ताओ**—तब फिर, **होउं**—होता है, **जहण्णठितिसंकमस्सामी**—जघन्य स्थिति-संक्रम का स्वामी।

गाथार्थ—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय करके जब मनुष्य सम्यक्त्वमोहनीय क्षपितशेष हो तब चारों गति में से किसी भी गति में जाकर उसकी समय प्रमाण जघन्य स्थिति संक्रमित करता है और उसका स्वामी चारों गतियों में से किसी भी गति का जीव होता है।

विशेषार्थ—गाथा में सम्यक्त्वमोहनीय के जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण एवं उसके स्वामी का निर्देश किया है—

जघन्यत: आठ वर्ष से अधिक आयु वाला कोई मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्वमोहनीय को सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करता है।[1] इस प्रकार जब सर्वापवर्तना होती है तब सम्यक्त्वमोहनीय क्षपितशेष होती है। इस प्रकार जब सम्यक्त्वमोहनीय क्षपितशेष हो तब चारों में से चाहे किसी भी एक गति में जा सकता है, जिससे उस गति में जाकर वहाँ उसकी समयाधिक आवलिका शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की उस समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तना-संक्रम द्वारा अपनी आवलिका के समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है, जो उसका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और स्वामी चारों

१ सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करता है, यानि व्याघातभाविनी अपवर्तना द्वारा जितनी स्थिति कम हो सकती है, उतनी करता है। अब जितनी स्थिति सत्ता में रही उतनी स्थिति लेकर मरण प्राप्त कर सकता है और चाहे जिस गति में परिणामानुसार जा सकता है इसी कारण उसके जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी चार में से किसी भी गति का जीव हो सकता है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

गतियों में से किसी भी गति में वर्तमान जीव है तथा यत्स्थिति समयाधिक आवलिका है। तथा—

निद्दादुगस्स साहिय आवलियदुगं तु साहिए तंसे।
हासाईणं संखेज्ज वच्छरा ते य कोहम्मि ॥४८॥

शब्दार्थ—**निद्दादुगस्स**—निद्राद्विक की, **साहिय आवलियदुगं**—साधिक आवलिकाद्विक, **तु**—और, **साहिए तंसे**—साधिक तीसरे भाग में, **हासाईणं**—हास्यादि का, **संखेज्ज**—संख्यात, **वच्छरा**—वर्षप्रमाण, **ते**—वह, **य**—और **कोहम्मि**—क्रोध में।

गाथार्थ—निद्राद्विक की समय मात्र स्थिति को जो साधिक तीसरे भाग में संक्रमित किया जाता है, वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है। साधिक आवलिकाद्विक यत्स्थिति है तथा हास्यादि का जो संख्यात वर्ष प्रमाण संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है और वह क्रोध में होता है।

विशेषार्थ—निद्रा और प्रचला रूप निद्राद्विक की अपनी स्थिति की ऊपर की एक समयमात्र स्थिति को अपने संक्रम के अंत में उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमित किया जाता है, वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान में क्षय करते-करते निद्राद्विक की आवलिका प्रमाण स्थिति सत्ता में शेष रहे तब सब से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा नीचे के उदय समय से लेकर उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमित किया जाता है, वह निद्राद्विक का जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी क्षीणकषायवीतराग जीव है। उस समय यत्स्थिति आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिका है।

यहाँ वस्तुस्वभाव ही यह है कि निदाद्विक की आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिकाप्रमाण स्थिति सत्ता में शेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे तब ऊपर की एक समय प्रमाण स्थिति अपवर्तनाकरण द्वारा संक्रमित होती है, परन्तु मतिज्ञानावरणादि की तरह समयाधिक आवलिका शेष रहे तब नहीं। मतिज्ञानावरणादि में समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति की सत्ता शेष रहे तब तक अपवर्तना होती है। लेकिन निद्राद्विक में आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिका रहे, वहाँ तक होती है और इसका कारण जीव-स्वभाव है।

अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में वर्तमान क्षपक के हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यषट्क का क्षय होते संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्ता में शेष रहती है, तो उस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति का संज्वलन क्रोध में जो संक्रम होता है वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है। उसका स्वामी नौवें गुणस्थानवर्ती जीव है। उस समय उसकी यत्स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण है। इसका कारण यह है कि अन्तरकरण में रहते हुए भी वह संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को संज्वलन क्रोध में संक्रमित करता है। अन्तर-करण में दलिक नहीं होते हैं, किन्तु उससे ऊपर होते हैं। क्योंकि वह दलिकरहित शुद्ध स्थिति है, इसलिये अन्तरकरण के काल से अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में हास्य-षट्क की यत्स्थिति है। इस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को अपवर्तना-करण द्वारा अपवर्तित करके संज्वलन क्रोध की उदयावलिका में संक्रमित करता है यह समझना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो स्थिति बहुत होने से उदयावलिका के ऊपर के भाग में प्रक्षेप हो और वैसा हो तो अन्यप्रकृति का उदयावलिका में जो अन्तिम संक्रम होता है वह जघन्य संक्रम कहलाता है[1], इस पूर्वोक्त वचन से विरोध आता है। इसलिये संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को अपवर्तित करके उदया-वलिका में संक्रमित करता है, ऐसा मानना चाहिये। तथा—

१ गाथा ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुंसंजलणाण ठिई जहन्नया आवलीदुगेणूणा।
अंतो जोगंतीणं पलियासंखंस इयराणं ॥४६॥

शब्दार्थ—**पुंसंजलणाण**—पुरुषवेद और संज्वलन कषायों की, **ठिई**—स्थिति, **जहन्नया**—जघन्य, **आवलीदुगेणूणा**—आवलीद्विकन्यून, **अंतो**—अन्तमुंहूर्त, **जोगंतीणं**—सयोगिगुणस्थान में अन्त होने वाली, **पलियासंखंस**—पल्योपम का असंख्यातवां भाग, **इयराणं**—इतर प्रकृतियों की।

गाथार्थ—पुरुषवेद और संज्वलन कषायों की अन्तमुंहूर्त न्यून जो जघन्य स्थिति है वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है। यत्स्थिति अन्तमुंहूर्त सहित दो आवलिकान्यून जघन्य स्थिति है। सयोगि-गुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों की अन्तमुंहूर्त और इतर प्रकृतियों की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का जघन्य स्थितिसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—पुरुषवेद का आठ वर्ष, संज्वलन क्रोध का दो मास संज्वलन मान का एक मास और संज्वलन माया का पन्द्रह दिन प्रमाण जो जघन्य स्थितिबंध पूर्व में कहा है, वही जघन्य स्थितिबंध अन्त-मुंहूर्त न्यून उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है।

अन्तमुंहूर्त न्यून कहने का कारण यह है कि अबाधारहित स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है। क्योंकि अबाधा काल में दल रचना नहीं होती है, किन्तु उससे ऊपर के समय से होती है, यानि अबाधाकाल से ऊपर के स्थानों में कर्मदलिक संभव हैं। जघन्य स्थितिबंध हो तब अबाधा अन्तमुंहूर्त प्रमाण होती है, इसीलिये अन्तमुंहूर्तन्यून स्थिति बंध पुरुषवेद आदि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है। जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में उनकी यत्स्थिति दो आवलिकान्यून अबाधा सहित आठ वर्ष आदि जघन्य स्थितिबंध प्रमाण जानना चाहिये।

दो आवलिकान्यून क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि बंध-विच्छेद के समय बंधी हुई उन पुरुषवेद आदि प्रकृतियों की लता का बंधावलिका जाने के बाद संक्रमित होना प्रारम्भ होता है, जिस समय से संक्रमित होना प्रारम्भ होता है उस समय से एक आवलिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल पूर्णरूप से संक्रमित होता जाता है और संक्रमावलिका के चरम समय में जघन्य स्थितिसंक्रम होने से बंधावलिका और संक्रमावलिका प्रमाण काल कम हो जाता है। इसलिये उन दो आवलिका के बिना और अबाधाकल सहित जो जघन्य स्थितिबंध वह जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में यत्स्थिति है। स्वामी अनिवृत्तिबादरसंपराय-गुणस्थानवर्ती क्षपक है। मात्र पुरुषवेद के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी पुरुषवेद के उदय से श्रेणि आरंभ करने वाला ही होता है।[1] इसी बात को अब कारण सहित स्पष्ट करते हैं—

पुरुषवेद के सिवाय अन्य वेद से क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाला हास्यादि षट्क के साथ ही पुरुषवेद का क्षय करता है और पुरुषवेद से श्रेणि आरम्भ करने वाला हास्यषट्क का क्षय होने के बाद पुरुषवेद का क्षय करता है, यानि कि पुरुषवेद से जब क्षपकश्रेणि प्राप्त करे तब उसका क्षय करने में बहुत समय मिल सकता है तथा जिसका उदय हा उसकी उदीरणा भी होती है इसलिये पुरुषवेद से क्षपकश्रेणि स्वीकार करने वाले के उदय, उदीरणा द्वारा उसकी अधिक स्थिति टूटती है—भोगकर क्षय होती है। इस प्रकार पुरुषवेद से श्रेणि पर आरूढ़ हुए को ही उसका जघन्य स्थितिसंक्रम संभव है। अन्य वेद से श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले के संभव नहीं है।

अब सयोगिकेवलीगुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों के संबंध में विचार करते हैं—

संक्रम की अपेक्षा सयोगिकेवलीगुणस्थान में जिनका अन्त होता है, उन प्रकृतियों का सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में जघन्य

१ किसी भी वेद या कषाय से श्रेणि आरम्भ करने का अर्थ है कि उस-उस वेद या कषाय का उदय हो तब उस-उस श्रेणि का प्रारम्भ करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितिसंक्रम होता है। सयोग्यन्तक उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—नरकद्विक, तिर्यंचद्विक पंचेन्द्रियजाति के सिवाय जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन तेरह के सिवाय नामकर्म की नव्वै प्रकृतियां, साता-असातावेदनीय और उच्च-नीच-गोत्र। इन चौरानवै प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। क्योंकि सयोगि के इन चौरानवै प्रकृतियों की स्थिति सत्ता में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उस स्थिति को चरम समय में सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करके घटा करके अयोगि के कालप्रमाण करता है। यद्यपि अयोगिकेवलीगुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, परन्तु वह पूर्वोक्त प्रकृतियों के सत्ताकाल से छोटा होता है। जिससे सर्वा-पवर्तना द्वारा अयोगि के कालप्रमाण स्थिति को शेष रखकर बाकी की अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति को अपवर्तित करता है, जिससे यहाँ अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति को घटाने रूप अपवर्तनासंक्रम रूप स्थिति-संक्रम होता है। इसीलिये उन चौरानवै प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है।

सयोगि के चरमसमय में सर्वापवर्तना होने से जघन्य स्थिति-संक्रम का स्वामी सयोगिकेवली है। सर्वापवर्तना द्वारा उदयावलिका-रहित स्थिति की अपवर्तना होती है और उदयावलिका सकल करण के अयोग्य होने से उसकी अपवर्तना होती नहीं है। जिससे जिस समय सर्वापवर्तना प्रवर्तमान होती है, उस समय यत्स्थिति—कुल स्थिति उदयावलिका को मिलाने से जितनी हो उतनी समझना चाहिये।

शंका—जैसे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों की समयाधिक आवलिका स्थिति शेष रहे तब क्षीणमोहगुणस्थान में समयप्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है, उसी प्रकार अयोगिकेवलीगुणस्थान में उन चौरानवै प्रकृतियों की समयाधिक आवलिका स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति घटाने रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्य स्थितिसंक्रम क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—समस्त सूक्ष्म या बादर किसी भी प्रकार के योगरहित मेरु पर्वत की तरह स्थिर ऐसे अयोगिकेवली भगवान आठ करणों में से किसी भी करण को नहीं करते हैं, क्योंकि निष्क्रिय हैं, मात्र स्वत: उदय प्राप्त कर्म का ही वेदन करते हैं इसलिये सयोगिकेवली को ही उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम हाता है।

उक्त प्रकृतियों से शेष रही स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व, मिश्रमोह, अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप बारह कषाय स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति के सिवाय जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन बत्तीस प्रकृतियों का अपने-अपने क्षयकाल में पल्यमोपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड का जो अंतिम संक्रम होता है, वह उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है।[1]

इस प्रकार से जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामियों का विचार करते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी

मिथ्यात्व और मिश्र इन दो प्रकृतियों के क्षयकाल में सर्वाप-

---

१ मिथ्यात्व, मिश्र और अनन्तानुबंधि के सिवाय शेष प्रकृतियों को क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ हुआ जीव नौवें गुणस्थान में क्षय करता है और मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियों को क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव क्षय करते हैं। इन प्रकृतियों की स्थिति को क्षय करते-करते अंतिम पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण खंड रहे और उसको भी क्षय करते हुए वह अंतिम स्थितिघात के अन्तर्मुहूर्त काल के चरम समय में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने से सत्ता रहित होता है। इसीलिये इन प्रकृतियों का पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण जघन्यस्थितिसंक्रम कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रहे हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण उसके चरम खंड को संक्रमित करने वाले अविरत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त मनुष्य जघन्य स्थिति-संक्रम के स्वामी हैं।[1]

अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते अनिवृत्तिकरण में सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रखे हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरमखंड को सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने वाले चारों गति के सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी हैं।

शेष स्त्यानर्द्धित्रिक आदि छब्बीस प्रकृतियों को क्रमपूर्वक क्षय करते हुए सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रखे हुए अपने-अपने पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम खंड को संक्रमित करते नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य स्थिति-संक्रम के स्वामी हैं।

जिस काल में जघन्य स्थितिसंक्रम होता है, उस काल में स्त्री, नपुसंक वेद को छोड़कर शेष प्रकृतियों की यत्स्थिति, जितनी स्थिति का जघन्य संक्रम होता है, उससे एक आवलिका अधिक है और स्त्री-वेद, नपुसंकवेद की अन्तर्मुहूर्त अधिक है।

आवलिका और अन्तर्मुहूर्त अधिक यत्स्थिति इस प्रकार जानना चाहिये कि स्त्रीवेद और नपुसंकवेद को छोड़कर शेष प्रकृतियों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम स्थितिखंड नीचे की एक उदयावलिका छोड़कर संक्रमित होता है। क्योंकि उदयावलिका सकल करण के अयोग्य है। जिससे इन तीस प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-

---

१ मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का सर्वथा क्षय जिनकालिक प्रथमसंहननी मनुष्य ही करने वाले होने से उन्हीं को जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रमकाल में यत्स्थिति संक्रमित होने वाली स्थिति से एक आवलिका अधिक है ।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम खंड को अंतरकरण में रहते हुए संक्रमित करता है । अन्तरकरण में कर्मदलिक नहीं हैं, परन्तु ऊपर दूसरी स्थिति में हैं । अन्तरकरण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जिससे अन्तर्मुहूर्त सहित पल्योपम का असंख्यातवां भाग स्त्रीवेद, नपुंसकवेद की यत्स्थिति है ।

इस प्रकार से जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण, यत्स्थिति और स्वामित्व प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये ।[1] अब साद्यादि प्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है । उसके दो प्रकार हैं—१ मूलप्रकृति सम्बन्धी और २ उत्तरप्रकृतिसम्बन्धी । दोनों में से पहले मूलप्रकृति सम्बन्धी सादि आदि की प्ररूपणा करते हैं ।

मूलप्रकृति सम्बन्धी साद्यादि प्ररूपणा

मूलठिईण अजहन्नो सत्तण्ह तिहा चतुव्विहो मोहे ।
सेसविगप्पा साई अधुवा ठितिसंकमे होंति ।।५०।।

शब्दार्थ—**मूलठिईण अजहन्नो**—मूलप्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम, **सत्तण्ह**—सात का, **तिहा**—तीन प्रकार का, **चतुव्विहोमोहे**—मोहनीय का चार प्रकार का, **सेसविगप्पा**—शेष विकल्प, **साई अधुवा**—सादि, अध्रुव, **ठितिसंकमे**—स्थितिसंक्रम में, **होंति**—होते हैं ।

गाथार्थ—मोहनीय को छोड़कर शेष सात मूलप्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का और मोहनीय का चार प्रकार का है तथा शेष विकल्प सादि अध्रुव इस तरह दो प्रकार के हैं ।

१. उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिसक्रम के प्रमाण, यत्स्थिति, स्वामित्व का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जघन्य स्थिति के सिवाय उत्कृष्ट स्थिति तक के समस्त स्थितिस्थानों का अजघन्य में और इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के सिवाय जघन्यस्थिति तक के समस्त स्थानों का अनुत्कृष्ट में समावेश होता है। तात्पर्य यह है कि समस्त स्थितिस्थानों का जघन्य-अजघन्य इन दो में अथवा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट इन दो में समावेश होता है।

अब इनमें सादि आदि भंगों को घटित करते हैं।

मोहनीयकर्म को छोड़कर शेष मूल सात कर्मों का अजघन्य स्थिति-संक्रम अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का जघन्य स्थितिसंक्रम बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका शेष रहे, तब होता है, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन चार कर्मों का जघन्य स्थितिसंक्रम सयोगिकेवली के चरम समय में होता है। यह जघन्य स्थितिसंक्रम एक समय मात्र का होने से सादि और अध्रुव-सांत इस तरह दो प्रकार का है। इसके सिवाय शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है और वह अनादि काल से होता चला आ रहा है, जिससे अनादि है। अभव्य के अजघन्य स्थितिसंक्रम का अंत नहीं होने से अनन्त-ध्रुव एवं भव्य के बारहवें तथा तेरहवें गुण-स्थान के अंत समय में अंत होगा, इसलिये सांत-अध्रुव है। इस तरह मूल सात कर्मों के अजघन्य स्थितिसंक्रम के तीन भंग हैं।

मोहनीयकर्म का अजघन्य स्थितिसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—मोहनीयकर्म का जघन्य स्थितिसंक्रम क्षपक को सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान की समया-धिक आवलिका शेष स्थिति हो तब होता है। समयमात्र का होने से वह सादि-सांत है। उसके अतिरिक्त शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है। वह उपशांतमोहगुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है, किन्तु वहाँ से पतन हो तब होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले के अनादि तथा अभव्य एवं भव्य की अपेक्षा

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

अनुक्रम से ध्रुव और अध्रुव है।

उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य रूप शेष तीन विकल्प सादि और सांत है। वे इस प्रकार--जो उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं वही उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करते हैं। उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है और वह उत्कृष्ट संक्लेश सदैव होता नहीं, किन्तु बीच-बीच में हो जाता है, जिससे जब उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तब उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम होता है। इसके सिवाय शेष काल में अनुत्कृष्ट स्थितिसंक्रम होता है। इस प्रकार दोनों एक के बाद एक इस क्रम से होने के कारण सादि-सांत हैं तथा जघन्य स्थितिसंक्रम एक समय प्रमाण होता है, इसलिये वह सादि-सांत है। इसको पूर्व में कहा जा चुका है।

इस प्रकार मूल कर्मों के उत्कृष्ट आदि स्थितिसंक्रम में साद्यादि भंग जानना चाहिये। सुगमता से बोध करने के लिये जिसका प्रारूप पृष्ठ १२१ पर देखिए।

अब उत्तरप्रकृतियों के सादि आदि भंगों का विचार करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों के सादि आदि भंग

तिविहो धुवसंताणं चउव्विहो तह चरित्तमोहीणं।
अजहन्नो सेसासु दुविहो सेसा वि दुविगप्पा ॥५१॥

शब्दार्थ—**तिविहो**—तीन प्रकार का, **धुवसंताणं**—ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का, **चउव्विहो**—चार प्रकार का, **तह**—तथा, **चरित्तमोहीणं**—चारित्रमोहनीय प्रकृतियों का, **अजहन्नो**—अजघन्य, **सेसासुं**—शेष प्रकृतियों का, **दुविहो**—दो प्रकार का, **सेसा**—शेष विकल्प, **वि**—भी, **दुविगप्पा**—दो प्रकार के।

गाथार्थ—ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का है, चारित्रमोहनीय का चार प्रकार का और शेष

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

मूलप्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के साद्यादि भंगों का प्रारूप

प्रकृति	अजघन्य				जघन्य		अनुत्कृष्ट		उत्कृष्ट	
	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव
ज्ञाना-दर्शना अंतराय	×	जघन्य संक्रम-काल में	भव्य	अभव्य	१२ वें गुण. समयाधिक आवलिका शेष	विच्छेद होने से	परा-वर्त-मान होने से	परा-वर्त-मान होने से	परा-वर्त-मान होने से	परा-वर्त-मान होने से
नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु	×	,,	,,	,,	१३ वें गुण-स्थान के अंत में	,,	,,	,,	,,	,,
मोहनीय	क्षायोप-शमिक ११ वें गुण-स्थान से गिरने वाले के	भव्य	साद्य-प्राप्त के	,,	क्षपक १० वें गुण-स्थान में	,,	,,	,,	,,	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियों का दो प्रकार का है तथा शेष विकल्प भी दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—जिनकी सत्ता ध्रुव है, वे ध्रुवसत्ताका प्रकृतियां कहलाती हैं और ऐसी प्रकृतियां एक सौ तीस हैं। वे इस प्रकार—नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, तीर्थंकरनाम, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र और आयुचतुष्क इन अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों को कुल एक सौ अट्ठावन प्रकृतियों में से कम करने पर शेष एक सौ तीस उत्तर प्रकृतियां ध्रुवसत्ता वाली हैं। उन एक सौ तीस में से भी चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों को कम कर दिया जाये, क्योंकि उनके लिये पृथक से आगे कहा जा रहा है। अतएव एक सौ तीस में से चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों को कम करने पर शेष एक सौ पांच प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अपने-अपने क्षय के अंत में एक समय होने से सादि-अध्रुव (सान्त) है। उसके सिवाय शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है और वह अनादि काल से होता चला आने से अनादि है तथा भव्य-अभव्य की अपेक्षा अनुक्रम से अध्रुव और ध्रुव है।

चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—उपशमश्रेणि में इन पच्चीस प्रकृतियों का सर्वथा उपशम होने के बाद संक्रम नहीं होता है। वहाँ से पतन होने पर अजघन्य संक्रम होता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव (अनन्त) और भव्य के अध्रुव (सांत) अजघन्य संक्रम है।

शेष अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये चारों विकल्प उनकी सत्ता ही अध्रुव होने से सादि-सान्त (अध्रुव) हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के अजघन्य के सिवाय शेष जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये तीन विकल्प भी सादि-सांत भंग वाले हैं। उनमें से उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के सादि-सांत (अध्रुव) ये दो भंग मूल कर्म में जिस प्रकार से कहे गये हैं उसी प्रकार जानना चाहिये और जघन्य स्थितिसंक्रम तो अपने-अपने क्षय के अन्त में एक समय मात्र होने से सादि-सांत है।

इस प्रकार से उत्तरप्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य आदि स्थिति-संक्रम के सादि आदि चार भंगों को जानना चाहिये तथा इसके साथ ही स्थितिसंक्रम का वर्णन समाप्त हुआ।

उत्तरप्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के साद्यादि भंगों का प्रारूप पृष्ठ १२४ पर देखिए—

अब अनुभागसंक्रम की प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागसंक्रम प्ररूपणा

अनुभागसंक्रम प्ररूपणा के सात अनुयोगद्वार हैं—१. भेद, २. विशेषलक्षण, ३. स्पर्धकप्ररूपणा, ४. उत्कृष्ट अनुभागसंक्रमप्रमाण, ५. जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण, ६. स्वामित्व, और ७. सादि-आदि प्ररूपणा। इनमें से भेद, विशेषलक्षण और स्पर्धक इन तीन प्ररूपणाओं का विचार करते हैं।

भेद, विशेषलक्षण और स्पर्धक प्ररूपणा

ठितिसंकमोव्व तिविहो रसम्मि उव्वट्टणाइ विन्नेओ।
रसकारणओ नेयं घाइत्तविसेसणभिहाणं ॥५२॥

शब्दार्थ—**ठितिसंकमोव्व**—स्थितिसंक्रम के समान, **तिविहो**—तीन प्रकार का, **रसम्मि**—रस (अनुभाग) संक्रम में, **उव्वट्टणाइ**—उद्वर्तनादि, **विन्नेओ**—जानना चाहिये, **रसकारणओ**—रस के कारण से, **नेयं**—समझना चाहिये, **घाइत्तविसेसणभिहाणं**—घातित्व आदि विशेष नाम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरप्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के साद्यादि भंग

प्रकृतियाँ	अजघन्य				जघन्य		अनुत्कृष्ट		उत्कृष्ट	
	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव
चारित्र-मोहनीय की २५ प्रकृतियां	११वें गुण. से गिरने वाले के	भव्य	उस स्थान को अप्राप्त के	अभव्य	स्व क्षय काल में	भव्य	उत्कृष्ट से, परा-वर्तमान होने से	परा-वर्तमान होने से	अनुत्कृष्ट से, परा-वर्तमान होने से	परा-वर्तमान होने से
अध्रुव सत्ताका २८ प्रकृतियाँ	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से	×	×	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुव सत्ता वाली होने से
पूर्वोक्त से शेष १०५ प्रकृतियां	×	भव्यों के क्षय होने से	जघन्य स्थान अप्राप्तों के	अभव्य	स्वक्षय समय में	भव्य	परा-वर्तमान हाने से	परा-वर्तमान होने से	परा-वर्तमान होने से	परा-वर्तमान होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—अनुभागसंक्रम भी स्थितिसंक्रम की तरह उद्वर्तनादि भेद से तीन प्रकार का जानना चाहिये तथा घातित्व आदि विशेष नाम रस के कारण से समझना चाहिये।

विशेषार्थ—अनुभागसंक्रम के दो प्रकार हैं—१. मूलप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम २. उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम। मूल प्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के भेद से आठ प्रकार का है तथा उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण यावत् वीर्यान्तराय पर्यन्त एक सौ अट्ठावन प्रकार का है। मूल और उत्तरप्रकृतियों के रस का संक्रम होता है, जिससे उसके भी आठ और एक सौ अट्ठावन भेद होते हैं।

इस प्रकार से भेदप्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब विशेषलक्षण का कथन करते हैं—

स्थितिसंक्रम की तरह रससंक्रम के भी उद्वर्तना, अपवर्तना और प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम रूप तीन भेद हैं। सत्ता में रहे हुए अल्प रस में वृद्धि करना उद्वर्तना, सत्ता में विद्यमान रस को कम करना अपवर्तना और विवक्षित प्रकृति के रस को बध्यमान अन्यप्रकृति के रस रूप करना प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम कहलाता है। अर्थात् सत्ता में विद्यमान रस की जो वृद्धि, हानि होती है और एक रूप में रहा हुआ रस अन्य स्वरूप में जैसे कि सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप में होना। ये सब संक्रम के ही प्रकार हैं।

इस प्रकार से अनुभागसंक्रम का विशेष लक्षण जानना चाहिये। अब रसस्पर्धक की प्ररूपणा करते हैं—

रसस्पर्धक सर्वघाति, देशघाति और अघाति इस तरह तीन प्रकार के हैं। उनमें से अपने द्वारा घात किया जा सके, दबाया जा सके ऐसे केवलज्ञानादि गुण का जो सर्वथा घात करें, उन्हें सर्वघातिरसस्पर्धक कहते हैं। अपने द्वारा घात किया जा सके ऐसे ज्ञानादि गुण के मति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानादि रूप एक देश को जो दबायें, घात करें, वे देशघाति रसस्पर्धक कहलाते हैं और जो रसस्पर्धक आत्मा के किसी भी गुण को दबाते नहीं, परन्तु जैसे स्वयं चोर न हो लेकिन चोर के संबंध से चोर कहलाता है, उसी प्रकार सर्वघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सर्वघाति कहलाते हैं, उन्हें अघाति रसस्पर्धक कहते हैं।

ये अघातिस्पर्धक स्वयं आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करते, दबाते नहीं, मात्र सर्वघाति स्पर्धकों का जब तक सम्बन्ध है, तब तक उन जैसा काम करते हैं। जैसे निर्बल बलवान के साथ मिले तब वह बलवान जैसा काम करता है, वैसे ही अघातिरस सर्वघातिरस के सम्बन्ध वाला हो वहाँ तक उसी सरीखा कार्य करता है।

प्रकृतियों में जो सर्वघाति, देशघाति या अघाति पना कहा गया है वह सर्वघाति आदि रसस्पर्धकों के सम्बन्ध से समझना चाहिये। यानि उस-उस प्रकार के रस के सम्बन्ध से ही सर्वघाति, देशघाति या अघाति प्रकृतियां कहलाती हैं। इसी बात को गाथा में **'रसकारणओ नेयं घाइत्तविसेसणभिहाणं'** पद से स्पष्ट किया कि सर्वघाति आदि रस रूप कारण की अपेक्षा से ही कर्मप्रकृतियां सर्वघातिनी, देशघातिनी या अघातिनी कहलाती हैं।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं—

देसग्घाइरसेणं, पगईओ होंति देसघाईओ।
इयरेणियरा एमेव, ठाणसन्ना वि नेयव्वा ॥५३॥

शब्दार्थ—**देसग्घाइरसेणं**—देशघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से, **पगईओ**—प्रकृतियां, **होंति**—होती हैं, **देसघाईओ**—देशघातिनी, **इयरेणियरा**—इतर से इतर (सर्वघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सर्वघाति), **एमेव**—इसी प्रकार **ठाणसन्नावि**—स्थानसंज्ञा भी, **नेयव्वा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—देशघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से प्रकृतियां देशघाति और सर्वघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से प्रकृतियां सर्वघाति हैं। इसी प्रकार स्थानसंज्ञा भी जानना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—कर्मप्रकृतियों में सर्वघातित्व, देशघातित्व और अघातित्व ये रस के सम्बन्ध से है। देशघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से मतिज्ञानावरण आदि पच्चीस प्रकृतियां देशघाति, सर्वघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से केवलज्ञानावरणादि बीस प्रकृतियां सर्वघाति और अघाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सातावेदनीय आदि पचहत्तर प्रकृतियां अघाति कहलाती हैं।

आत्मा के ज्ञानादि गुणों को सूर्य और मेघ के दृष्टान्त से जो प्रकृतियां सर्वथा घात करती हैं वे सर्वघाति, गुणों के एक देश को देश से घात करती हैं, वे देशघाति और जो प्रकृतियां आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करतीं, परन्तु साता आदि उत्पन्न करती हैं, वे कर्मप्रकृतियां अघाति कहलाती हैं।

इसी प्रकार एकस्थानक आदि स्थानसंज्ञा भी रस के सम्बन्ध से ही जानना चाहिये। बंध की अपेक्षा एक सौ बीस प्रकृतियों में से मति-श्रुत-अवधि और मनपर्यायज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु-अवधिदर्शनावरण, पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क और अन्तरायपंचक ये सत्रह प्रकृतियां एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाली हैं और शेष एक सौ तीन प्रकृतियां द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रस वाली हैं।

कर्मप्रकृतियों में एकस्थानक आदि जो स्थानसंज्ञा कही है, वह रस—अनुभाग रूप कारण की अपेक्षा से है। जैसे कि जिन मतिज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों में एकस्थानक—अति मंद रस होता है, वे एकस्थानक रस वाली कहलाती हैं। इसी प्रकार द्विस्थानक आदि रस वाली भी समझ लेना चाहिये। अध्यवसायानुसार जिन प्रकृतियों में जैसा रस उत्पन्न हुआ हो, उन प्रकृतियों में उसके अनुरूप एकस्थानक आदि संज्ञा समझना चाहिये।

इस प्रकार से बंधापेक्षा प्रकृतियों की घातित्व और स्थानसंज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानना चाहिये। किन्तु सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय का बंध नहीं होने से उनकी स्थान आदि संज्ञा नहीं बताई है। अत: अब उनके तथा कतिपय प्रकृतियों के विषय में संक्रम की अपेक्षा कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं--

सव्वग्घाइ दुठाणो मीसायवमणुयतिरियआऊणं ।
इगदुट्ठा णो सम्मंमि तदियरोण्णासु जह हेट्ठा ॥५४॥

शब्दार्थ--**सव्वग्घाइ**—सर्वघाति, **दुठाणो**—द्विस्थानक, **मीसायवमणुयतिरियआऊणं**—मिश्रमोहनीय, आतप और मनुष्य, तिर्यंच आयु का, **इगदुट्ठाणो**—एकस्थानक, द्विस्थानक, **सम्मंमि**—सम्यक्त्वमोहनीय में, **तदयिरो**—उससे इतर (देशघाति), **अण्णासु**—अन्य प्रकृतियों में, **जह**—जैसा, **हेट्ठा**—पूर्व में।

गाथार्थ—मिश्रमोहनीय, आतप और मनुष्य-तिर्यंच आयु का संक्रम की अपेक्षा रस सर्वघाति और द्विस्थानक होता है। सम्यक्त्वमोहनीय का संक्रम की अपेक्षा रस एकस्थानक, द्विस्थानक और देशघाति होता है तथा अन्य प्रकतियों में जैसा पूर्व में कहा है, उसी प्रकार संक्रम की अपेक्षा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अनुभाग—रससंक्रम अधिकार में कितना और कैसा रस संक्रमित होता है, इसका विचार करना अभीष्ट है। अतएव इस गाथा में किन प्रकृतियों का कितना और कैसा रस संक्रमित होता है, यह स्पष्ट करते हैं—

मिश्रमोहनीय, आतप और मनुष्य-तिर्यंच आयु का रस द्विस्थानक और सर्वघाति संक्रमित होता है। उसमें से मिश्रमोहनीय का रस तो सर्वघाति और मध्यम द्विस्थानक ही होता है। इसीलिये उसका संक्रम की अपेक्षा सर्वघाति और मध्यम द्विस्थानक रस बतलाया है।

आतप, मनुष्यायु और तिर्यंचायु का यद्यपि द्वि, त्रि और चतु:-स्थानक रस होता है। क्योंकि इनका वैसा रस बंधता है, किन्तु तथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव से द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है तथा इन प्रकृतियों का रस अघाति है, जिससे स्वभावत: ही आत्मा के किसी गुण को आवृत नहीं करती हैं। लेकिन सर्वघाति अन्यान्य प्रकृतियों के रस के सम्बन्ध से वे सर्वघाति हैं, अघाति नहीं हैं। इसीलिये ऐसी प्रकृतियों को सिद्धान्त में सर्वघातिप्रतिभाग अर्थात् सर्वघातिसदृश कहा है, परन्तु सर्वघाति नहीं। क्योंकि घातिप्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने के बाद तेरहवें गुणस्थान में वर्तमान चार अघाति कर्मों का अनुभाग आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करता है। यदि अपने स्वभाव से ही सर्वघाति होता तो केवलज्ञानावरणादि के समान आत्मा के गुणों को आच्छादित करता।

सम्यक्त्वमोहनीय का एकस्थानक और मन्द द्विस्थानक तथा देशघाति रस संक्रमित होता है, अन्य प्रकार का नहीं और इसका कारण है उसमें अन्य प्रकार का रस होना असम्भव है।

उपर्युक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों के बारे में इसी ग्रंथ के तीसरे बंधव्य अधिकार में बंध की अपेक्षा जैसा एकस्थानक एवं सर्वघाति आदि रस कहा है, यहाँ संक्रम के संदर्भ में भी उसी प्रकार का रस जानना चाहिये। जितना एवं जैसा बंधता है, उतना और वैसा ही संक्रमित होता है।

इस प्रकार सामान्य से रस का संक्रम जानना चाहिये। अब यहाँ उत्कृष्ट और जघन्य रस के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।

संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट रस

दुट्ठाणो च्चिय जाणं ताणं उक्कोसओ वि सो चेव।
संकमइ वेयगे वि हु सेसासुक्कोसओ परमो ॥५५॥

शब्दार्थ—**दुट्ठाणो**—द्विस्थनाक, **च्चिय**—ही, **जाणं**—जिनका, **ताणं**—उनका, **उक्कोसओ**—उत्कृष्ट से, **वि**—भी, **सो चेव**—वही, **संकमइ**—संक्रमित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, **वेयगे**—वेदकसम्यक्त्व का, **वि**—भी, **हु**—नियम से, **सेसासुवकोसओ**—शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट, **परमो**—चरम—चतुःस्थानक।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों का रस संक्रम के विषय में द्विस्थानक ही होता है, उनका उत्कृष्ट से वही रस संक्रमित होता है। वेदकसम्यक्त्व का भी नियम से उतना ही तथा शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट चतुःस्थानक रस संक्रमित होता है।

विशेषार्थ—मिश्रमोहनीय, आतप, मनुष्यायु और तिर्यंचायु रूप प्रकृतियों का द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है। असंभवता के कारण अथवा तथास्वभावरूप कारण से अन्य प्रकार का रस संक्रमित नहीं हो सकता है। इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट भी द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है, किन्तु अन्य किसी प्रकार का रस संक्रमित नहीं होता है।

वेदकसम्यक्त्व—सम्यक्त्वमोहनीय का भी उत्कृष्ट द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है। यद्यपि उसका एकस्थानक रस भी है, लेकिन वह जघन्य है तथा त्रि अथवा चतुःस्थानक रस मिश्र एवं सम्यक्त्व मोहनीय का होता ही नहीं है तथा शेष समस्त प्रकृतियों का संक्रम की अपेक्षा उत्कृष्ट से चतुःस्थानक रस होता है।

इस प्रकार से संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट रस का स्वरूप जानना चाहिये। अब जघन्य रस कितने स्थानीय संक्रमित किया जाता है? इसको स्पष्ट करते हैं।

संक्रमापेक्षा जघन्य रस

एकट्ठाणजहन्नं संकमइ पुरिससम्मसंजलणे।
इयरासु दोट्ठाणि य जहण्णरससंकमे फड्डं ॥५६॥

शब्दार्थ—**एकट्ठाण**—एकस्थानक, **जहन्नं**—जघन्य, **संकमइ**—संक्रमित होता है, **पुरिससम्मसंजलणे**—पुरुषवेद, सम्यक्त्वमोहनीय और संज्वलनचतुष्क

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

का, **इयरासु**—इतर प्रकृतियों का, **दोट्ठाणि**—द्विस्थानक, **य**—और, **जहण्ण-रस**—जघन्य रस, **संकमे**—संक्रम में, **फड्डं**—स्पर्धक ।

गाथार्थ—पुरुषवेद, सम्यक्त्वमोहनीय और संज्वलनचतुष्क का एकस्थानक जघन्य रसस्पर्धक तथा इतर प्रकृतियों का द्विस्थानक जघन्य रसस्पर्धक संक्रमित होता है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेद, सम्यक्त्वमोहनीय एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का एकस्थानक रस सम्बन्धी अल्पातिअल्प रस वाला जो स्पर्धक, वह जब संक्रमित हो तब उसे उनका जघन्य अनुभाग-संक्रम हुआ कहते हैं ।[1]

इतर—शेष कर्मप्रकृतियों के जघन्य रससंक्रम के विषय में द्विस्थानक रसस्पर्धक समझना चाहिये । अर्थात् शेष प्रकृतियों में उनका सर्व-जघन्य—अल्पातिअल्प रस वाला द्विस्थानक रसस्पर्धक जब संक्रमित हो तब वह उनका जघन्य अनुभागसंक्रम हुआ कहलाता है ।

यद्यपि मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण तथा अन्तरायपंचक इन प्रकृतियों का एक-स्थानक रस भी बंध में होता है—बंधता है, लेकिन क्षयकाल में जब जघन्य रसस्पर्धक संक्रमित होता है, तब द्विस्थानक रस भी संक्रमित होता है अर्थात् द्विस्थानक रस के साथ एकस्थानक रस भी संक्रमित होता है, केवल एकस्थानक रस संक्रमित नहीं होता है । इसीलिये इन प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम का विषयभूत एकस्थानक रस नहीं कहा है ।

कदाचित् यहाँ यह कहा जाये कि जब उपर्युक्त प्रकृतियों का एक-स्थानक रस बंधता है तब जघन्य रससंक्रमकाल में एकस्थानक रस

---

१. यह संक्रम कब होता है ? इसका स्पष्टीकरण आगे संक्रमस्वामित्व प्ररू-पणा में किया जा रहा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों संक्रमित नहीं होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जघन्य रस-संक्रमकाल में तथाजीवस्वभाव से केवल एकस्थानक रस संक्रमित नहीं होता है, किन्तु पूर्वबद्ध द्विस्थानक और एकस्थानक दोनों संक्रमित होते हैं। इसीलिये इन प्रकृतियों का संक्रम के विषय में एकस्थानक रस नहीं कहा है। यदि इन प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम के विषय में एकस्थानक रस कहा होता तो अंत में जब जघन्य रससंक्रम हो तब केवल एकस्थानक रस का ही हो, द्विस्थानक का हो ही नहीं सकता है, किन्तु संक्रम तो द्विस्थानक रस का भी होता है, इसलिये एकस्थानक रस का संक्रम न कहकर द्विस्थानक रस का संक्रम कहा है। द्विस्थानक में एकस्थानक समाहित हो जाता है, किन्तु एकस्थानक में द्विस्थानक समाहित नहीं हो सकता है।

यहाँ रस-अनुभाग के संक्रम का आशय उस-उस प्रकार के रस वाले पुद्गलों का संक्रम समझना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य रससंक्रम का प्रमाण जानना चाहिये। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रमप्रमाण

प्रकृतियां	स्थानप्रमाण	घातिप्रमाण
सम्यक्त्वमोहनीय	द्विस्थानक	देशघाति
मिश्र, मनुष्य-तिर्यंचायु आतप	,,	सर्वघाति
उक्त से शेष	चतुःस्थानक	सर्वघाति

जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण

प्रकृतियां	स्थानप्रमाण	घातिप्रमाण
सम्यक्त्व, पुरुषवेद, संज्वलन-चतुष्क	एकस्थानक	देशघाति
उक्त से शेष	द्विस्थानक	सर्वघाति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब उतने उतने रस का संक्रम करने वाला कौन होता है ? इसको स्पष्ट करने के लिये स्वामित्वप्ररूपणा करते हैं। उसमें भी पहले उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों को बतलाते हैं।

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम-स्वामित्व

बंधिय उक्कोसरसं आवलियाओ परेण संकामे।
जावंतमुहू मिच्छो असुभाणं सव्वपयडीणं ॥५७॥

शब्दार्थ—**बंधिय**—बांधकर, **उक्कोसरसं**—उत्कृष्ट रस को, **आवलियाओ**—आवलिका के, **परेण**—बाद, **संकामे**—संक्रमित करते हैं, **जावंतमुहू**—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि, **असुभाणं**—अशुभ, **सव्वपयडीण**—सभी प्रकृतियों का।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव सभी अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट रस बांधकर आवलिका के बाद अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसको संक्रमित करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी का निर्देश किया है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मोहनीय की अट्ठाईस, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, प्रथम के सिवाय शेष पांच संहनन एवं पांच संस्थान, अशुभ वर्णादि नवक, उपघात, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक, कुल मिलाकर अठासी अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट रस बांधकर बंधावलिका के बीतने के बाद बांधे हुए उस रस को सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त से लेकर सभी चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रमित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त को भी ग्रहण करने का कारण यह है कि यद्यपि उपर्युक्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का बंध संज्ञी मिथ्यादृष्टि करते हैं परन्तु वैसा रस बांधकर एकेन्द्रियादि में उत्पन्न हों तो वे एकेन्द्रियादि जीव उत्कृष्ट रस का संक्रम कर सकते हैं।

इस संदर्भ में इतना विशेष जानना चाहिये कि मात्र असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंच, मनुष्य और आनतादि कल्प के देव उत्कृष्ट रस को संक्रमित नहीं करते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने पर भी तीव्र संक्लेश का अभाव होने से वे उपर्युक्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को बांधते नहीं हैं और उत्कृष्ट रस के बंध का अभाव होने से वे उत्कृष्ट रस को संक्रमित भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—भोगभूमिज एवं आनत आदि कल्प के देव तीव्र संक्लेश नहीं होने के कारण चाहे उत्कृष्ट रस को न बांधें परन्तु जिन संज्ञियों में से वे आते हैं, वहाँ बंधे हुए उत्कृष्ट रस को लेकर आते हैं, तो फिर वे क्यों संक्रमित नहीं करते हैं ? जैसे एकेन्द्रिय पूर्वभव के बंधे हुए उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं।

उत्तर—गाथा में कहा है कि मिथ्यादृष्टि पुण्य अथवा पाप प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रख सकते हैं। युगलिकों और आनत आदि देवों की आयु तो प्रशस्त प्रकृति होने से शुद्ध लेश्या से बंधती है। जिस लेश्या से बंधती है, वह लेश्या मनुष्य, तिर्यंच की अन्तर्मुहूर्त आयु शेष हो तब होती है। अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में प्रशस्त लेश्या होने के कारण पूर्व में उत्कृष्ट रस कदाचित् बांधा हो, तथापि वह घट जाता है। जिससे अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस की सत्ता को लेकर युगलिक अथवा आनतादि में जाता नहीं। इसलिये वे उत्कृष्ट रस के संक्रम के अधिकारी नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट रस का संक्रम बंधावलिका के बाद अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इससे अधिक समय नहीं। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पश्चात् शुभ परिणामों के योग से उसके उत्कृष्ट रस का विनाश सम्भव है। मिथ्यादृष्टि जीव पाप या पुण्य प्रकृति के उत्कृष्ट रस को यथायोग्य रीति से बांधे तो भी बन्ध होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद उन शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का संक्लेश द्वारा और अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का विशुद्धि द्वारा अवश्य नाश करता है, इसीलिये उनको उत्कृष्ट रस के संक्रम का काल अन्तर्मुहूर्त कहा है।

आयावुज्जोवोराल पढमसंघयणमणदुगाउणं।
मिच्छा सम्मा य सामी सेसाणं जोगि सुभियाणं ॥५८॥

शब्दार्थ—**आयावुज्जोवोराल**—आतप, उद्योत, औदारिक (सप्तक), **पढमसंघयणमणदुगाउणं**—प्रथम संहनन, मनुष्यद्विक, आयुचतुष्क के, **मिच्छा**—मिथ्यादृष्टि, **सम्मा**—सम्यग्दृष्टि, **य**—और, **सामी**—स्वामी, **सेसाणं**—शेष, **जोगि**—सयोगिकेवली, **सुभियाणं**—शुभ प्रकृतियों के।

गाथार्थ—आतप, उद्योत, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन, मनुष्यद्विक और आयुचतुष्क के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये और शेष शुभ प्रकृतियों के सयोगिकेवली हैं।

विशेषार्थ—आतप, उद्योत, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन और मनुष्यद्विक इन बारह प्रकृतियों के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव समझना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्यग्दृष्टि जीव शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का विनाश नहीं करते हैं, किन्तु विशेषतः एक सौ बत्तीस सागरोपम तक उसको सुरक्षित रखते हैं, जिससे आतप, उद्योत के सिवाय उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को सम्यग्दृष्टि होने पर भी बांधकर बंधावलिका के अनन्तर उस उत्कृष्ट रस को उपर्युक्त काल पर्यन्त सम्यग्दृष्टि जीव संक्रमित करते हैं तथा उपर्युक्त काल पर्यन्त उस रस को सुरक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखकर बाद में मिथ्यात्व में भी जाते हैं, जिससे मिथ्यादृष्टि भी उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं।

आतप, उद्योत का उत्कृष्ट अनुभाग मिथ्यादृष्टि ही बांधते हैं। इसलिये बंधावलिका के व्यतीत होने के अनन्तर उन दोनों के उत्कृष्ट रस के संक्रम का तो उनको अभाव नहीं है और उत्कृष्ट रस सत्ता में होने पर भी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में जाने पर सम्यग्दृष्टि भी उन दो प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं। क्योंकि शुभ प्रकृति होने से सम्यग्दृष्टि उन दोनों के उत्कृष्ट रस को कम नहीं करते हैं, परन्तु सुरक्षित रखते हैं, जिससे सम्यग्दृष्टि को भी उनके उत्कृष्ट रस के संक्रम में कोई विरोध नहीं है।

चार आयु के उत्कृष्ट रस को सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि बांधकर बंधावलिका के बीतने के बाद उस-उस आयु की समयाधिक आवलिका शेष रहे तब तक सम्यग् अथवा मिथ्या इस प्रकार दोनों दृष्टि वाले संक्रमित करते हैं। अर्थात् चार आयु के उत्कृष्ट रस-संक्रम के स्वामी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों हैं।

यद्यपि तीन आयु का उत्कृष्ट रसबंध मिथ्यादृष्टि और देवायु का अप्रमत्त जीव करता है। जिससे जहाँ-जहाँ बंध करे, वहाँ-वहाँ तो उत्कृष्ट रस का संक्रम घटित हो सकता है और उत्कृष्ट रस सत्ता में होने पर भी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में जाते सम्यग्दृष्टि के तीन आयु के उत्कृष्ट रस का और सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जाते मिथ्यादृष्टि को देवायु के उत्कृष्ट रस का संक्रम घट सकता है।

शेष सातावेदनीय, देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियसप्तक, आहारक-सप्तक, तैजससप्तक, समचतुरस्रसंस्थान, शुभवर्णादि एकादश, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, अगुरुलघु, पराघात, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकर और उच्चगोत्र रूप चौपन शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को अपने-अपने बंधविच्छेद के समय बांधकर बंधावलिका के बाद सयोगिकेवली के चरम समय पर्यन्त उस उत्कृष्ट रस को संक्रमित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। इसलिये इन चौपन प्रकृतियों के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी सयोगिकेवली जीव जानना चाहिये तथा गाथोक्त 'च' शब्द से उन-उन प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद जिस-जिस गुणस्थान में वर्तता हो, उस-उस गुणस्थानवर्ती जीव भी समझना चाहिये। जैसे कि सातावेदनीय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र के उत्कृष्ट रस को बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव और शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को नौवें, दसवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी संक्रम करने वाले जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों का वर्णन जानना चाहिये। तद्दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम-स्वामी

प्रकृतियां	स्वामी	उत्कृष्ट संक्रम सततकाल
नरकायुरहित शेष ८८ अशुभ प्रकृतियां	युगलिक आनतादि कल्पवासी देवों को छोड़कर सभी मिथ्यादृष्टि जीव	अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त
आतप, उद्योत, मनुष्यद्विक औदारिकसप्तक, वज्रऋषभनाराच संहनन	सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि सभी जीव	१३२ सागरोपम पर्यन्त
आयुचतुष्क	उत्कृष्ट अनुभाग बंधक सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि	समयाधिक आवलिका शेष पर्यन्त
पूर्वोक्त से शेष ५४ प्रकृति	क्षपक स्वस्वक्षय काल में	क्षयकाल से लेकर सयोगि पर्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामियों का निर्देश करते हैं। जघन्य अनुभागसंक्रम किसको हो सकता है ? इसका परिज्ञान कराने के लिये गाथासूत्र कहते हैं।

जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामित्व की सामान्य भूमिका

खवगस्संतरकरणे अकए घाईण जो उ अणुभागो।
तस्स अणंतो भागो सुहुमेगिंदिय कए थोवो ॥५९॥

शब्दार्थ—**खवगस्संतरकरणे**—क्षपक के अन्तरकरण, **अकए**—न किया हो, **घाईण**—घाति प्रकृतियों का, **जो उ अणुभागो**—जो भी अनुभाग, **तस्स**—उसका, **अणंतो भागो**—अनन्तवां भाग, **सुहुमेगिंदिय**—सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, **कए**—करने के बाद, **थोवो**—स्तोक, अल्प।

गाथार्थ—अन्तरकरण न किया हो, तब तक क्षपक के घाति-प्रकृतियों का जो भी अनुभाग (सत्ता में) होता है, उसका अनन्तवां भाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय के होता है और अन्तरकरण करने के बाद स्तोक, अल्प होता है।

विशेषार्थ—जहाँ तक अन्तरकरण नहीं होता है, वहाँ तक सर्वघाति अथवा देशघाति कर्मप्रकृतियों का जो अनुभाग क्षपक जीव के सत्ता में होता है, उसका अनन्तवां भाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के सत्ता में होता है। अर्थात् जब तक अन्तरकरण किया हुआ नहीं होता है, तब तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय के सत्तागत अनुभाग से क्षपक के सर्वघाति या देशघाति प्रकृतियों का सत्तागत अनुभाग अनन्तगुणा होता है, परन्तु अन्तरकरण होने के बाद सूक्ष्म एकेन्द्रिय के सत्तागत अनुभाग से रस-घात द्वारा बहुत-सा रस कम हो जाने से क्षपक के घातिकर्मप्रकृतियों का अनुभाग अत्यल्प होता है। तथा—

सेसाणं असुभाणं केवलिणो जो उ होई अणुभागो।
तस्स अणंतो भागो असण्णिपंचेंदिए होइ ॥६०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**सेसाणं**—शेष, **असुभाणं**—अशुभ प्रकृतियों का, **केवलिणो**—केवली को, **जो उ**—जो भी, **होइ**—होता है, **अणुभागो**—अनुभाग, **तस्स**—उसका, **अणंतो भागो**—अनन्तवां भाग, **असण्णिपंचेंदिए**—असंज्ञी पंचेन्द्रिय को, **होइ**—होता है।

गाथार्थ—शेष अशुभ प्रकृतियों का केवली के जो अनुभाग होता है, उसका अनन्तवां भाग असंज्ञी पंचेन्द्रिय के होता है।

विशेषार्थ—शेष अशुभ प्रकृतियों का अर्थात् असातावेदनीय, प्रथम को छोड़कर पांच संस्थान और पांच संहनन, अशुभ वर्णादि नवक, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अस्थिर, अशुभ, अपर्याप्त, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र रूप तीस अघाति अशुभ प्रकृतियों का केवली भगवन्तों को सत्ता में जो अनुभाग होता, उसका अनन्तवां भाग असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सत्ता में होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय के अनुभाग से केवली के उक्त अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा होता है। जो अनुभाग जिसके अनन्तवें भाग हो उससे वह अनन्तगुण होता है, यानि कि सर्वघाति अथवा देशघाति प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का संक्रम क्षपक के अन्तरकरण करने के बाद जानना चाहिये और शेष असातावेदनीय आदि अशुभ अघातिप्रकृतियों का अनुभागसंक्रम सयोगिकेवली को नहीं, किन्तु जिसके रस की सत्ता का अधिक नाश हो गया है, ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रियादि के जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है

यहाँ एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि मिथ्यादृष्टि शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को संक्लेश द्वारा और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को विशुद्धि द्वारा अन्तर्मुहूर्त के बाद अवश्य नाश करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। अतएव जघन्य अनुभाग किसको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव है, उसके ज्ञान से यह समझ में आ जायेगा कि जघन्य अनुभागसंक्रम कौन करता है।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि सम्यग्दृष्टि अशुभ प्रकृतियों और शुभ प्रकृतियों के रस का क्या करता है—

सम्मद्दिट्ठी न हणइ सुभाणुभागं दु चेव दिट्ठीणं।
सम्मत्तमीसगाणं उक्कोसं हणइ खवगो उ ॥६१॥

शब्दार्थ—**सम्मद्दिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि, **न हणइ**—कम नहीं करता है, **सुभाणुभागं**—शुभ अनुभाग को, **दु चेव दिट्ठीणं**—और दोनों दृष्टियों के, **सम्मत्तमीसगाणं**—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट रस का, **हणइ**—विनाश करता है, **खवगो**—क्षपक, **उ**—और।

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि शुभ अनुभाग को कम नहीं करता है तथा सम्यक्त्व एवं मिश्र मोहनीय इन दो दृष्टियों के उत्कृष्ट रस का क्षपक विनाश करता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, प्रथम संस्थान और संहनन, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजससप्तक, शुभवर्णादि एकादश, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन छियासठ पुण्यप्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश नहीं करता है परन्तु दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सुरक्षित रखता है।

यहाँ दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त कहने का कारण यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का छियासठ सागरोपम उत्कृष्ट निरंतर काल है। उतने काल तक जीव सम्यक्त्व का पालन कर अन्तर्मुहूर्त के लिये मिश्र में जाकर पुनः दूसरी बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है और उसे भी छियासठ सागरोपम पर्यन्त सुरक्षित रखता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् या तो मोक्ष प्राप्त करता है अथवा गिरकर मिथ्यात्व में जाता है। यदि मोक्ष में जाये तो सर्वथा कर्म का क्षय करता है और यदि मिथ्यात्व में जाये तो वहाँ जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर उत्कृष्ट रस का नाश करता है। जिससे ऊपर के गुणस्थानों में दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त ही पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को सुरक्षित रखता है।

सम्यक्त्वादि गुणस्थानवर्ती जीव परिणाम प्रशस्त होने से पुण्य प्रकृतियों के रस को सुरक्षित रख सकता है और पाप प्रकृतियों के रस को कम करता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि अन्तर्मुहूर्त से अधिक पुण्य अथवा पाप किसी भी प्रकृति के रस को सुरक्षित नहीं रख सकता है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि ये दोनों सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के उत्कृष्ट रस का नाश नहीं करते हैं, परन्तु क्षपक ही नाश करता है। क्षपक क्षयकाल में उन दोनों प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का विनाश करता है।[1]

इस प्रकार जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी कौन हो सकता है? इसकी सम्भावना का विचार करने के पश्चात् अब जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामित्व की प्ररूपणा करते हैं।

जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामित्व

घाईणं जे खवगो जहण्णरससंकमस्स ते सामी।
आऊण जहण्णठिइ-बंधाओ आवली सेसा ॥६२॥

शब्दार्थ—**घाईणं**—घाति प्रकृतियों का, **जे खवगो**—जो क्षपक, **जहण्ण-रससंकमस्स**—जघन्य रससंक्रम का, **ते**—वह, **सामी**—स्वामी, **आऊण**—

---

१ सम्मदिट्ठि न हणइ सुभाणुभागं असम्मदिट्ठी वि।
सम्मत्तमीसगाणं उक्कस्सं वज्जिया खवणं॥

—कर्मप्रकृति संक्रमकरण गा. ५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयु का, **जहण्णठिइ**—जघन्यस्थिति, **बंधाओ**—बंध से, **आवली सेसा**—एक आवलिका शेष तक।

गाथार्थ—जो क्षपक है, वह घाति प्रकृतियों के जघन्य रस-संक्रम का स्वामी है। आयु के जघन्य रससंक्रम के स्वामी उस-उस आयु के जघन्य स्थितिबंध से लेकर अपनी समयाधिक आवलिका शेष रहने तक के जीव हैं।

विशेषार्थ—घातिकर्म प्रकृतियों के जघन्य रससंक्रम के स्वामी क्षपकश्रेणि में वर्तमान जीव हैं। वे क्षपकश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद स्थितिघातादि द्वारा क्षय करते-करते उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जहाँ-जहाँ संक्रमित करते हैं, वहाँ-वहाँ जघन्य रस को भी संक्रमित करते हैं। अर्थात् अन्तरकरण करने के बाद अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती क्षपक नव नोकषाय और संज्वलनचतुष्क का अन्तरकरण करने के बाद उनका अनुक्रम से क्षय करने पर उस-उस प्रकृति की जघन्य स्थिति के संक्रमकाल में जघन्य रस भी संक्रमित करते हैं।[1]

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, निद्राद्विक, इन सोलह प्रकृतियों का समयाधिक आवलिका रूप शेष स्थिति में वर्तमान क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।[2]

---

१ क्षपक सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती समयाधिक आवलिका शेष रहे, उसी समय जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी हैं। अतः संज्वलन लोभ के जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामी वे ही सम्भव हैं।

२ सामान्य से यह कथन जानना चाहिये। क्योंकि निद्राद्विक का तो असंख्येयभागाधिक आवलिकाद्विक शेष रहने पर क्षीणकषायगुणस्थान में जघन्य अनुभागसंक्रम होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का क्षपक जीव अपने-अपने चरम खण्ड के संक्रमकाल में जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।

चार आयु की जघन्य स्थिति को बांधकर बंधावलिका के जाने के बाद उस-उस आयु की समयाधिक एक आवलिका शेष रहे वहाँ तक जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।[1] यहाँ जघन्य स्थिति का ग्रहण इसलिये किया है कि आयुकर्म में जघन्य स्थिति बंधे तब रस भी जघन्य बंधता है। तथा—

अणतित्थुव्वलगाणं संभवओ आवलिए परएणं।
सेसाणं इगिसुहुमो घाइयअणुभागकम्मंसो ॥६३॥

शब्दार्थ—**अणतित्थुव्वलगाणं**—अनन्तानुबंधी, तीर्थंकरनाम और उद्वलन योग्य प्रकृतियों के, **संभवओ**—सम्भव से, **आवलिए परएणं**—आवलिका के बाद, **सेसाणं**—शेष प्रकृतियों के, **इगिसुहुमो**—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, **घाइयअणुभागकम्मंसो**—जिसने प्रभूत अनुभाग का घात किया है।

गाथार्थ—जघन्य रसबंध के सम्भव से लेकर आवलिका के बाद अनन्तानुबंधी, तीर्थंकर और उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग को संक्रमित करता है। शेष प्रकृतियों के जघन्य

---

१ किसी भी कर्म की बंध होने तक उद्वर्तना होती है। अर्थात् उद्वर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध है, किन्तु अपवर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है। बंध हो या न हो पर अपवर्तनायोग्य अध्यवसाय चाहे जब होते हैं। चार आयु की जघन्य स्थिति बंधने पर उसका रस भी जघन्य बंधता है। यदि उस जघन्य आयु के बंधकाल तक में उसके रस की उद्वर्तना न हो तो वैसा ही जघन्य रस सत्ता में रहता है और उसे समयाधिक आवलिका शेष रहे वहाँ तक संक्रमित करता है तथा जहाँ-जहाँ अन्यस्वरूप करने रूप संक्रम घटित हो सकता है, वहाँ-वहाँ वह संक्रम तथा अन्य स्थान में उद्वर्तना, अपवर्तना जो सम्भव हो वह समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस का संक्रम जिसने सत्ता में से प्रभूत अनुभाग का घात किया है ऐसा सूक्ष्म एकेन्द्रिय करता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबंधिचतुष्क, तीर्थंकरनाम और उद्‌वलन-योग्य—नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारक-सप्तक, उच्चगोत्र रूप इक्कीस प्रकृतियों का जघन्य रसबंध के संभव से लेकर बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद यानि कि उक्त प्रकृतियों का जघन्य रस बांधकर आवलिका—बंधावलिका के बीतने के अनन्तर जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वैक्रियसप्तक, देवद्विक, नरकद्विक का जघन्य अनुभाग असंज्ञी पंचेन्द्रिय संक्रमित करता है। मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का सूक्ष्म-निगोदिया जीव, आहारकसप्तक का अप्रमत्त, तीर्थंकरनाम का अवि-रतसम्यग्दृष्टि, अनन्तानुबंधिकषाय का पश्चात्कृतसम्यक्त्व—सम्यक्त्व से गिरा हुआ मिथ्यादृष्टि जघन्य रस संक्रमित करता है। असंज्ञी आदि उस-उस प्रकृति का जघन्य रस बांधकर बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित कर सकते हैं।

इन छब्बीस प्रकृतियों का जघन्यानुभागसंक्रम एक समय मात्र होता है, तत्पश्चात् अजघन्य संक्रम प्रारम्भ होता है।

पूर्वोक्त से शेष रही सत्तानवै प्रकृतियों का जिसने सत्ता में से बहुत से रस का नाश किया है, ऐसा तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय को जितने रस की सत्ता होती है, उससे भी अल्प रस को बांधने वाला और उस भव में या अन्य द्वीन्द्रियादि भव में रहते जब तक अन्य अधिक अनुभाग न बांधे, तब तक जघन्य अनुभाग को संक्रमित करता हुआ सूक्ष्म एकेन्द्रिय तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी है। क्योंकि अत्यन्त अल्प रस की सत्ता वाला और अत्यन्त अल्प रस बांधता सूक्ष्म एकेन्द्रिय तेजस्कायिक या वायुकायिक उसी भव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तता हो अथवा अन्य द्वीन्द्रियादि के भव में वर्तता हो, परन्तु जब तक अधिक रस न बांधे तब तक ही जघन्य रस संक्रमित करता है।

इस प्रकार से जघन्य अनुभागसंक्रम-स्वामित्व-प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगम बोध के लिये जिसका प्रारूप पृष्ठ १४६ पर देखिए।

अब क्रम प्राप्त साद्यादि प्ररूपणा का विचार करते हैं।

साद्यादि प्ररूपणा

अनुभागसंक्रम की साद्यादि प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—मूलप्रकृति-विषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक। उसमें से पहले मूलप्रकृतिविषयक साद्यादि प्ररूपणा करते हैं—

साइयवज्जो अजहण्णसंकमो पढमदुइयचरिमाणं।
मोहस्स चउविगप्पो आउसणुक्कोसओ चउहा ॥६४॥

शब्दार्थ—**साइयवज्जो**—सादि के बिना, **अजहण्णसंकमो**—अजघन्य अनुभागसंक्रम, **पढमदुइयचरिमाणं**—पहले, दूसरे और अंतिम कर्म का, **मोहस्स**—मोहनीयकर्म का, **चउविगप्पो**—चार प्रकार का, **आउसणुक्कोसओ**—आयु का अनुत्कृष्ट अनुभाग, **चउहा**—चार प्रकार का।

गाथार्थ—पहले, दूसरे और अंतिम कर्म का अजघन्य अनुभाग-संक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का तथा मोहनीय का चार प्रकार का और आयु का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन कर्म का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि भंग को छोड़कर अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—

इन तीनों कर्मों का जघन्य अनुभागसंक्रम क्षीणमोहगुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष हो तब होता है, वह एक समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्य अनुभागसंक्रम-स्वामित्व

प्रकृतियां	स्वामी
घाति प्रकृतियां	जघन्य स्थितिसंक्रमक अन्तरकरण के बाद
नव नोकषाय, संज्वलनचतुष्क	क्षपक, जघन्य स्थितिसंक्रमक नौवें गुणस्थानवर्ती
ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक दर्शनावरणषट्क	क्षीणमोही, समयाधिक आवलिका शेष
सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	क्षयकाल में अंतिम खंड संक्रमक
आयुचतुष्टय	जघन्य स्थितिबंधक
नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक	जघन्य अनुभागबंधक असंज्ञी पंचेन्द्रिय
मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र	सूक्ष्म निगोदजीव
आहारकसप्तक	अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती
तीर्थंकरनाम	अविरत सम्यग्दृष्टि
अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क	पश्चात्कृतसम्यक्त्व वाले मिथ्यादृष्टि
उक्त से शेष ९७ प्रकृतियां	प्रभूत अनुभाग की सत्ता के नाश करने वाले अग्निकायिक, वायुकायिक, अन्य भव में भी ये दोनों जब तक वृहदनुभाग का बंध नहीं करते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र होने से सादि-सांत है, उसके सिवाय अन्य सब अजघन्य अनुभाग-संक्रम प्रवर्तमान रहता है और वह प्रत्येक आत्मा को अनादिकाल से प्रवर्तित होते रहने से अनादि है, अभव्य के भविष्य में किसी भी काल में नाश नहीं होने से ध्रुव-अनन्त है और भव्य बारहवें गुणस्थान के चरम समय में अजघन्य अनुभाग-संक्रम का नाश करेगा, इसलिये उसकी अपेक्षा अध्रुव-सांत है। बारहवें गुणस्थान से पतन नहीं होने से अजघन्य अनुभागसंक्रम की सादि-शुरुआत नहीं होती है।

मोहनीय का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार है। वह इस प्रकार से जानना चाहिये—

क्षपकश्रेणि में वर्तमान जीव के दसवें गुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका शेष स्थिति हो तब मोहनीय का जघन्य अनुभागसंक्रम होता है। एक समय मात्र ही होने से वह सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है, वह उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिकसम्यक्त्वी के उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु उपशांतमोहगुणस्थान से पतन हो तब होता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने अभी तक प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है।

आयु का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि आदि चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में देवायु का उत्कृष्ट अनुभाग बांधकर उसकी बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करने की शुरुआत करता है और उसे—उत्कृष्ट रस को—अनुत्तर देव के भव में आवलिका न्यून तेतीस सागरोपम पर्यन्त संक्रमित करता है। अर्थात् अनुत्तर देव के भव में रहते उत्कृष्ट रस को वहाँ तक संक्रमित करता है यावत् तेतीस सागरोपम प्रमाण स्थिति जाये और मात्र उसकी एक अंतिम आवलिका स्थिति शेष रहे। उसके सिवाय आयु का समस्त अनुभाग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम अनुत्कृष्ट है। अनुत्तर देव में से मनुष्य में आते अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम प्रवर्तमान रहता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है। तथा—

साइयवज्जो वेयणियनामगोयाण होइ अणुक्कोसो।
सव्वेसु सेसभेया साई अधुवा य अणुभागे ॥६५॥

शब्दार्थ—**साइयवज्जो**—सादि के बिना, **वेयणियनामगोयाण**—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का, **होइ**—होता है, **अणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट, **सव्वेसु**—सभी के, **सेसभेया**—शेष भेद, **साई अधुवा**—सादि, अध्रुव, **य**—और, **अणुभागे**—अनुभागसंक्रम में।

गाथार्थ—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का है। सभी कर्मों के शेष भेद सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि के सिवाय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का बंध क्षपकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है। वहाँ उत्कृष्ट रस बांधकर उसकी बंधावलिका के बीतने के बाद सयोगिकेवली के चरमसमय पर्यन्त संक्रमित करता है और अमुक नियत काल पर्यन्त ही उत्कृष्ट रस का संक्रम होने से वह सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य समस्त अनुभागसंक्रम अनुत्कृष्ट है, वह सामान्यतः सभी जीवों को अनादिकाल से होता है, इसलिये अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है।

सभी मूलकर्मों के अनुभागसंक्रमसम्बन्धी पूर्वोक्त के सिवाय शेष विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) हैं। जैसे कि चार घातिकर्म के उत्कृष्ट,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुत्कृष्ट और जघन्य ये तीन शेष हैं। उनमें जघन्य सादि-सांत है। जिसका स्पष्टीकरण अजघन्यभंग के विचार में किया जा चुका है। चार घातिकर्म का मिथ्यादृष्टि जब उत्कृष्ट रस बांधे और उसकी बंधावलिका के जाने के बाद जब तक सत्ता रहे, तब तक संक्रमित करता है, उसके बाद अनुत्कृष्ट को संक्रमित करता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के एक के बाद एक के क्रम से उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट रस का संक्रम होते रहने से वे दोनों सादि-सांत हैं तथा चार अघातिकर्म के जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट ये तीन विकल्प शेष हैं। उनमें से अनुत्कृष्ट रससंक्रम के प्रसंग में उत्कृष्ट रससंक्रम का विचार किया जा चुका है। जघन्य रससंक्रम सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के होता है तथा अजघन्य भी उसी के होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से अनुभागसंक्रम विषयक मूलकर्मसम्बन्धी साद्यादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतिसम्बन्धी साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागसंक्रमापेक्षा उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा

अजहण्णो चउभेओ पढमगसंजलणनोकसायाणं।
साइयवज्जो सो च्चिय जाणं खवगो खविय मोहो ॥६६॥

शब्दार्थ—**अजहण्णो**—अजघन्य, **चउभेओ**—चार प्रकार का, **पढमगसंजलणनोकसायाणं**—प्रथम कषाय, संज्वलन और नव नोकषायों का, **साइयवज्जो**—सादि के बिना, **सो च्चिय**—वही (अजघन्य), **जाणं**—जिनका, **खवगो**—क्षपक, **खविय मोहो**—मोह का क्षय किया है।

गाथार्थ—प्रथम कषाय (अनन्तानुबंधिकषाय), संज्वलनकषाय और नव नोकषाय का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है तथा जिन प्रकृतियों का क्षपक—जिसने मोह का क्षय किया ऐसा—जीव है, उनका अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क, संज्वलनकषायचतुष्क तथा नव नोकषाय इन सत्रह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम उन-उन प्रकृतियों के क्षयकाल में उनकी जघन्य स्थिति का जब संक्रम होता है, तब होता है और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का जघन्य अनुभागसंक्रम सम्यक्त्व अवस्था में उन कषायों की उद्वलनासंक्रम द्वारा सर्वथा उद्वलना हो जाये, उसके बाद गिरकर मिथ्यात्व में आने पर और वहाँ मिथ्यात्व रूप हेतु के द्वारा पुनः बंध हो तो बंधावलिका के बीतने के पश्चात् दूसरी आवलिका के प्रथम समय में होता है।

प्रश्न—संज्वलनचतुष्क आदि प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम उनके जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में कहा और अनन्तानुबंधि का उस कषाय के सर्वथा उद्वलित हो जाने के बाद मिथ्यात्व में आकर पुनः बांधे और उसकी बंधावलिका के जाने के बाद दूसरी आवलिका के प्रथम समय में कहा है, तो इसका कारण क्या है ? जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में उसका जघन्य रससंक्रम क्यों नहीं बताया है ?

उत्तर—अनन्तानुबंधि की जघन्यस्थिति का संक्रम अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने पर उसका चरम खंड सर्वथा संक्रमित करे तब होता है। उस समय चरम खंड में कालभेद से अनेक समय के बंधे हुए दलिक होते हैं। अनेक समय के बंधे हुए दलिक होने के कारण उसमें शुद्ध एक ही समय के बंधे हुए दलिकों के रस से अधिक रस होना स्वाभाविक है। इसीलिये ऊपर के गुणस्थान में अनन्तानुबंधि का नाश करके गिरने पर पहले गुणस्थान में आये तब वहाँ तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम की शक्यतानुरूप अल्प स्थिति और रस वाले दलिक बांधे, बंधावलिका के बीतने के अनन्तर दूसरी आवलिका के प्रथम समय में वह शुद्ध एक समय के बंधे हुए जघन्य रस युक्त दलिक को संक्रमित

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

करता है, उसे जघन्य रससंक्रम कहा है। अनन्तानुबंधि के सिवाय दूसरी कोई भी मोहप्रकृति सत्ता में से सर्वथा नष्ट होने के बाद पुनः बंधकर सत्ता प्राप्त नहीं करती, किन्तु अनन्तानुबंधिकषाय ही ऐसी है कि सत्ता में से सर्वथा नाश होने के बाद मिथ्यात्व रूप बीज नाश न हुआ हो तो पुनः सत्ता में आ सकती है। इसीलिये उसके जघन्य रस-संक्रम का काल और संज्वलनादि के जघन्य रससंक्रम का काल पृथक्-पृथक् बताया है।[1]

इसके अतिरिक्त इन सत्रह प्रकृतियों का समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है। उपशमश्रेणि में सर्वथा उपशांत इन सत्रह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम नहीं होता है। किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये वह सादि है। जिसने उस स्थान को प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, भव्य की अपेक्षा अध्रुव और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

ज्ञानावरणपंचक, स्त्यानर्द्धित्रिक रहित दर्शनावरणषट्क और अन्तरायपंचक रूप सोलह प्रकृतियों का क्षपक क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव है। इन प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि के सिवाय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। वह इस तरह जानना चाहिये—इन सोलह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम क्षीण-कषायगुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष रहे, तब होता है। एक समय प्रमाण होने से वह सादि-सांत है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है। उसकी आदि नहीं है, अतः अनादि है। भव्य के अध्रुव और अभव्य के ध्रुव है। तथा—

---

१. इसी प्रकार प्रायः जिन प्रकृतियों का नाश होने के पश्चात् पुनः बंध हो सकता हो, उनका जघन्य अनुभागसंक्रम अनन्तानुबंधि के समान कहना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुभधुवचउवीसाए होइ अणुक्कोस साइपरिवज्जो।
उज्जोयरिसभओरालियाण चउहा दुहा सेसा ॥६७॥

शब्दार्थ—**सुभधुवचउवीसाए**—ध्रुवबंधिनी शुभ चौबीस प्रकृतियों का, **होइ**—होता है, **अणुक्कोस**—अनुत्कृष्ट, **साइपरिवज्जो**—सादि के बिना, **उज्जोयरिसभओरालियाण**—उद्योत, वज्रऋषभनाराचसंहनन और औदारिक-सप्तक का, **चउहा**—चार प्रकार का, **दुहा**—दो प्रकार के, **सेसा**—शेष।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी शुभ चौबीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का है तथा उद्योत, वज्र-ऋषभनाराचसंहनन और औदारिकसप्तक का अनुत्कृष्ट रससंक्रम चार प्रकार का है और शेष विकल्प दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—प्रायः जिन प्रकृतियों का सम्यग्दृष्टि जीवों के ध्रुव बंध होता है ऐसी शुभ ध्रुव—त्रसदशक, सातावेदनीय, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुलघु, उच्छ्‌वास, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, तैजस, कार्मण, शुभवर्णचतुष्क—चौबीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि को छोड़कर अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। यदि तैजस और कार्मण के ग्रहण से उसका सप्तक और शुभवर्णादि चतुष्क के स्थान पर शुभवर्णादि एकादश को लिया जाये तो चौबीस में बारह को मिलाने पर छत्तीस प्रकृतियां होती हैं।[1] अतः विस्तार से इन छत्तीस प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के भंगों का विचार किया जाये तो वह अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का जानना चाहिये।

अब इन तीन भंगों को घटित करते हैं—इन चौबीस प्रकृतियों

---

१. कर्मप्रकृति में 'तिविहो छत्तीसाए अणुक्कोसो' इस पद से छत्तीस प्रकृतियां ग्रहण की हैं। अतएव विवक्षावशात् बंधन, संघातन और वर्णादि के भेद ग्रहण करें तो भी कोई विरोध नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उत्कृष्ट अनुभाग क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक अपने-अपने बंध-विच्छेद के समय बांधता है। उस उत्कृष्ट रस को बांधने के अनन्तर बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित करना प्रारम्भ करता है और उसको वहाँ तक संक्रमित करता है, यावत् सयोगिकेवली का चरम समय प्राप्त हो। क्षपक बादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय, क्षीणमोह और सयोगिकेवली के सिवाय शेष सबको इन प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम होता है। उसकी आदि नहीं है, अनादि काल से हो रहा है, इसलिये अनादि है। अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है।

उद्योत, वज्रऋषभनाराचसंहनन और औदारिकसप्तक का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—उद्योत के सिवाय शेष उक्त आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग अत्यन्त विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि देव बांधता है और बांधकर आवलिका के व्यतीत होने के अनन्तर संक्रमित करता है तथा उद्योतनाम का सम्यक्त्व को प्राप्त करता हुआ अनिवृत्तिकरण के चरम समय में वर्तमान मिथ्यादृष्टि सातवीं नरक पृथ्वी का जीव उत्कृष्ट अनुभाग बांधता है और उसे बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित करता है। वह नौ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त संक्रमित करता है। यद्यपि सातवीं नरक पृथ्वी में सम्यक्त्व में वर्तमान जीव अंतिम अन्तर्मुहूर्त में तो अवश्य मिथ्यात्व में जाता है, तो भी आगे के तिर्यंचभव में जो जीव अपर्याप्तावस्था के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, उसको यहाँ ग्रहण नहीं किया है। यहाँ बीच में थोड़ा-सा मिथ्यात्व का काल होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं की है। इसलिये दो छियासठ सागरोपम उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का काल कहा है। उत्कृष्ट से गिरने पर अनुत्कृष्ट अनुभाग का संक्रम होता है। वह जब होता है, तब सादि, जिसने उस स्थान को प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त प्रकृतियों के शेष विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) इस तरह दो प्रकार के हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि सत्रह और ज्ञानावरणादि सोलह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-संक्रम अतिसंक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि के होता है। उत्कृष्ट अनुभाग का बंधक संक्लिष्ट मिथ्यात्वी है और बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद अनुत्कृष्ट होता है तथा जब उत्कृष्ट रस बांधे, तब उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम, तत्पश्चात् अनुत्कृष्ट रससंक्रम होता है। इस प्रकार अदल-बदल के क्रम से होने के कारण वे दोनों सादि-सांत हैं। जघन्य के सादि, अध्रुव (सांत) होने के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है तथा शुभ ध्रुव चौबीस प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम जिसने बहुत से रस की सत्ता का नाश किया है, ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय के होता है। जब तक उस प्रकार के बहुत से रस की सत्ता का नाश न किया हो, तब तक उसे भी अजघन्य रससंक्रम होता है, इसलिये वे दोनों भी सादि-अध्रुव (सांत) हैं। उत्कृष्ट विषयक विचार तो अनुत्कृष्ट के भंग कहने के प्रसंग में किया जा चुका है।

शेष प्रकृतियों में से शुभ प्रकृतियों का विशुद्ध परिणाम से और अशुभ प्रकृतियों का संक्लेश परिणाम से उत्कृष्ट अनुभागबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को होता है और शेष काल में अनुत्कृष्ट रसबंध होता है। जैसे बंध होता है, उसी प्रकार संक्रम भी होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत हैं तथा जघन्य अनुभागसंक्रम जिसने बहुत से रस की सत्ता का नाश किया हो ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के होता है। जब तक उस प्रकार के बहुत से रस की सत्ता का नाश न हुआ हो, तब तक अजघन्य रससंक्रम उस सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अथवा अजघन्य रस की सत्ता वाले अन्य जीवों के भी होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के जघन्यादि विकल्पों की सादि-आदि भंगों की प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगम बोध के लिये मूल और उत्तर प्रकृतियां के अनुभागसंक्रम की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरप्रकृतियों सम्बन्धी अनुभागसंक्रम की साद्यादि प्ररूपणा

प्रकृतियां	अजघन्य				जघन्य		अनुत्कृष्ट				उत्कृष्ट	
	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव
नव नोकषाय, संज्व. चतुष्क	उपशम श्रेणि से पतित	भव्य	सादि अप्राप्त के	अभ-व्य	स्व-स्व क्षयकाल में	सादि होने से	उत्कृष्ट अनु. संक्रम से पतित	सादि होने से	×	×	उत्कृष्ट संक्लिष्ट मिथ्या-त्वी	सादि होने से
अनन्तानुबंधि-चतुष्क	,,	,,	,,	,,	पुनर्बंधद्वितीयआव केप्रथम समय	,,	,,	,,	×	×	,,	,,
ज्ञाना. ५, दर्शना. ६, अंतराय ५	×	,,	आदि का अभाव होने से	,,	१२वें गुण समयाधि आव. शेष	,,	,,	,,	×	×	,,	,,
साता. पंचे, तैजस समच. शुभ वर्णादि ११, अगुरु. उच्छ्वास	अहत प्रभूत अनु. सत्ता वाले	सादि होने से	×	×	हतप्रभूत अनुभाग सत्ताक सूक्ष्म एके.	,,	×	भव्य	क्षपक सयोगि. वर्ज शेष	अभ-व्य	स्व-स्वक्षपक काल सेसयोगि गुणस्थान पर्यन्त वर्तमान	,,
पराघात, शुभ	,,	,,	×	×	,,	,,	×	,,	,,			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्छ्वास	सत्ता वाले				सूक्ष्म एके.						गुणस्थान पर्यन्त वर्तमान
पराघात, शुभ विहायो.त्रसदशक, निर्माण	,,	,,	×	×	,,	,,	×	,,	,,	,,	,,
वज्रऋ. औदारिक सप्तक	,,	,,	×	×	,,	,,	उत्कृष्ट अनु. संक्रम से पतित	,,	सादि अप्राप्त के	,,	अति विशुद्ध सम्य.देव	,,
उद्योत	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	,,	,,	,,	सम्यक्त्व अभि-मुख सप्तम. नारक	,,
वैक्रिय ७. देवद्विक उच्चगोत्र, आतप तीर्थ. आहा. ७ मनुष्यद्विक,शुभायु-त्रिक	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	,,	×	×	विशुद्ध पर्या. संज्ञी पंचे.	,,
उक्त से शेष स्त्यानर्द्धित्रिक आदि ५६ अशुभ प्रकृति	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	,,	×	×	संक्लिष्ट पर्या. संज्ञी पंचेन्द्रिय	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलप्रकृति सम्बन्धी अनुभागसंक्रम की साद्यादि प्ररूपणा

प्रकृतियां	अजघन्य				जघन्य		अनुत्कृष्ट				उत्कृष्ट	
	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय	×	भव्य	अक्षीण मोही	अभव्य	१२ वें गुण. में समयाधिक आव. शेष	सादि होने से	उत्कृष्ट से आने वाले के प्रथम समय में	सादि होने से	×	×	नियत काल होने से	सादि होने से
मोहनीय	११वेंगुण. से पतित क्षायिक सम्यक्त्वी	,,	सादि स्थान अप्राप्त के	,,	क्षपक १०वेंगुण. समयाधिक आव. शेष	,,	,,	,,	×	×	,,	,,
आयु	अहत प्रभूत अनुभाग वाले के	सादि होने से	×	×	हत प्रभूत अनुभाग वाले के	,,	उत्कृष्ट से अन्य बंधकों के	भव्य	सादि अप्राप्त के	अभव्य	उत्कृष्ट सत्ताका मनुष्य अनुत्तर देवों के	,,
नाम, गोत्र, वेदनीय	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	,,	आदि का अभाव होने से	,,	क्षपक १२, १३ वें गुण.	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार अनुभागसंक्रम का विचार समाप्त हुआ।

प्रदेशसंक्रम

अब क्रमप्राप्त प्रदेशसंक्रम का प्रतिपादन करते हैं। इसके विचार करने के पांच अधिकार हैं—१. भेद, २. लक्षण, ३. साद्यादि प्ररूपणा, ४. उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामी और ५. जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामी। इन पांच अधिकारों में से पहले भेद और लक्षण इन दो अधिकारों का प्रतिपादन करते हैं।

प्रदेशसंक्रम के भेद एवं लक्षण

विज्झा-उव्वलण-अहापवत्त-गुण-सव्वसंकमेहि अणू।
जं नेइ अण्णपगइं पएससंकामणं एयं ॥६८॥

शब्दार्थ—**विज्झा-उव्वलण-अहापवत्त-गुण-सव्वसंकमेहि**—विध्यात, उद्वलन, यथाप्रवृत्त, गुण और सर्व संक्रम द्वारा, **अणू**—परमाणुओं को, **जं**—जो, **नेइ**—ले जाया जाता है, **अण्णपगइं**—अन्यप्रकृतिरूप, **पएससंकामणं**—प्रदेशसंक्रमण, **एयं**—वह।

गाथार्थ—विध्यात-उद्वलन-यथाप्रवृत्त-गुण और सर्व संक्रम द्वारा कर्मपरमाणुओं को जो अन्यप्रकृति रूप ले जाया जाता है, वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—विध्यातसंक्रम, उद्वलनासंक्रम, यथाप्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम के भेद से प्रदेशसंक्रम पांच प्रकार का है।

इन पांच संक्रम प्रकारों द्वारा जिनकी बंधावलिका व्यतीत हो चुकी है, ऐसे सत्तागत कर्मपरमाणुओं—वर्गणाओं को पतद्ग्रहप्रकृति में प्रक्षेप करके उस रूप करना प्रदेशसंक्रम कहलाता है। इन पांचों संक्रम द्वारा जीव अन्य स्वरूप में रहे हुए सत्तागत कर्मपरमाणुओं को पतद्ग्रहप्रकृति रूप करता है। जैसे कि सातावेदनीय के परमाणुओं को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधती हुई असाता रूप में अथवा असाता के परमाणुओं को बंधती हुई साता रूप करे तो वह सब प्रदेशसंक्रम कहलाता है। अर्थात् विध्यातादि संक्रमों द्वारा कर्मपरमाणुओं को जो अन्यप्रकृति रूप किया जाता है, उसे प्रदेशसंक्रम कहते हैं।

इस प्रकार सामान्य से प्रदेशसंक्रम का लक्षण और उसके भेद जानना चाहिये। अब पूर्वोक्त पांचों भेदों में से क्रमानुसार पहले विध्यातसंक्रम का स्वरूप बतलाते हैं।

विध्यातसंक्रम

जाण न बंधो जायइ आसज्ज गुणं भवं व पगईणं।

विज्झाओ ताणंगुलअसंखभागेण अण्णत्थ ॥६६॥

शब्दार्थ—**जाण न बंधो जायइ**—जिनका बंध नहीं होता हो, **आसज्ज गुणं भवं व**—गुण अथवा भव के आश्रय से, **पगईणं**—प्रकृतियों का, **विज्झाओ**—विध्यातसंक्रम, **ताणंगुलअसंखभागेण**—उनको अंगुल के असंख्यातवें भाग के द्वारा, **अण्णत्थ**—अन्यत्र (परप्रकृतिरूप)।

गाथार्थ—जिन कर्मप्रकृतियों का गुण अथवा भव के आश्रय से बंध न होता हो, उन प्रकृतियों का विध्यातसंक्रम होता है। प्रथम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा जितना दलिक परप्रकृति में संक्रमित किया जाता है, उस प्रमाण से शेष दलिकों को भी संक्रमित किया जाये तो उनको अंगुल के असंख्यातवें भाग में विद्यमान आकाश प्रदेश जितने समयों द्वारा संक्रान्त किया जाता है।

विशेषार्थ—संक्रम का सामान्य लक्षण तो प्रकरण के प्रारंभ में कहा जा चुका है और प्रदेशसंक्रम द्वारा सत्तागत कर्मपरमाणुओं को अन्य स्वरूप किया जाता है। वे कर्मपरमाणु अन्य स्वरूप कैसे होते हैं, यह प्रदेशसंक्रम के पांचों भेदों का स्वरूप जानने से समझा जा सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव प्रथम विध्यातसंक्रम का स्वरूप और वह किन प्रकृतियों का होता है, इसको बतलाते हैं—

विध्यात—विशिष्ट सम्यक्त्व आदि गुण अथवा देवादि भव के आश्रय से जिन कर्मप्रकृतियों का बंध शांत हुआ है—नष्ट हुआ है, बंध नहीं होता है, वैसी प्रकृतियों का जो संक्रम होता है, उसे विध्यात-संक्रम कहते हैं।

यह विध्यातसंक्रम किन प्रकृतियों का होता है, इसको स्पष्ट करने के लिये भव या गुण के आश्रय से जिन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, उन प्रकृतियों को बतलाते हैं कि मिथ्यात्वगुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, जिससे उन सोलह प्रकृतियों का सासादन आदि गुणस्थानों में गुणनिमित्तक बंध नहीं होता है। इसी प्रकार से सासादनगुणस्थान में पच्चीस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका मिश्र आदि गुणस्थानों में बंध नहीं होता है। अविरत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में दस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका देशविरत आदि गुणस्थानों में, देशविरतगुणस्थान में चार का बंध-विच्छेद होता है, उनका प्रमत्त आदि गुणस्थानों में, प्रमत्तगुणस्थान में छह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका अप्रमत्त आदि गुण-स्थानों में बंध नहीं होता है। जिस-जिस गुणस्थान से बंध नहीं होता है, उन-उन प्रकृतियों का वहाँ से विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है।

वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, देवद्विक, नरकद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त और आतप इन सत्ताईस प्रकृतियों को नारक और सनत्कुमार आदि स्वर्ग के देव भव-निमित्त से बांधते नहीं हैं। तिर्यंचद्विक और उद्योत के साथ पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतियों को आनत आदि के देव बांधते नहीं हैं। संहनन-षट्क, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष संस्थान, नपुंसकवेद, मनुष्य-द्विक, औदारिकसप्तक, एकान्त तिर्यंचगतिप्रायोग्य स्थावरदशक, दुर्भग-

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

गत्रिक, नीचगोत्र और अप्रशस्त विहायोगति, इन प्रकृतियों को भव-स्वभाव से युगलिक बांधते नहीं हैं।

इस प्रकार जो-जो प्रकृतियां जिस-जिस गति में भवनिमित्त से बंधती नहीं, उन-उनका वहाँ-वहाँ विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस-जिस कर्म का जिस-जिसको अथवा जहाँ-जहाँ गुणनिमित्त अथवा भवनिमित्त से बंध नहीं होता है, वह-वह कर्म, उस-उस को अथवा वहाँ-वहाँ विध्यातसंक्रमयोग्य है। अर्थात् उन-उन कर्मप्रकृतियों का वहाँ-वहाँ विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अब दलिक के प्रमाण का निरूपण करते हैं—

विध्यातसंक्रम द्वारा पहले समय में जितना कर्मदलिक परप्रकृति में प्रक्षेप किया जाता है, उतने प्रमाण से शेष दलिक को भी परप्रकृति में प्रक्षेप किया जाये तो अंगुलमात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने समयों द्वारा पूर्ण रूप से संक्रमित किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम समय में जितना कर्म-दलिक विध्यातसंक्रम द्वारा अन्यप्रकृति में संक्रमित किया जाता है, उस प्रमाण से यदि उस प्रकृति के अन्य दलिक को संक्रमित किया जाये तो उसको पूर्ण रूप से संक्रमित करने में उपर्युक्त आकाशप्रदेशों की संख्या प्रमाण समयों जितना (असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण) काल व्यतीत होगा।

इस संक्रम द्वारा किसी भी कर्मप्रकृति के सभी दलिक सत्ता में से निःशेष नहीं होते हैं। यहाँ तो असत्कल्पना से इस क्रम से यदि संक्रमित हों तो कितना काल व्यतीत होगा, इसका संकेतमात्र किया है।

यह विध्यातसंक्रम प्रायः यथाप्रवृत्तसंक्रम के अन्त में प्रवर्तित होता है। ऐसा कहने का कारण यह है कि यथाप्रवृत्तसंक्रम सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विध्यातसंक्रम-प्रारूप

प्रकृतियां	स्वामित्व	प्रत्यय
मिथ्यात्व, नरकायुवर्जित मिथ्यात्वगुण. में अंत होने वाली (१४)	सासादनादिक गुणस्थान	गुणप्रत्यय से
तिर्यंचायुवर्तिजसासादन में अंत होने वाली (२४)	मिश्रादिक	,,
मिथ्यात्व, मिश्रमो.	अविरतादिक	,,
मनुष्यायुरहित चतुर्थ गुण. में अंत होने वाली (८)	देशविरतादिक	,,
पंचम गुणस्थान में अंत होने वाली (४)	प्रमत्तसंयतादिक	,,
प्रमत्तसंयतगुण. में अंत होने वाली (६)	अप्रमत्तादिक	,,
वैक्रिय ७. देवद्विक, नरकद्विक, एके. जाति ४ स्थावर, सूक्ष्म, साधा. अपर्याप्त, आतप (२०)	सभी नारक, सनत्कुमारादिक देव	भवप्रत्यय से
नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रिय ७. विकलत्रिक, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधा. (१७)	ईशान पर्यन्त के देव	,,
तिर्यंचद्विक, उद्योत, पूर्वोक्त (२०)	आनतादिक के देव	,,
संह. ६, कुसंस्थान ५, नपुं. मनु. द्विक, औदा. ७. तिर्यंचप्रायोग्य १०. अप. नरकद्विक, दुर्भगत्रिक, नीचगोत्र, अशुभ विहायोगति (३९)	युगलिक तिर्यंच, मनुष्य	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, बंधयोग्य सभी प्रकृतियों का वह होता है और विध्यातसंक्रम तो गुण अथवा भव निमित्त से जो-जो प्रकृतियां बंध में से विच्छिन्न हुईं, उन-उनका होता है। जिससे साधरणतया पहले यथाप्रवृत्तसंक्रम प्रवर्तित होता है और बंध में से विच्छिन्न होने के बाद विध्यातसंक्रम की प्रवृत्ति होती है। इसीलिये यह कहा है कि यथाप्रवृत्तसंक्रम के अन्त में विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है तथा प्रायः कहने का कारण यह है कि अन्य संक्रमों के प्रवर्तित होने के बाद भी यदि विध्यातसंक्रम प्रवर्तित हो तो इसमें कोई बाधा नहीं है। जैसे कि उपशमश्रेणि में गुणसंक्रम प्रवर्तित होने के अनन्तर मरण प्राप्त करके अनुत्तरविमान में जाये तो गुणनिमित्त से नहीं बंधने वाली प्रकृतियों का विध्यात-संक्रम होता है और उपशमसम्यक्त्व प्राप्ति के अंतरकरण में मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के गुणसंक्रम के अंत में विध्यातसंक्रम होता है। उक्त समग्र कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ १६२ पर देखिये।

इस प्रकार से विध्यातसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये। अब उद्‌वलनासंक्रम का स्वरूप निर्देश करते हैं।

उद्‌वलनासंक्रम

पलियस्ससंखभागं अंतमुहुत्तेण तीए उव्वलइ।
एवं पलियासंखियभागेणं कुणइ निल्लेवं ॥७०॥

शब्दार्थ—**पलियस्ससंखभागं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड को, **अंतमुहुत्तेण**—अन्तर्मुहूर्त काल में, **तीए**—उसको, **उव्वलइ**—उद्‌वलना करता है, **एवं**—इसी प्रकार, **पलियासंखियभागेणं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल द्वारा, **कुणइ**—करता है, **निल्लेवं**—निर्लेप।

गाथार्थ—(सत्तागत स्थिति के अग्रभाग से) पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड को अन्तर्मुहूर्त काल में उद्‌वलित करता है। इसी प्रकार से उद्‌वलना करते हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल में उसको सर्वथा निर्लेप करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—कर्मों को सत्ता में से निर्मूल करने में जो उपयोगी साधन हैं, उनमें उद्वलनासंक्रम भी एक प्रबल साधन है। उद्वलना का अर्थ है उखाड़ना, सत्ता में से निर्मूल-निःशेष करना अर्थात् जिस संक्रम द्वारा सत्तागत स्थिति के अग्रभाग में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने खंड को लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करना, फिर दूसरा खंड लेकर उसे अन्तर्मुहूर्त काल में नष्ट करना, इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड को लेते हुए और उसे अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करते हुए सत्तागत संपूर्ण स्थिति को अन्तर्मुहूर्त काल में या पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में नाश करना।

पहले गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय आदि को निर्मूल करते पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण काल जाता है और ऊपर के गुणस्थान में अनन्तानुबंधि आदि कर्मप्रकृतियों को निर्मूल करते अन्तर्मुहूर्त काल जाता है।

इसी बात को तथा किन-किन प्रकृतियों में उद्वलनासंक्रम प्रवर्तित होता है, अब क्रमपूर्वक स्पष्ट करते हैं—

पहले उद्वलनयोग्य कर्मप्रकृतियों के पल्योपम के असंख्यातवें भगा मात्र स्थितिखंड को अन्तर्मुहूर्त काल में उद्वलित करता है, उसके बाद पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण दूसरे स्थितिखंड को उद्वलित करता है, उसके बाद तीसरे स्थितिखंड को उद्वलित करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड को उद्वलित-खंडित-नाश करता हुआ उद्वेलित उस कर्म को पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में निर्लेप करता है, यानि कि संपूर्ण रूप से निर्मूल करता है, सत्ता रहित करता है। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी कर्म को निर्मूल करना हो तब स्थिति के अग्र–ऊपर के भाग से निर्मूल करता आता है, परन्तु बीच में से अथवा उदय समय से निर्मूल नहीं करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड के विषय में जो विशेष है, उसको कहते हैं—

पढमाओ बीअखंडं विसेसहीणं ठिइए अवणेइ ।
एवं जाव दुचरिमं असंखगुणियं तु अंतिमयं ॥७१॥

शब्दार्थ—**पढमाओ**—प्रथम स्थितिखंड से, **बीअखंडं**—दूसरा खंड, **विसेसहीणं**—विशेषहीन, **ठिइए**—स्थिति से, **अवणेइ**—दूर करता है, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—पर्यन्त, तक, **दुचरिमं**—द्विचरमखंड, **असंखगुणियं**—असंख्यातगुण, **तु**—और, **अंतिमयं**—अन्तिम ।

गाथार्थ—स्थिति के प्रथम स्थितिखंड से स्थिति का दूसरा खंड विशेषहीन स्थिति से (अन्तर्मुहूर्त से) दूर करता है । इस प्रकार द्विचरमखंड तक जानना चाहिये । अंतिम खंड असंख्यातगुण बड़ा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—उद्‌वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग प्रमाण जो स्थिति के खंड दूर किये जाते हैं—नष्ट किये जाते हैं, उनमें पहले स्थितिखंड से दूसरा स्थिति का खंड विशेषहीन दूर किया जाता है, तीसरा उससे भी हीन दूर किया जाता है, इस प्रकार पूर्व-पूर्व से हीन-हीन स्थिति के खंडों को द्विचरम स्थितिखंड पर्यन्त दूर किया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में रहे हुए दलिकों को एक साथ दूर करने का प्रयत्न किया जाये तो उतने समस्त स्थानों में से पहले समय में अमुक प्रमाण में दलिक लेकर दूर किया जाता है, दूसरे समय में समस्त में से दलिक लेकर दूर किया जाता है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड को एक साथ दूर किया जाता है ।

जैसे कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग के असत्कल्पना से सौ स्थान मान लिये जायें तो पहले समय में उन सौ में से दलिक लेकर दूर किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं, दूसरे समय में भी सौ में से दलिक दूर किये जाते हैं, इसी प्रकार से अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय में भी उन्हीं सौ में से दलिक लेकर उस खंड को निःशेष किया जाता है। तत्पश्चात् दूसरा खंड लो, उसे भी पूर्वोक्त क्रम से दूर किया जाता है, फिर तीसरा खंड लो, उसे भी इसी क्रम से निर्लेप किया जाता है। विशेष यह है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड लेने का जो कहा है, वह उत्तरोत्तर हीन समझना चाहिये। पहला खंड बड़ा, दूसरा उससे छोटा, तीसरा उससे भी छोटा, इस तरह द्विचरमखंड पर्यन्त समझना चाहिये। उत्तरोत्तर छोटे-छोटे खंड लेने के संकेत का कारण यह है कि असंख्यात के असंख्यात भेद होने से यह सम्भव है।

इस प्रकार यहाँ स्थिति के खंडों में तारतम्य होने से उनका अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा इस तरह दो प्रकार से विचार करते हैं। दोनों में अनंतरोपनिधा द्वारा तो द्विचरमखंडपर्यन्त पूर्व-पूर्व खंड से उत्तरोत्तर खंड हीन-हीन है। जिसका पूर्व में संकेत भी किया जा चुका है।

अब परंपरोपनिधा द्वारा विचार करते हैं —पहले स्थितिखंड की अपेक्षा कितने ही स्थिति के खंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यातभागहीन होते हैं, कितने ही संख्यातभागहीन, कितने ही संख्यातगुणहीन तो कितने ही असंख्यातगुणहीन होते हैं।

जब प्रदेशपरिमाण की अपेक्षा विचार करते हैं तब स्थिति के पहले खंड में कुल मिलाकर जो दलिक होते हैं, उससे स्थिति के दूसरे खंड में विशेषाधिक होते हैं, उससे तीसरे खंड में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व खंड से उत्तरोत्तर खंड में विशेषाधिक-विशेषाधिक दलिक द्विचरमखंडपर्यन्त होते हैं। यह दलिकों की अपेक्षा अनन्तरोपनिधा द्वारा विचार किया गया।

अब यदि परंपरोपनिधा द्वारा दलिकों की अपेक्षा से विचार किया जाये तो वह इस प्रकार है—पहले स्थितिखंड से दलिक की अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई स्थितिखंड असंख्यातभाग अधिक होता है, कोई संख्यातभाग अधिक, कोई संख्यातगुण अधिक तो कोई असंख्यातगुण अधिक होता है।

अब अनुक्त अन्तिम खंड का विचार करते हैं--द्विचरम स्थितिखंड से चरम स्थितिखंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यातगुण है, यानि कि जितना बड़ा पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण द्विचरम स्थितिखंड है, उससे असंख्यातगुण बड़ा पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण चरम स्थितिखंड है तथा गाथा गत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से चरम स्थितिखंड पहले स्थितिखंड की अपेक्षा दलिकों की दृष्टि से असंख्यातगुण बड़ा है और स्थिति की अपेक्षा असंख्यातवें भागमात्र है।

इस प्रकार उद्वलनासंक्रम द्वारा दूर करने के लिये जो खंड हैं वे कितने प्रमाण वाले हैं ? इसका विचार किया, अब द्विचरमखंड तक के खंडों में के दलिकों को कहाँ निक्षिप्त किया जाता है, इसको बतलाते हैं—इतनी स्थिति कम हुई, अमुक स्थितिखंड दूर किया यह कब कहलाता है जबकि जितनी-जितनी स्थिति दूर होना हो, उतने-उतने स्थानों में के दलिकों को दूर करके उतनी भूमिका साफ की जाये, दलबिना की कीजाये। यहाँ उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड लेकर उतने स्थानों में के दलिक दूर करके भूमिका साफ करना है, यानि कि उन दलिकों को कहाँ निक्षिप्त किया जाता है, यह बताना चाहिये, इसलिये अब उसको स्पष्ट करते हैं—

खंडदलं सट्ठाणे समए समए असंखगुणणाए।
सेढीए परट्ठाणे विसेसहीणाए संछुभइ ॥७२॥

शब्दार्थ—**खंडदलं**—स्थितिखंड के दलिकों को, **सट्ठाणे**—स्वस्थान में, **समए समए**—प्रतिसमय, **असंखगुणणाए**—असंख्यातगुण रूप, **सेढीए**—श्रेणि से,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परट्ठाणे—परस्थान में, **विसेसहीणाए**—विशेषहीन रूप, **संछुभइ**—संक्रमित किया जाता है ।

गाथार्थ—प्रतिसमय प्रत्येक स्थितिखंड के दलिक स्वस्थान में असंख्यातगुण रूप श्रेणि से और परस्थान में विशेषहीन रूप श्रेणि से संक्रमित किया जाता है ।

विशेषार्थ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड में से जितनी स्थिति दूर करने के लिये समय-समय जो दलिक संक्रमित करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं, उनमें से पहले समय में अल्प दलिक उत्कीर्ण किये जाते हैं, यानि उखाड़े जाते हैं—वहाँ से उन दलिकों को लेकर अन्यत्र प्रक्षिप्त किया जाता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण उत्कीर्ण किये जाते हैं । इस प्रकार से उत्कीर्ण करते हुए—उस प्रथम खंड को दूर करते जो अन्तर्मुहूर्तकाल जाता है, उसके चरम समय में द्विचरम समय से असंख्यातगुण उत्कीर्ण किये जाते हैं । यह प्रथम खंड के उत्कीर्ण करने के विधि जानना चाहिये । इसी क्रम से द्विचरम खंड तक के समस्त स्थितिखंडों को उत्कीर्ण किया जाता है ।

अब इन दलिकों का कहाँ प्रक्षेप किया जाता है ? इसको स्पष्ट करते हैं—स्थितिखंड के दलिक को प्रतिसमय स्वस्थान में असंख्यात-गुणाकार रूप और परस्थान में विशेषहीन श्रेणि से संक्रमित किया जाता है । वह इस प्रकार–पहले समय में स्थितिखंड का जो कर्मदलिक अन्यप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है—अन्यप्रकृति रूप किया जाता है, वह अल्प है, उससे उसी समय स्वस्थान में नीचे जो प्रक्षिप्त किया है, वह पर में प्रक्षिप्त किया उससे असंख्यातगुण होता है ।

उद्वलनासंक्रम द्वारा स्थितिखंड में से ग्रहण किया गया दलिक कितना ही पररूप करता है और कितना ही जिस प्रकृति को उद्वलनासंक्रम द्वारा निर्मूल किये जाने का प्रयत्न किया जाता है, उसके अपने जो स्थान उद्वलित किये जाते हैं, उनके सिवाय शेष नीचे के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानों में प्रक्षिप्त किये जाते हैं। उनमें जितने पर में गये वे तो कम ही हुए, परन्तु नीचे स्वस्थान में जो गये, वे तो कम न होकर जो प्रकृति उद्‌वलित होती है, उसी के अपने नीचे के स्थानों को पुष्ट करने वाले होते हैं। उद्‌वलनासंक्रम का यह क्रम है। द्विचरम स्थिति-खंडपर्यन्त तो इस रीति से स्व और पर में दलिकनिक्षेप होता है, परन्तु अंतिम खंड का दलिक तो स्वयं उद्‌वलित होने से नीचे अपने में दल प्रक्षेप का कोई स्थितिस्थान नहीं होने से पर में ही प्रक्षिप्त करके निःशेष किया जाता है और वह प्रकृति निर्मूल होती है।

पहले समय में नीचे स्वस्थान में जो दलिक निक्षिप्त किया गया उससे दूसरे समय में स्वस्थान में नीचे जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है, वह असंख्यातगुणा होता है और पहले समय में पर में जो दलिक प्रक्षिप्त क्रिया, उससे दूसरे समय में जो दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह विशेषहीन होता है, उससे भी तीसरे समय में स्वस्थान में जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है, वह दूसरे समय में स्वस्थान में प्रक्षिप्त किये गये दलिक से असंख्यातगुण है और तीसरे समय में पर-प्रकृति में जो प्रक्षिप्त किया जाता है, वह दूसरे समय में परस्थान में प्रक्षिप्त किये गये दलिक से विशेषहीन है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय में स्वस्थान में जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है उससे उत्तरोत्तर समय में स्वस्थान में असंख्यातगुण प्रक्षिप्त किया जाता है तथा पूर्व-पूर्व समय में परस्थान में जो प्रक्षिप्त किया जाता है—पररूप किया जाता है, उससे उत्तरोत्तर समय में परस्थान में हीन-हीन प्रक्षिप्त किया जाता है—अन्य रूप हीन-हीन किया जाता है। इस प्रकार अन्त-र्मुहूर्त अथवा जो एक स्थितिखंड को उत्कीर्ण करने का काल है, उसके चरमसमयपर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से द्विचरमखंड तक के समस्त स्थितिखंडों को उत्कीर्ण करने की विधि जानना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब चरमखंड के दलिक के उत्कीर्ण करने की विधि कहते हैं—

चरम स्थितिखंड में जो कुछ भी दलप्रमाण है, उसमें से सकल करण के अयोग्य होने से उदयावलिकागत दलिक को छोड़कर शेष सभी दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है और वह इस प्रकार—पहले समय में अल्प, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण प्रक्षिप्त किया जाता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण पर में प्रक्षेप अन्तर्मुहूर्त के चरमसमय पर्यन्त होता है। यहाँ पहला, दूसरा या चरम समय आदि जो कहा गया है, वह अंतिम खंड को उद्‌वलित करते हुए जो अन्तर्मुहूर्त काल होता है, उसका समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

चरमखंड के अंतिम समय में जो कुछ भी दलिक पर में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं। सर्वसंक्रम अर्थात् समस्त दलिकों का संक्रम। सर्वसंक्रम होने के बाद किसी भी खंड का दलिक शेष नहीं रहता है। चरमखंड के अन्तर्मुहूर्त के चरमसमय में समस्त दलिक पर में प्रक्षिप्त किये जाने में सर्वसंक्रम प्रवर्तित होता है, अथवा यह कहा जा सकता है कि अंतिम समय का वह समस्त दलिक जो पर में जाता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं। उद्‌वलनासंक्रम द्वारा अंतिम खंड उद्‌वलित किये जाने के बाद एक उदयावलिका शेष रहती है, जिसे स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके दूर किया जाता है।[1]

द्विचरमस्थितिखंड के दलिक को चरमसमय में जितना स्व और पर स्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, इस प्रकार से पर में प्रक्षिप्त करते उस चरम खंड के निर्मूल होने में कितना समय व्यतीत होता है, अब यह स्पष्ट करते हैं—

दुचरिमखंडस्स दलं चरिमे जं देइ सपरट्‌ठाणंमि ।
तम्माणेणस्स दलं पल्लंगुलसंखभागेहिं ॥७३॥

---

१ सुगम बोध के लिये उक्त समग्र कथन का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—दुचरिमखंडस्स—द्विचरमखंड का, **दलं**—दलिक, **चरिमे**—चरमसमय में, **जं**—जो, **देइ**—प्रक्षिप्त किया जाता है, **सपरट्ठाणंमि**—स्व और पर स्थान में, **तम्माणेणस्स**—इस प्रमाण से, **दलं**—दलिक, **पल्लंगुलसंखभागेहिं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल और अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश के समय प्रमाण।

गाथार्थ—चरम समय में द्विचरमखंड का जो दलिक स्व और पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरमखंड का वह दलिक पर में प्रक्षेप करते अनुक्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल और अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे आकाश प्रदेश के समय प्रमाण काल में दूर होता है, निर्लेप होता है।

विशेषार्थ—चरमसमय में द्विचरमस्थितिखंड का जो प्रदेशप्रमाण अपने ही चरम स्थितिखंड रूप स्वस्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरम स्थितिखंड का दलिक प्रतिसमय अन्य में संक्रमित करते पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में वह चरमखंड पूर्ण रूप से निर्मूल किया जाता है। अर्थात् उस चरमखंड को सर्वथा निर्मूल करने में पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितना काल लगता है तथा चरमसमय में द्विचरम स्थितिखंड का दलिक जितना परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से अपहृत किया जाता चरमखंड का दलिक अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण समयों द्वारा अपहृत किया जाता है। अर्थात् चरमसमय में द्विचरम स्थितिखंड के दलिक को जितना पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरमखंड को पर में संक्रमित किया जाये तो उस चरमखंड को सम्पूर्ण रूप से निर्मूल होने में अंगुल के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेशप्रमाण समय व्यतीत हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने चरमस्थितिखंड के ऊपर कहे गये प्रमाण वाले दलिक के खंड होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह क्षेत्र की अपेक्षा मार्गण—विचार हुआ और कालापेक्षा विचार इस प्रकार है—द्विचरम स्थितिखंड का जितने प्रमाण वाला कर्मदलिक चरमसमय में परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उतने प्रमाण वाले चरम स्थितिखंड का दलिक यदि प्रतिसमय परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाये तो वह चरम स्थितिखंड असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में निर्लेप होता है—निर्मूल, नष्ट, सत्तारहित होता है। इस प्रकार अमुक प्रमाण द्वारा चरमस्थितिखंड का दलिक पर में संक्रांत किया जाता है तो उसमें कितना काल व्यतीत होता है, इसका विचार जानना चाहिये। अर्थात् उद्वलनासंक्रम द्वारा स्व में नीचे अधिक दलिक उतरते हैं, जिससे उस प्रमाण से संक्रमित करते समय कम लगता है और पर में अल्प संक्रमित किया जाता है, जिससे उस प्रमाण द्वारा संक्रमित करते काल अधिक लगता है। किसी प्रकृति को सत्ता में से निर्मूल करने के लिये जहाँ मात्र उद्वलना प्रवृत्त होती है, वहाँ पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितना काल लगता है और यदि साथ में गुणसंक्रम भी होता है तब अन्तर्मुहूर्त में कोई भी कर्मप्रकृति निर्मूल हो जाती है।

यहाँ 'चरमसमय' शब्द द्वारा द्विचरमखंड उद्वलित करते जो अन्तर्मुहूर्त काल जाता है, उसका चरमसमय ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार से उद्वलनासंक्रम का अर्थ क्या है, वह किस प्रकार से होता है और दलिक कहाँ संक्रमित होते हैं, इस सबका कथन किया। अब उद्वलित की जाती प्रकृतियों के स्वामियों का निर्देश करते हैं। अर्थात् किस-किस प्रकृति की कौन-कौन उद्वलना करता है, इसका विचार करते हैं।

उद्वलनासंक्रम के स्वामी

एवं उव्वलणासंकमेण नासेइ अविरओ आहारं।
सम्मोऽणमिच्छमीसे छत्तीस नियट्ठी जा माया ॥७४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**एवं**—इस प्रकार से, **उव्वलणासंकमेण**—उद्‌वलनासंक्रम द्वारा, **नासेइ**—निर्मूल करता है, **अविरओ**—अविरत, **आहारं**—आहारकसप्तक को, **सम्मो**—सम्यग्दृष्टि, **अणमिच्छमीसे**—अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय, **छत्तीस**—छत्तीस प्रकृतियों का, **नियट्टी**—अनिवृत्तिबादरसंपरायगुण-स्थानवर्ती, **जा**—यावत्, पर्यन्त की, **माया**—माया।

गाथार्थ—इस प्रकार से उद्‌वलनासंक्रम द्वारा अविरत जीव आहारकसप्तक को निर्मूल करता है, सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का नाश करता है और माया तक की छत्तीस प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव नाश करता है।

विशेषार्थ—उद्‌वलनासंक्रम द्वारा जिस प्रकार से कर्मप्रकृतियों को सत्ता में से निर्मूल करने की विधि पूर्व में कही है, उस प्रकार से अविरत जीव आहारकसप्तक को निर्मूल करता है। यानि कि विरतिपने में से जिस समय आहारकसप्तक की सत्ता वाला जीव अविरतपने को प्राप्त करता है, उस समय से अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद आहारकसप्तक की उद्‌वलना प्रारंभ करता है और उसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग में निर्मूल करता है। क्योंकि आहारकसप्तक की सत्ता अविरत के नहीं होती है, विरत के ही पाई जाती है तथा अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत या सर्वविरत जीव अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्व की तरह उद्‌वलना करता है तथा मध्यम आठ कषाय, नव नोकषाय, स्त्यानर्धित्रिक, नामकर्म की तेरह प्रकृति और संज्वलन क्रोध, मान, माया इन छत्तीस प्रकृतियों को अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्मुहूर्त काल में उद्‌वलित करता है। तथा—

सम्ममीसाई मिच्छो सुरदुगवेउव्विछक्कमेगिंदी।
सुहुमतसुच्चमणुदुगं अंतमुहुत्तेण अणिअट्टी ॥७५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—सम्ममीसाई—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि जीव, **सुरदुगवेउव्विछक्कमेगिंदी**—देवद्विक, वैक्रियषट्क का एकेन्द्रिय, **सुहुमतसुच्चमणुदुगं**—सूक्ष्मत्रस उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक का, **अंतमुहुत्तेण**—अन्तर्मुहूर्त काल में, **अणिअट्टी**—अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का मिथ्यादृष्टि जीव तथा देवद्विक एवं वैक्रियषट्क का एकेन्द्रिय जीव नाश (उद्वलना) करता है और उच्चगोत्र तथा मनुष्यद्विक का सूक्ष्मत्रस नाश करता है। अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त काल में (छत्तीस प्रकृतियों की) उद्वलना करता है।

विशेषार्थ—मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की पूर्वोक्त प्रकार से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में उद्वलना करता है। नामकर्म की पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाला एकेन्द्रिय जीव पहले देवद्विक की उद्वलना करता है, तत्पश्चात् वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, वैक्रियबंधन, वैक्रियसंघातन और नरकद्विक रूप वैक्रियषट्क को एक साथ पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में उद्वलित करता है तथा सूक्ष्मत्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव पहले उच्चगोत्र को और उसके बाद मनुष्यद्विक को पूर्वोक्त क्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में उद्वलित करते हैं।

गाथा ७० के 'पलियासंखियभागेणं कुणइ णिल्लेव' इस अंश में उद्वलनासंक्रम द्वारा उद्वलित की जाती कर्मप्रकृतियों का सामान्य से पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण जो काल बतलाया है, उसका यहाँ अपवाद कहते हैं—'अणिअट्टी अंतमुहुत्तेण' अर्थात्, अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव पूर्वोक्त गाथा में कही गई छत्तीस प्रकृतियों को अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्ण रूप से उद्वलित करता है—नाश करता है तथा गाथा ७४ में कहा गया 'छत्तीस नियट्ठी'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद अन्य का उपलक्षण रूप होने से क्षायिक सम्यक्त्व उपर्जित करते हुए चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय को भी अन्तर्मुहूर्त काल में उद्‌वलित करते हैं। इस गाथा में तेरह प्रकृतियों की उद्‌वलना के स्वामियों का निर्देश किया है।

यहाँ जितनी प्रकृतियों के लिये उद्‌वलना का अन्तर्मुहूर्त काल बताया है, उनके सिवाय शेष अन्य प्रकृतियों के लिये पल्योपम का असंख्यातवें भाग प्रमाण उद्‌वलना का काल समझना चाहिये। इसी प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिये कि ७४वीं गाथा में उनचास और ७५वीं गाथा में तेरह कुछ बासठ प्रकृतियों के स्वामियों का निर्देश किया हैं। उनमें से मिश्रमोहनीय पहले गुणस्थान में और क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए भी उद्‌वलित की जाती है और नरकद्विक का एकेन्द्रिय में तथा नौवें गुणस्थान में भी उद्‌वलन होता है। इसलिये इन तीन प्रकृतियों को दो बार न गिनकर एक बार ही लेने से कुल बासठ प्रकृतियों में से तीन प्रकृतियों को कम करने पर उनसठ होती हैं तथा ७४वीं गाथा में बंधन के पन्द्रह भेद की विवक्षा से आहारकसप्तक को लिया है, जब कि ७५वीं गाथा में बंधन के पांच भेदों की विवक्षा करके वैक्रियचतुष्क को ग्रहण किया है। यदि दोनों स्थानों पर बंधन के पन्दह भेदों की विवक्षा की जाये तो ७४वीं गाथा में कही गई उनचास और ७५वीं गाथा में बताई गई सोलह को मिलाने पर पैंसठ प्रकृति होती हैं। उनमें से मिश्र और नरकद्विक को कम करने पर बासठ प्रकृतियां उद्‌वलनायोग्य होती हैं और यदि दोनों स्थानों पर पांच बंधन की विवक्षा की जाये तो गाथा ७४ में कही गई छियालीस और गाथा ७५ में कहीं गई तेरह कुल उनसठ प्रकृतियों में से मिश्र-मोहनीय और नरकद्विक को कम करने पर छप्पन प्रकृतियां उद्‌वलना-योग्य होती हैं। उद्‌वलनयोग्य इतनी ही प्रकृतियां हैं। अन्य प्रकृतियां उद्‌वलनासंक्रम योग्य नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना पहले कही किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए जो नहीं कही है, तो उसका कारण यह है कि उद्वलनासंक्रम द्वारा स्व और पर दोनों में दलिकों का प्रक्षेप किया जाता है। चौथे आदि में सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होने से पर में नहीं जाते हैं, मात्र स्व में ही संक्रांत होते हैं, इसीलिये चतुर्थ आदि गुणस्थानों उसकी उद्वलना नहीं होती है।

उद्वलनासंक्रमयोग्य प्रकृतियों का स्वामित्व और काल दर्शक प्रारूप पृष्ठ १७७ पर देखिये।

इस प्रकार से उद्वलनासंक्रम का स्वरूपनिर्देश करने के अनन्तर अब यथाप्रवृत्तसंक्रम का वर्णन करते हैं।

यथाप्रवृत्तसंक्रम

संसारत्था जीवा सबंधजोगाण तद्दलपमाणा।
संकामे तणुरूवं अहापवत्तीए तो णाम ॥७६॥

शब्दार्थ—**संसारत्था**—संसारस्थ, **जीवा**—जीव, **सबंधजोगाण**—स्वबंधयोग्य प्रकृतियों के दलिकों को, **तद्दलपमाणा**—दल के प्रमाण में, **संकामे**—संक्रमित करता है, **तणुरूवं**—तदनुरूप—योगानुसार, **अहापवत्तीए**—यथाप्रवृत्ति से, **तो**—इसलिये, **णाम**—नाम।

गाथार्थ—संसारस्थ जीव स्वबंधयोग्य प्रकृतियों के दलिकों को उन-उन प्रकृतियों के सत्तागत दल के प्रमाण में (अनुरूप) योगानुसार संक्रमित करता है, इसलिये उसका यथाप्रवृत्त ऐसा नाम है।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तसंक्रम यानि योग की प्रवृत्ति के अनुरूप होने वाला संक्रम। यदि योग की प्रवृत्ति अल्प हो तो अल्प दलिकों का संक्रम होता है, मध्यम प्रवृत्ति हो तो मध्यम और यदि योग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वलना संक्रमयोग्य प्रकृतियों का स्वामित्व और काल

प्रकृति	उद्वलनस्वामित्व	उद्वलनकाल
मिथ्यादृष्टियों की २३ व आहारकसप्तक	अविरत	पल्यासंख्येय भाग
सम्यक्त्व मिश्र देवद्विक वैक्रियसप्तक नरकद्विक युगपत्	२८ की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि, २८ या २७ की सत्ता वाले आहारक, तीर्थंकर नाम रहित ९५ नाम-कर्म की सत्ता वाले एकेन्द्रिय	,,
उच्चगोत्र, मनुष्य-द्विक	अग्निकायिक, वायु-कायिक	,,
सम्यग्दृष्टि की ४२, स्त्यानर्द्धित्रिक स्थाव. सूक्ष्म, तिर्यंच-द्विक, नरकद्विक, आतप उद्योत, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियत्रिक साधा-रण मध्य आठ कषाय, नव नोकषाय, संज्व. क्रोध, मान, माया	नौवें गुणस्थानवर्ती क्षपक	अन्तर्मुहूर्त
मिथ्यात्व, मिश्र. अनन्तानुबंधिचतुष्क	४, ५, ६, ७, गुणस्थान वर्ती	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रवृत्ति उत्कृष्ट हो तो-उत्कृष्ट अधिक दलिकों का संक्रम होता है। योग की प्रवृत्ति के अनुसार ही इस संक्रम के होने से यथाप्रवृत्त यह सार्थक नाम है।

इस संक्रम द्वारा संसारस्थ जीव स्वबंधयोग्य ध्रुवबंधिनी अथवा अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के दलिकों के—जिस कर्मप्रकृति के दलिकों को संक्रमित करते हैं, उसके सत्तागत दलिकों के—अनुरूप संक्रमित करते हैं। उस काल में यदि ध्रुवबंधिनी या अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के दलिक अधिक बंधते हों अथवा तद्भव बंधयोग्य कितनी ही अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उस समय बंध न हो, परन्तु पूर्व के बंधे हुए बहुत से दलिक सत्ता में हों तो अधिक संक्रमित करते हैं, अल्प हों तो अल्प संक्रमित करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में विद्यमान दलिकों के अनुसार—दलिकों के प्रमाण में संक्रमित करते हैं। वे भी जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जिस प्रकार की योगप्रवृत्ति हो तदनुरूप—उस प्रकार से संक्रमित करते हैं। जघन्य योग में वर्तमान अल्प दलिक, मध्यम योग में वर्तमान मध्यम और उत्कृष्ट योग में वर्तमान उत्कृष्ट—अधिक दलिकों को संक्रमित करते हैं। इसी कारण इस संक्रम का यथाप्रवृत्तसंक्रम यह सार्थक नाम है।

'स्वबंधयोग्य प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं' इस कथन का आशय है कि यद्यपि कितनी ही अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का संक्रमकाल में बंध न हो किन्तु जिन प्रकृतियों की उस भव में बंध की योग्यता हो, परन्तु उनके बंध का अभाव होने पर भी यथाप्रवृत्तसंक्रम की प्रवृत्ति होती है। जिन प्रकृतियों का बंध हो उन्हीं का यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है, यदि ऐसा कहना होता तो 'बध्यमान' ऐसा गाथा में संकेत होता। लेकिन ग्रंथकार ने गाथा में ऐसा संकेत नहीं किया है। इसलिये बंधती हों या उस भव में बंधयोग्य हों अथवा संक्रमकाल में बंधती न हों तो भी उनका यथाप्रवृत्तसंक्रम होना सम्भव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के यथाप्रवृत्तसंक्रमक तद्‌बंधक हैं तथा तद्‌भवयोग्य परावर्तमानबंधिनी प्रकृतियों के संक्रमक तद्‌बंधक और अबन्धक दोनों हैं।

यह संक्रम योगानुरूप होता है। इसके बाधक विध्यात या गुण संक्रम हैं।

इस प्रकार से यथाप्रवृत्तसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त गुणसंक्रम का निर्देश करते हैं।

गुणसंक्रम

असुभाण पएसग्गं बज्झंतीसु असंखगुणणाए।
सेढीए अपुव्वाई छुभंति गुणसंकमो एसो ॥७७॥

शब्दार्थ—**असुभाण**—अशुभ प्रकृतियों के, **पएसग्गं**—प्रदेशाग्र, **बज्झंतीसु**—बध्यमान प्रकृतियों में, **असंखगुणणाए**—असंख्यातगुण, **सेढीए**—श्रेणि से, **अपुव्वाई**—अपूर्वकरणादि, **छुभंति**—संक्रमित करते हैं, **गुणसंकमो**—गुणसंक्रम **एसो**—यह।

गाथार्थ—(अबध्यमान) अशुभ प्रकृतियों के प्रदेशाग्र को बध्यमान प्रकृति में असंख्यात गुणश्रेणि से अपूर्वकरण आदि जीव जो संक्रमित करते हैं, यह गुणसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के दलिकों को अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती जीव प्रति समय असंख्य गुणश्रेणि से बध्यमान प्रकृतियों में जो संक्रमित करते हैं, वह गुणसंक्रम है। पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप से जो संक्रम वह गुणसंक्रम, यह गुणसंक्रम शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है।

अपूर्वकरण आदि गुणस्थान से जिन अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, वे इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, आतप और नरकायु को छोड़कर मिथ्यादृष्टि के बंधयोग्य तेरह तथा अनन्तानुबंधिचतुष्क, तिर्यंचायु और उद्योत को छोड़कर शेष ससादनगुणस्थानयोग्य उन्नीस तथा अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क रूप आठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, शोक, अरति, असातावेदनीय इन चौदह प्रकृतियों को मिलाने पर कुल छियालीस अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों से गुणसंक्रम होता है।

ऊपर जो प्रकृतियां छोड़ी हैं, उनके छोड़ने का कारण यह है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिचतुष्क को अपूर्वकरणगुणस्थान प्राप्त होने के पूर्व ही अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए क्षय करते हैं। आतप, उद्योत शुभ प्रकृतियां हैं, अतः उनका गुणसंक्रम नहीं होता है तथा आयु का परप्रकृति में संक्रम नहीं होता है, इसीलिये मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का निषेध किया है।

निद्राद्विक, उपघात, अशुभवर्णादि नवक, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन अशुभ प्रकृतियों का अपूर्वकरणगुणस्थान में जिस समय बंधविच्छेद होता है, उसके बाद से गुणसंक्रम होता है।

इस प्रकार अपूर्वकरणगुणस्थान से जिन प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, उनके नाम जानना चाहिये।

अब गुणसंक्रम का दूसरा अर्थ कहते हैं—अपूर्वकरण आदि संज्ञा वाले करण की अर्थात् सम्यक्त्वादि प्राप्त करते जो तीन करण होते हैं, उनमें के अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण[1] की प्रवृत्ति जब से होती है, तब से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के दलिकों को असंख्यात गुणश्रेणि से बध्यमान प्रकृतियों में जो प्रक्षेप किया जाता है, उसे भी गुणसंक्रम कहते हैं। गुणसंक्रम का ऐसा भी अर्थ होने से क्षपणकाल में मिथ्यात्व, मिश्रमोहनीय और अनन्तानुबंधिचतुष्क का अपूर्वकरण रूप करण से लेकर गुणसंक्रम होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु अबध्यमान समस्त अशुभप्रकृतियों का गुणसंक्रम तो आठवें गुणस्थान से ही होता है।

---

१ इन करणों में भी चौथे से सातवें गुणस्थान तक में मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबंधिचतुष्क का गुणसंक्रम होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक में बंधविच्छेद होने वाली छियालीस और अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधविच्छेद को प्राप्त होने वाली निद्राद्विक आदि सोलह, इस प्रकार बासठ तथा अपूर्वकरण संज्ञा वाले अपूर्वकरण से अनन्तानुबंधिचतुष्क, मिथ्यात्व और मिश्र ये छह कुल मिलाकर अड़सठ प्रकृतियों का गुणसंक्रम बताया है। यदि इनमें अशुभ वर्णादि के उत्तर भेदों को न लेकर सामान्य से अशुभ वर्णचतुष्क को लिया जाये तो पांच प्रकृतियों को कम करने पर कुल त्रेसठ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होना बताया है। परन्तु पुरुषवेद और लोभ के बिना संज्वलनत्रिक, इन चार प्रकृतियों का भी गुणसंक्रम सम्भव है। क्योंकि अपूर्वकरण से अबध्यमान समस्त अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, जिससे निद्राद्विक आदि प्रकृतियों का गुणसंक्रम बताया है। इसी प्रकार नौवें गुणस्थान में अपने-अपने बंधविच्छेद के बाद इन चार प्रकृतियों का गुणसंक्रम होने में कोई बाधा नहीं दिखती है। क्यों कि छठे कर्मग्रंथ की गाथा ६७ की टीका में भी बंधविच्छेद के समय में समयन्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए सत्तागत दलिकों का उतने ही काल में गुणसंक्रम द्वारा क्षय करता है, ऐसा बताया है तथा उद्वलनासंक्रम द्वारा भी जिन प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्तकाल में क्षय होता है, वहाँ भी उद्वलनासंक्रम के अंतर्गत गुणसंक्रम माना है। परन्तु यदि उस उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम की विवक्षा न करें तो नौवें गुणस्थान में उद्वलनासंक्रम द्वारा क्षय को प्राप्त होती मध्यम आठ कषायादि शेष प्रकृतियों का भी गुणसंक्रम घटित नहीं हो सकता है, लेकिन उन प्रकृतियों को गुणसंक्रम में ग्रहण किया है, इसलिये इन चार प्रकृतियों (पुरुषवेद, लोभ बिना संज्वलनत्रिक) का भी गुणसंक्रम अवश्य सम्भव है, तथापि यहाँ उनकी विवक्षा क्यों नहीं की गई है? विद्वज्जन इसको स्पष्ट करने की कृपा करें।

इस प्रकार से गुणसंक्रम की वक्तव्यता जानना चाहिये। अब सर्वसंक्रम का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वसंक्रम

चरमठिईए रइयं पइसमयमसंखियं पएसग्गं।
ता छुभइ अन्नपगइं जावंते सव्वसंकामो ॥७८॥

शब्दार्थ—**चरमठिईए**—चरम स्थितिखंड में, **रइयं**—रचित, **पइसमयं**—प्रतिसमय, **असंखियं**—असंख्यात गुणाकार रूप से, **पएसग्गं**—प्रदेशाग्र, **ता**—तब तक, **छुभइ**—संक्रमित करता है, **अन्नपगइं**—अन्य प्रकृति में, **जावंते**—यावत् अंतिम, **सव्वसंकामो**—सर्वसंक्रम।

गाथार्थ—उद्वलनासंक्रम करते हुए चरमस्थितिखंड में स्वस्थानप्रक्षेप द्वारा जो दलिक रचित हैं, उन्हें अन्य प्रकृति में प्रतिसमय असंख्यात गुणाकार रूप से तब तक संक्रमित करता है, यावत् द्विचरम प्रक्षेप प्राप्त हो और अंतिम जो प्रक्षेप होता है उसे सर्वसंक्रम कहते हैं।

विशेषार्थ—यह पूर्व में बताया जा चुका है कि उद्वलनासंक्रम द्वारा पर और स्व में दलिक प्रक्षेप होता है और उसमें भी पर में अल्प एवं स्व में अधिक प्रक्षेप होता है। ऐसे उद्वलनासंक्रम द्वारा संक्रमित किये जाते स्वस्थानप्रक्षेप द्वारा चरमस्थितिखंड में जो दलिक रचित किया गया है—प्रक्षिप्त किया गया है, उसे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से अंतर्मुहूर्त पर्यन्त परप्रकृति में प्रक्षिप्त करता है और अन्तर्मुहूर्त काल में वह चरमखंड निर्लेप होता है।

यह उद्वलनासंक्रम कहाँ तक कहलाता है और सर्वसंक्रम किसे कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण यह है—

उद्वलनासंक्रम करते हुए स्वस्थान-प्रक्षेप द्वारा चरम स्थितिखंड में जो कर्मदलिक प्रक्षिप्त किया है, उसे प्रतिसमय परप्रकृति में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से वहाँ तक संक्रमित करता है कि यावत् द्विचरम प्रक्षेप आता है। यहाँ तक तो उद्वलनासंक्रम कहलाता है और अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय में जो चरम प्रक्षेप होता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकृति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वलनासंक्रम प्रवृत्त होता है, उस प्रकृति के चरम खंड का चरमसमय में पूर्ण रूप से पर में जो प्रक्षेप होता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं।

इस प्रकार से सर्वसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये। अब किस संक्रम को रोक कर कौन-सा संक्रम प्रवृत्त हो सकता है, इसका विचार करते हैं।

परस्पर बाधक संक्रम

बाहिय अहापवत्तं सहेउणाहो गुणो व विज्झाओ।
उव्वलणसंकमस्सवि कसिणो चरिमम्मि खंडम्मि ॥७९॥

शब्दार्थ—**बाहिय**—बाधित कर, रोककर, **अहापवत्तं**—यथाप्रवृत्तसंकम को, **सहेउणाहो**—अपने हेतु के द्वारा, **गुणो**—गुणसंक्रम, **व**—अथवा, **विज्झाओ**—विध्यातसंक्रम, **उव्वलणसंकमस्सवि**—उद्वलनासंक्रम के भी, **कसिणो**—सर्वसंक्रम, **चरिमम्मि खंडम्मि**—चरम खंड में।

गाथार्थ—स्व हेतु के सामर्थ्य से यथाप्रवृत्तसंक्रम को रोक कर गुणसंक्रम अथवा विध्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है। उद्वलनासंक्रम के चरमखंड में चरमप्रक्षेप रूप सर्वसंक्रम भी होता है।

विशेषार्थ—अपने गुण या भव रूप निमित्त को प्राप्त करके अबंध होने रूप हेतु की प्राप्ति—संबन्ध के सामर्थ्य द्वारा यथाप्रवृत्तसंक्रम को रोककर गुणसंक्रम या विध्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है। यथाप्रवृत्तसंक्रम सामान्य है, जिससे गुण या भव रूप हेतु के द्वारा कर्मप्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के पश्चात् विध्यातसंक्रम या गुणसंक्रम प्रवृत्त होता है। अतएव यथाप्रवृत्तसंक्रम को बाध कर, उसको हटा कर गुणसंक्रम या विध्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है तथा सर्वसंक्रम उद्वलनासंक्रम के चरमखंड का चरमप्रक्षेप रूप है। इसलिये यह सर्वसंक्रम भी उद्वलनासंक्रम को हटा कर प्रवृत्त होता है, यह समझना चाहिये।[1]

---

१ प्रदेशसंक्रम के उक्त पांच भेदों में संक्रलित प्रकृतियों की सूची परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त पांच संक्रम के अतिरिक्त स्तिबुकसंक्रम नाम का भी एक छठा प्रदेशसंक्रम है। किन्तु उसे छठे भेद के रूप में नहीं कहा है। क्योंकि उसमें करण का लक्षण घटित नहीं होता है। करण तो सलेश्य जीव के व्यापार को कहते हैं। अतः जहाँ-जहाँ लेश्यायुक्त वीर्य का व्यापार होता है वहाँ संक्रम, बंधन आदि करणों की प्रवृत्ति होती है। लेकिन स्तिबुकसंक्रम की प्रवृत्ति में वीर्यव्यापार कारण नहीं है, वह तो साहजिक रूप से होता है। इसके द्वारा किसी भी प्रकार के वीर्यव्यापार के बिना फल देने के सन्मुख हुआ एक समय मात्र में भोगा जाये इतना दलिक अन्य रूप होता है तथा यह भी विशेष है कि संक्रमकरण द्वारा अन्य स्वरूप हुआ कर्म अपने मूलस्वरूप को छोड़ देता है, जबकि स्तिबुकसंक्रम द्वारा अन्य में गया दलिक सर्वथा अपने मूल स्वरूप को छोड़ता नहीं है, यानि कि सर्वथा पतद्ग्रहप्रकृति रूप में परिणमित नहीं होता है। संक्रमकरण द्वारा बंधावलिका के जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर का दलिक अन्य रूप होता है और स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयावलिका के उदय-गत एक स्थान का ही दलिक उदयवती प्रकृति के उदयसमय में किसी भी प्रकार के प्रयत्न के सिवाय जाता है। यह स्तिबुकसंक्रम तो अलेश्य अयोगिकेवली भगवान को अयोगिकेवलिगुणस्थान के द्विचरमसमय में तिहत्तर प्रकृतियों का होता है। इस कारण स्तिबुकसंक्रम को आठ करण के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया है, फिर भी यहाँ उसका स्वरूप इसलिये कहते हैं कि वह भी एक प्रकार का संक्रम है।

स्तिबुकसंक्रम

पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाओ।
संकामिऊण वेयइ जं एसो थिबुगसंकामो ॥८०॥

शब्दार्थ—**पिंडपगईण**—पिंडप्रकृतियों का, **जा**—जो, **उदयसंगया**—उदय-प्राप्त, **तीए**—उसमें, **अणुदयगयाओ**—अनुदयप्राप्त, **संकामिऊण**—संक्रामित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके, **वेयइ**—वेदन की जाती है, **जं**—जो, **एसो**—यह, **थिबुगसंकामो**—स्तिबुकसंक्रम ।

गाथार्थ—पिंड प्रकृतियों की उदयप्राप्त जो प्रकृति है, उसमें अनुदयप्राप्त प्रकृति संक्रामित करके वेदन की जाती है, यह स्तिबुकसंक्रम कहलाता है ।

विशेषार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति रूप चौदह पिंडप्रकृतियों में से प्रत्येक की उदय प्राप्त जो प्रकृति होती है, उसके समान काल वाली उदयस्थिति में जिस प्रकृति का उदय नहीं है, अनुदय है, उसको संक्रामित करके जो अनुभव किया जाता है, उसे स्तिबुकसंक्रम कहते हैं । जैसे उदयप्राप्त मनुष्यगति में शेष तीन गति के दलिकों को, उदयप्राप्त एकेन्द्रियजाति में शेष जाति के दलिकों को जो संक्रमित किया जाता है, यह स्तिबुकसंक्रम कहलाता है । प्रदेशोदय भी इसका अपरनाम है । दोनों समानार्थक ही हैं ।

सत्ता में असंख्य स्थितिस्थान होते हैं और वे क्रमशः अनुभव किये जाते हैं । एक साथ एक से अधिक स्थितिस्थान अनुभव नहीं किये जाते हैं । जिस कर्मप्रकृति के फल को अपने स्वरूप से साक्षात् अनुभव किया जाता है, उसके अनुभव किये जाते—उदय समय में जिसका अबाधाकाल बीत गया है, परन्तु स्वरूप से फल दे सके ऐसी स्थिति में नहीं है, वैसी प्रकृति का उदयसमय—उदयप्राप्त स्थितिस्थान जीव की किसी भी प्रकार की वीर्यप्रवृत्ति के बिना सहजभाव से संक्रमित होता है । जिससे ऊपर कहे गये 'समानकाल वाली उदयस्थिति में' पद का यह तात्पर्य हुआ कि संक्रमित होने वाली प्रकृति का उदयस्थान होना चाहिये एवं पतद्ग्रहप्रकृति का भी उदयस्थान होना चाहिये । उदयस्थान में उदयस्थान का संक्रमण होना । यहाँ उदयस्थान में उदयस्थान का संक्रमण होता है, जिससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों की उदयकाल रूप समानस्थिति घट सकती है। अबाधाकाल बीतने के अनन्तर तो प्रत्येक कर्म अवश्य फल देने के सन्मुख होता है। उसमें कोई कर्म अपने स्वरूप से फल दे, ऐसी स्थिति में तो कोई कर्म अन्य में मिल कर फल दे, ऐसी स्थिति में होता है। जैसे कि जिस गति की आयु का उदय हो उसके अनुकूल सभी प्रकृतियों का स्वरूपतः और उनके सिवाय अन्य प्रकृतियों का पररूप से उदय होता है। पररूप से जो उदय उसी का नाम ही प्रदेशोदय या स्तिबुकसंक्रम कहलाता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अबाधाकाल बीतने के बाद प्रत्येक कर्मप्रकृति फल देने के उन्मुख होती है, यानि जो स्वरूप में अनुभव की जाये, उसकी जैसे उदयावलिका होती है, उसी प्रकार जो पररूप से अनुभव की जाये, स्वरूप से अनुभव न की जाये उसकी भी उदयावलिका होती है। उदयावलिका अर्थात् उदयसमय से लेकर एक आवलिका काल में भोगे जायें, उतने स्थितिस्थान। वे स्थितिस्थान तो दोनों में हैं ही, किन्तु एक को रसोदयावलिका कहते हैं और दूसरे को प्रदेशोदयावलिका-स्तिबुकसंक्रम कहते हैं।

नामकर्म की अनेक प्रकृतियां हैं। किन्तु सभी का नहीं, अमुक का ही रसोदय होता है और शेष प्रकृतियां प्रदेशोदय के रूप में अनुभव की जाती हैं। इसीलिये गाथा में जो मात्र पिंडप्रकृतियों का संकेत किया है, वह बहुत्व की अपेक्षा से है। जिससे अन्य प्रकृतियों में भी यदि उनका स्वरूप से उदय न हो तो उनमें भी स्तिबुकसंक्रम प्रवृत्त होता है, ऐसा समझना चाहिये। जैसे कि क्षयकाल में संज्वलन क्रोधादि की शेषीभूत उदयावलिका संज्वलन मान आदि में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित होती है।

इस प्रकार से स्तिबुकसंक्रम की लाक्षणिक व्याख्या जानना चाहिये। अब विध्यात आदि गुणसंक्रम पर्यन्त के अपहारकाल के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विध्यात आदि संक्रमों के अपहारकाल का अल्पबहुत्व

गुणमाणेणं दलिअं हीरंतं थोवएण निट्ठाइ।
कालोऽसंखगुणेणं अहविज्झ उव्वलणगाणं ॥८१॥

शब्दार्थ—**गुणमाणेणं**—गुणसंक्रम के प्रमाण से, **दलिअं**—दलिक, **हीरंतं**—अपहरण किया जाता, **थोवएण**—अल्पकाल में, **निट्ठाइ**—निर्लेप होता है, **कालोऽसंखगुणेणं**—असंख्यातगुण काल, **अहविज्झ उव्वलणगाणं**—यथाप्रवृत्त, विध्यात और उद्वलना संक्रमों द्वारा।

गाथार्थ—गुणसंक्रम के प्रमाण द्वारा अपहरण किया जाता चरमखंड का दलिक अल्पकाल में निर्लेप होता है और यथाप्रवृत्त, विध्यात और उद्वलना संक्रमों द्वारा उसी खंड के दलिक का अपहरण किये जाने में अनुक्रम से असंख्यातगुण असंख्यातगुण काल होता है।

विशेषार्थ—उद्वलनासंक्रम के स्वरूपकथन के प्रसंग में जो चरम खंड का निर्देश किया था, उस चरमखंड के दलिक को गुणसंक्रम के प्रमाण से अपहार किया जाये—पर में निक्षेप किया जाये तो वह चरमखंड अल्पकाल में ही—अन्तर्मुहूर्तकाल में पूर्ण रूप से निर्लेप होता है तथा उसी चरमखंड के दलिक को यथाप्रवृत्त, विध्यात और उद्वलना संक्रम के प्रमाण से यानि कि उस-उस संक्रम के द्वारा जितना-जितना अपहृत किया जा सके—पर में संक्रमित किया जा सके, उस प्रमाण से यदि अपहरण किया जाये तो अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यातगुण काल में अपहरण किया जा सकता है। इसीलिये उनका अपहरण काल अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यातगुण जानना चाहिये।

असंख्यातगुण काल कहने का कारण यह है कि यदि उस चरम-खंड को यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा अपहार किया जाये तो वह खंड पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में निर्लेप होता है। इसीलिये गुणसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से यथाप्रवृत्त-**संक्रम** द्वारा होने वाला अपहारकाल असंख्यातगुण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि उसी चरम खंड को विध्यातसंक्रम द्वारा अपहार किया जाये तो वह चरमखंड असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में निर्लेप होता है। इसीलिये यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से विध्यातसंक्रम द्वारा होने वाला अपहारकाल असंख्यातगुण है तथा उसी चरमखंड को द्विचरमस्थितिखंड के चरमसमय में पर-प्रकृति में जितना दलिक निक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से उद्‌वलनासंक्रम द्वारा अपहार किया जाये तो वह चरमखंड अति प्रभूत असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी द्वारा निर्लेप होता है, जिससे विध्यातसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से उद्‌वलनासंक्रम द्वारा होने वाला अपहारकाल इस प्रकार से असंख्यातगुणा होता है।

यदि विध्यात और उद्‌वलना संक्रमों द्वारा होने वाले अपहार का क्षेत्रापेक्षा विचार किया जाये तो अंगुल के असंख्यातवें भाग में वर्तमान आकाश प्रदेश जितने समय प्रमाण काल में होता है। मात्र उद्‌वलनासंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल में बृहत्तम अंगुल का असंख्यातवां भाग ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ जो संक्रमविषयक काल का अल्पबहुत्व कहा है, उससे यह जाना जा सकता है कि किस संक्रम का कितना बल है। सबसे अधिक बलशाली गुणसंक्रम है, उससे कम यथाप्रवृत्तसंक्रम और उससे भी कम बलवान विध्यातसंक्रम है। यद्यपि योगानुसार संक्रम होता है, परन्तु कालभेद से होने के कारण यह अल्पबहुत्व संभव है। गुणसंक्रम द्वारा होने वाला संक्रम तो सदा अधिक ही होता है। बंधयोग्य प्रकृतियों का संक्रम और बंध-विच्छेद होने के बाद होने वाला उसी का संक्रम, इसमें हीनधिकता रहती है। बंधयोग्य का अधिक और बंधविच्छेद होने के बाद अल्प दलिक का संक्रम होता है। उद्‌वलनासंक्रम तो ऊपर के गुणस्थानों में होता है, उसका बल यथाप्रवृत्त से अधिक है। क्योंकि उसके द्वारा अन्तर्मुहूर्त में कर्मप्रकृति निःसत्ताक होती है। उद्‌वलनासंक्रम में स्व में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस हिसाब से यदि निक्षिप्त किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाये तो यथाप्रवृत्तसंक्रम जितना बल और पर में जो प्रक्षेप किया जाता है, उस हिसाब से निक्षिप्त किया जाये तो उससे बहुत ही अल्प बल है। प्रकृति का निःसत्ताक करने में उद्वलनासंक्रम उपयोगी है। जहाँ-जहाँ वह संभव है, वहाँ-वहाँ वह-वह प्रकृति निःसत्ताक होती है। प्रथम गुणस्थान में कतिपय प्रकृतियों का उद्वलनासंक्रम होता है, परन्तु ऊपर के गुणस्थान से पहले गुणस्थान में हीनबल वाला होता है।

इस प्रकार से गुणसंक्रम आदि के काल का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। परन्तु द्विचरमखंड तक के खंडों का दलिक उद्वलनासंक्रम द्वारा पर और स्व में इस प्रकार दो रूप से संक्रमित किया जाता है। यहाँ जो अल्पबहुत्व कहा है, उसमें द्विचरमखंड को पर में यदि संक्रमित किया जाता है, उस हिसाब से चरमखंड का दलिक पर में निक्षिप्त किया जाये तो जितना काल हो उतना काल उद्वलनासंक्रम का लेना है, यह बताने के लिये तथा यथाप्रवृत्तसंक्रम का भी प्रमाण बताने के लिये आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

जं दुचरिमस्स चरिमे सपरट्ठाणेसु देई समयम्मि।
ते भागे जहकमसो अहापवत्तुव्वलणमाणे ॥८२॥

शब्दार्थ—**जं**—जो, **दुचरिमस्स**—द्विचरमखंड के, **चरिमे**—चरम, **सपरट्ठाणेसु**—स्व और पर स्थान में, **देई**—प्रक्षिप्त किया जाता है, **समयम्मि**—समय में, **ते**—वे, **भागे**—भाग, **जहकमसो**—यथाक्रम से, **अहापवत्तुव्वलणमाणे**—यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम का प्रमाण।

गाथार्थ—द्विचरमखंड के चरम समय में स्व और पर स्थान में जो दलिकभाग प्रक्षिप्त किया जाता है, वे दलिकभाग यथाक्रम—अनुक्रम से यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम के प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—द्विचरमखंड का चरमसमय में जो दलिकभाग स्व और पर स्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, संक्रमित किया जाता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे दलिक-भाग अनुक्रम से यथाप्रवृत्तसंक्रम और उद्वलनासंक्रम के प्रमाण हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वगाथा में चरमखंड को गुणसंक्रम आदि के द्वारा संक्रमित किये जाते होने वाले काल का जो अल्प-बहुत्व कहा है, उसमें यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम द्वारा चरम-खंड को संक्रमित किये जाते कौन-सा प्रमाण लेना चाहिये इसका उल्लेख नहीं किया है। जिसको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि उद्वलना-संक्रम में द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर जितना दलिक स्व-स्थान में निक्षिप्त किया जाता है, वह प्रमाण यथाप्रवृत्तसंक्रम में ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उस प्रमाण से चरमखंड को संक्रमित करते हुए जितना काल हो उतना काल यथाप्रवृत्तसंक्रम का लेना चाहिये। इसी हेतु से ही उद्वलनासंक्रम द्वारा द्विचरमखंड का चरम प्रक्षेप करने पर जितना दलिक स्व में निक्षिप्त करता है, उस प्रमाण से चरमखंड के संक्रमित करते जितना काल होता है उसके तुल्य यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर काल होता है, यह कहा है।

उद्वलनासंक्रम में द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर जितना दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है वह प्रमाण उद्वलनासंक्रम में लेना चाहिये। यानि द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर पर में जितना दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है उस प्रमाण से चरमखंड को अन्यत्र संक्रमित करते हुए जितना काल होता है उतना काल उद्वलना का लेना चाहिये। उक्त प्रमाण से लेने पर उपर्युक्त अल्पबहुत्व सम्भव है।

इस प्रकार से सविस्तार पांचों प्रदेशसंक्रमणों का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त साद्यादि प्ररूपणा करते हैं। किन्तु मूल कर्मों का परस्पर संक्रम नहीं होता है। अतएव उत्तरप्रकृतियों के संक्रम के विषय में साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

उत्तर प्रकृतियों संबंधी साद्यादि प्ररूपणा

चउहा धुवछव्वीसगसयस्स अजहन्नसंकमो होइ ।
अणुक्कोसो विहु वज्जिय उरालियावरणनवविग्घं ।।८३।।

शब्दार्थ—**चउहा**—चार प्रकार का, **ध्रुवछव्वीसगसयस्स**—ध्रुव एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का, **अजहन्नसंकमो**—अजघन्य संक्रम, **होइ**—होता है, **अणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट, **विहु**—भी, **वज्जिय**—छोड़कर, **उरालियावरणनव-विग्घं**—औदारिकसतप्क, नव आवरण और अंतरायपंचक ।

गाथार्थ—पूर्वोक्त ध्रुव एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का अजघन्य संक्रम चार प्रकार का है और औदारिकसप्तक, नव आवरण और अंतरायपंचक को छोड़कर शेष प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट भी चार प्रकार का है ।

विशेषार्थ—पूर्व में कही गई ध्रुवसत्ता वाली एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा ऐसा और कर्मक्षय करने के लिये प्रयत्नवंत क्षपितकर्मांश जीव सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है और वह नियत कालपर्यन्त ही होने से सादि-सांत है । उसके सिवाय जो प्रदेशसंक्रम अन्य जीवों के होता है, वह सब अजघन्य है । वह अजघन्य प्रदेशसंक्रम उपशमश्रेणि में बंधविच्छेद होने के बाद पतद्ग्रह का अभाव होने से किसी भी प्रकृति का नहीं होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि है । उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है । तथा—

औदारिकसप्तक, ज्ञानावरणपंचक, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक को छोड़कर शेष एक सौ पांच ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम भी सादि आदि चार प्रकार है । जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा ऐसा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मक्षय के लिये उद्यत गुणितकर्मांश जीव उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है, अन्य कोई नहीं करता है। उसको यह नियतकाल पर्यन्त ही होने से सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य सब प्रदेशसंक्रम अनुत्कृष्ट है और वह उपशमश्रेणि में बंधविच्छेद होने के बाद नहीं होता है, वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिए सादि है, उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है। तथा—

सेसं साइ अधुवं जहन्न सामी य खवियकम्मंसो।
ओरालाइसु मिच्छो उक्कोसगस्स गुणियकम्मो ॥८४॥

शब्दार्थ—**सेसं**—शेष विकल्प, **साइ अध्रुवं**—सादि, अध्रुव, **जहन्न**—जघन्य प्रदेशसंक्रम, **सामी**—स्वामी, **य**—और, **खवियकम्मंसो**—क्षपितकर्मांश, **ओरालाइसु**—औदारिकादि का, **मिच्छो**—मिथ्यात्व में, **उक्कोसगस्स**—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का, **गुणियकम्मो**—गुणितकर्मांश।

गाथार्थ—शेष सर्व विकल्प सादि, अध्रुव हैं। जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी क्षपितकर्मांश है और उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का गुणितकर्मांश स्वामी है। औदारिकादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम मिथ्यात्व में होता है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में जिन प्रकृतियों के विकल्पों के लिये कहा गया है, उनके उक्त विकल्पों के सिवाय जघन्य आदि सर्व सादि-सांत जानना चाहिये। उनमें एक सौ पांच प्रकृतियों के तो जघन्य और उत्कृष्ट ये दो विकल्प शेष हैं और उनका विचार प्रायः अनुत्कृष्ट और अजघन्य का स्वरूप कहने के प्रसंग में किया जा चुका है। उनके नियतकाल पर्यन्त ही होने से जघन्य और उत्कृष्ट सादि-अध्रुव (सांत) ही होते हैं।

औदारिकसप्तक आदि इक्कीस प्रकृतियां जिनको पूर्व गाथा में वर्जित किया है, उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि के होता है, उसके अतिरिक्त शेष काल में अनुत्कृष्ट होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि में एक के बाद एक के क्रम से होने के कारण वे दोनों सादि-सांत हैं और उनके जघन्य विकल्प का विचार तो अजघन्य कहने के प्रसंग में किया जा चुका है कि वह सादि-सांत होता है।

ध्रुवसत्ता वाली एक सौ तीस प्रकृतियां हैं। उनमें से एक सौ छब्बीस प्रकृतियों के विकल्पों का विचार किया जा चुका है और शेष चार प्रकृतियों का कहते हैं कि मिथ्यात्वमोहनीय की ध्रुवसत्ता है, लेकिन सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय रूप उसका पतद्ग्रह स्थायी नहीं होने से उसका किसी भी प्रकार का कोई संक्रम सदैव होता नहीं है। किन्तु जब पतद्ग्रह प्रकृति हो तब होता है और वह भी भव्यात्मा को नियतकाल पर्यन्त होता है, इसलिये इसके जघन्य आदि चारों विकल्प सादि-सांत हैं। अभव्य के तो मिथ्यात्व के प्रदेशों का संक्रम ही नहीं होता है।

नीचगोत्र और साता-असाता वेदनीय परावर्तमान प्रकृति होने से उनके अजघन्यादि सादि-सांत जानना चाहिये। क्योंकि जब साता का बंध हो तब असातावेदनीय का संक्रम हो और असाता का बंध हो तब सातावेदनीय का संक्रम हो। उच्चगोत्र का बंध होने पर नीचगोत्र का संक्रम होता है और नीचगोत्र का बंध हो तब उच्च-गोत्र का संक्रम होता है। जो प्रकृति बंधती हो उसमें अबध्यमान प्रकृति का अजघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, इसलिये उन प्रकृतियों के अजघन्य आदि संक्रम स्थायी नहीं होने से उनमें सादि-सांत भंग ही घटित हो सकते हैं तथा अध्रुव सत्ता वाली अट्ठाईस प्रकृतियों के अजघन्यादि प्रदेशसंक्रम उनके अध्रुवसत्ता वाली होने से ही सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से साद्यादि भंग प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगमता से बोध कराने वाला जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशसंक्रम की साद्यादि भंग प्ररूपणा

प्रकृतियां	अजघन्य				जघन्य		अनुत्कृष्ट				उत्कृष्ट	
	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव	सादि	अध्रुव
अनन्तरोक्त २१ रहित १०५ ध्रुव सत्ताका	उपशम श्रेणि से पतित	भव्य	साद्या-प्राप्त	अभव्य	क्षपणोद्यत क्षपित कर्मांश	सादि होने से	उपशम श्रेणि से पतित	भव्य	सादि अप्राप्त	अभव्य	क्षपणोद्यत गुणित कर्मांश	सादि होने से
ज्ञाना ५. दर्शना. ४ अंतराय ५ औदारिक सप्तक(२१)	,,	,,	,,	,,	,,	,,	गुणित कर्मांश मिथ्या. कदाचित् होने से	सादि होने से	×	×	गुणित कर्मांश मिथ्या. कदाचित् होने से	,,
शेष २८ अध्रुव सत्ताका	अध्रुव सत्तावाली होने से	अध्रु-व. होने से	×	×	अध्रुव. होने से	अध्रुव होने से	अध्रुव सत्ता होने से	अध्रुव सत्ता होने से	×	×	अध्रुव सत्ता	अध्रुव सत्ता
मिथ्यात्व	पतद्ग्रहा ध्रुव होने से	पतद्-ग्रहाध्रुव होने से	×	×	पतद्ग्रहा ध्रुव होने से	पतद्-ग्रहा ध्रुव होने से	पतद्ग्रहा ध्रुव होने से	पतद्-ग्रहा ध्रुव होने से	×	×	पतद्ग्रहा ध्रुव होने से	पतद्-ग्रहा ध्रुव होने से
नीचगोत्र, साता-असाता	परावर्त माना	परावर्त माना	×	×	परावर्त माना	पराव-र्त. होने	परावर्त. होने से	परा-वर्त.	×	×	परावर्त. होने से	पराव-र्तमाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व प्ररूपणा करने का क्रम प्राप्त है। वह दो प्रकार की है—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व और जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व। जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी क्षपितकर्मांश और उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी गुणितकर्मांश जीव है। उसमें भी औदारिक-सप्तक, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक इन इक्कीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि है और शेष प्रकृतियों के स्वामी यथासंभव ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव हैं। जिसका स्पष्टीकरण यथास्थान आगे किया जा रहा है। परन्तु गुणितकर्मांश किसे कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? इसको स्पष्ट करने के लिये पहले गुणितकर्मांश की व्याख्या करते हैं।

गुणितकर्मांश

बायरतसकालूणं कम्मठिइ जो उ बायरपुढवीए।
पज्जत्तापज्जत्तदीहेयर आउगो वसिउं ॥८५॥
जोगकसाउक्कोसो बहुसो आउं जहन्न जोगेणं।
बंधिय उवरिल्लासु ठिइसु निसेगं बहुं किच्चा ॥८६॥
बायरतसकालमेवं वसित्तु अंते य सत्तमक्खिइए।
लहुपज्जत्तो बहुसो जोगकसायाहिओ होउं ॥८७॥
जोगजवमज्झ उवरिं मुहुत्तमच्छितु जीवियवसाणे।
तिचरिमदुचरिमसमए पूरित्तु कसायमुक्कोसं ॥८८॥
जोगुक्कोसं दुचरिमे चरिमसमए उ चरिमसमयंमि।
संपुन्नगुणियकम्मो पगयं तेणेह सामित्ते ॥८९॥

शब्दार्थ—**बायरतसकालूणं**—बादर त्रसकाय की कायस्थिति काल से न्यून, **कम्मठिइ**—कर्मस्थिति, **जो**—जो, **उ**—और **बायरपुढवीए**—बादर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी में, **पज्जत्तापज्जत्त**—पर्याप्त और अपर्याप्त भवों में, **दीहेयर आउगो**—दीर्घ और अल्प आयु से, **वसिउं**—रहकर।

जोगकसाउक्कोसो—उत्कृष्ट योग और कषाय में, **बहुसो**—अनेक बार, **आउं**—आयु को, **जहन्न जोगेणं**—जघन्य योग से, **बंधिय**—बांधकर, **उवरिल्लासु**—ऊपर के, **ठिइसु**—स्थितिस्थानों में, **निसेगं**—निषक को, **बहुं**—प्रभूत, **किच्चा**—करके।

बायरतसकालमेवं—बादर त्रसकाल में भी इसी प्रकार, **वसित्तु**—रहकर, **अंते**—अंत में, **य**—और, **सत्तमक्खिइए**—सातवीं नरकपृथ्वी में, **लहुपज्जत्तो**—शीघ्र पर्याप्तपना प्राप्त कर, **बहुसो**—अनेक बार, **जोगकसायाहिओ**—उत्कृष्ट योग एवं कषाय वाला, **होउं**—होकर।

जोगजवमज्झ—योग यवमध्य से, **उवरिं**—ऊपर, **मुहुत्तमच्छित्तु**—अन्तर्मुहूर्त रहकर, **जीवियवसाणे**—आयु के अन्त में, **तिचरिमदुचरिमसमए**—त्रिचरम और द्विचरम समय में, **पूरित्तु**—पूरित कर, **कसायमुक्कोसं**—उत्कृष्ट कषाय।

जोगुक्कोसं—उत्कृष्ट योग, **दुचरिमे**—द्विचरम में, **चरिमसमए**—चरम समय में, **उ**—और, **चरिमसमयंमि**—चरम समय में, **सपुन्नगुणिकम्मो**—संपूर्ण गुणितकर्मांश, **पगयं**—प्रकृत, **तेणेह**—उसका यहाँ, **सामित्ते**—स्वामित्व में।

गाथार्थ—कोई जीव बादर त्रसकाय की कायस्थितिकाल न्यून कर्मस्थिति पर्यन्त बादर पृथ्वी में पर्याप्त और अपर्याप्त भवों में दीर्घ और अल्प आयु से रहकर—

अनेक बार उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट कषाय में रहते एवं आयु को जघन्य योग से बांध कर तथा ऊपर के स्थितिस्थानों में कर्म का निषेक प्रभूत (अधिक) करके बादर त्रस में उत्पन्न हो, तथा—

वहाँ (बादर त्रस में) भी इसी प्रकार अपने कायस्थितिकाल पर्यन्त रहकर और अंत में सातवीं नरक पृथ्वी में शीघ्र पर्याप्तपना प्राप्त करके और वहाँ अनेक बार उत्कृष्ट योग एवं उत्कृष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय वाला होकर—

अपनी आयु के अंत में योग के यवमध्य के ऊपर के योग-स्थानों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर तथा त्रिचरम एवं द्विचरम समय में उत्कृष्ट कषाय और द्विचरम एवं चरम समय में उत्कृष्ट योग पूरित करके—

द्विचरम और चरम समय में उत्कृष्ट योग वाला हो। इस विधि से अपने आयु के चरम समय में वह सप्तम नरकपृथ्वी का जीव संपूर्ण गुणितकर्मांश होता है। ऐसा जीव ही प्रकृत में—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व के विषय में—अधिकृत है। अर्थात् ऐसे जीव का ही यहाँ अधिकार है। ऐसा गुणितकर्मांश जीव उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन पांच गाथाओं में आचार्य ने गुणितकर्मांश जीव की स्वरूपव्याख्या की है। गुणितकर्मांश अर्थात् प्रभूत कर्मवर्गणाओं से सम्पन्न-युक्त जीव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

त्रस जीव दो प्रकार के हैं—१. सूक्ष्म त्रस और २. बादर त्रस। द्वीन्द्रियादि जीव बादर त्रस और तेजस्काय तथा वायुकाय के जीव सूक्ष्म त्रस कहलाते हैं। यहाँ सूक्ष्म त्रसों का व्यवच्छेद करने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने बादर पद ग्रहण किया है। द्वीन्द्रिय आदि बादर त्रसों की पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण जो कायस्थितिकाल कहा है, उससे न्यून मोहनीयकर्म की सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति पर्यन्त कोई जीव बादर पृथ्वीकाय के भवों में से पर्याप्त के भवों में दीर्घ आयुष्य से और अपर्याप्त के भवों में अल्प आयुष्य से रहे।

यहाँ बादर और पर्याप्त विशेषण युक्त पृथ्वीकाय के जीव को ग्रहण करने का कारण यह है कि शेष एकेन्द्रियों की अपेक्षा बादर पृथ्वीकाय की आयु अधिक होती है तथा शेष एकेन्द्रियों की अपेक्षा पर्याप्त खर बादर पृथ्वीकाय के अत्यन्त बलवान होने से दुःख सहन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने की क्षमता उसमें अधिक होती है, जिससे उसे बहुत से कर्म-पुद्गलों का क्षय नहीं होता है, अर्थात् ऐसे जीव के कर्मबन्ध अधिक होता है और क्षय अल्प प्रमाण में।

'पज्जत्तापज्जत्त' पद से पर्याप्त के बहुत से भव और अपर्याप्त के अल्प भव ग्रहण करने का संकेत किया है। निरंतर पर्याप्त के भव नहीं करने और बीच में अल्प (कुछ) अपर्याप्त के भी भव ग्रहण करने का कारण यह है कि सिर्फ पर्याप्त की उतनी कायस्थिति नहीं होती है, किन्तु पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों को मिलाकर होती है। जिससे पूर्ण कायस्थिति को ग्रहण करने के लिये बीच में अपर्याप्त के भव लिये हैं, अर्थात् दो हजार सागरोपम न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्वकायस्थिति में जितने कम में कम हो सकते हैं उतने अपर्याप्त के भव और शेष सब पर्याप्त के भव ग्रहण करना चाहिये।

इन भवों में भी अपर्याप्त के भव अल्प और पर्याप्त के भव अधिक ग्रहण करने का कारण यह है कि अधिक कर्मपुद्गलों का सत्ता में से क्षय न हो। अन्यथा निरन्तर जन्म और मरण को प्राप्त करते हुए प्रभूत (बहुत) कर्मपुद्गलों का सत्ता में से क्षय होता है। किन्तु यहाँ उसका प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो बंध अधिक हो और सत्ता में से क्षय अल्प हो उससे प्रयोजन है। क्योंकि यहाँ गुणितकर्मांश का स्वरूप बताया जा रहा है।

इस प्रकार से पर्याप्त के अनेक-बहुत से और अपर्याप्त के अल्प भवों को करके अनेक बार उत्कृष्ट योगस्थान में और कषायोदय-जन्य संक्लेशस्थान में रहकर अर्थात् अनेक बार उत्कृष्ट योग एवं उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला होवे।

यहाँ उत्कृष्ट योग में और उत्कृष्ट संक्लेश में रहने के संकेत करने का कारण यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान जीव अधिक मात्रा में कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और उत्कृष्ट संक्लेशस्थान में वर्तमान जीव उत्कृष्ट स्थिति बांधता है, अधिक कर्मपुद्गलों की उद्वर्तना और अल्प कर्मदलिक की अपवर्तना करता है। अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्तना और अल्प अपवर्तना करने का कारण ऊपर के स्थानों को कर्मदलिकों से पुष्ट करने का संकेत करना है।

इसके बाद प्रत्येक भव में आयु के बंधकाल में जघन्य योग से आयु का बंध करके और यहाँ जघन्य योग से आयु का बंध करने का कारण यह है कि यद्यपि आयु के योग्य उत्कृष्ट योग में रहता जीव आयुकर्म के बहुत से पुद्गलों को ग्रहण करता है, परन्तु तथाप्रकार के जीवस्वभाव से ज्ञानावरणकर्म के अधिक पुद्गलों का क्षय करता है। यहाँ जो मात्र ज्ञानावरण कर्म के ही अधिक पुद्गलों का क्षय करने को कहा है उसमें जीवस्वभाव ही कारण है। किसी भी कर्म के प्रभूत पुद्गल सत्ता में से कम हों, उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है, इसीलिये जघन्य योग से आयु बंध करने का संकेत किया है।

इसके बाद ऊपर के स्थितिस्थानों में कर्मपुद्गलों को क्रमबद्ध व्यवस्थित निक्षिप्त करने रूप निषेक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अधिक करके और (क्योंकि ऊपर के स्थानों में अधिक निक्षेप करने के कथन का कारण यह है कि नीचे के स्थान तो उदय द्वारा भोगे जाकर क्षय हो जायेंगे, परन्तु ऊपर के स्थानों में प्रक्षिप्त दलिक ही गुणितकर्मांश होने तक स्थित रह सकेंगे) इस प्रकार से बादर पृथ्वीकाय में पूर्वकोटि पृथक्त्वाधिक दो हजार सागरोपम न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त रहकर वहाँ से निकले और निकलकर बादर त्रसकाय में उत्पन्न हो।

फिर ऊपर जो गुणितकर्मांश के योग्य विधि कही है, उस विधि पूर्वक पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण बादर त्रस-काय के कायस्थितिकालपर्यन्त बादर त्रस में रहकर, उतने काल में अधिक से अधिक जितनी बार सातवीं नरकपृथ्वी में जा सके उतनी बार उस पृथ्वी में जाये और उन नारक भवों में के अंतिम सातवीं नरकपृथ्वी के भव में अन्य समस्त दूसरे नारकों से शीघ्र पर्याप्तभाव को प्राप्त हो—शीघ्र पर्याप्त हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ अपर्याप्तावस्था में काल कम जाये, इसीलिये शीघ्र पर्याप्त-भाव प्राप्त करने का संकेत किया है तथा सातवीं नरकपृथ्वी में अनेक बार उत्कृष्ट योगस्थान और उत्कृष्ट कषायोदयजन्य उत्कृष्ट संक्लेश-स्थान को प्राप्त होता है और सातवीं नरकपृथ्वी के भव में वर्तमान जीव की आयु दीर्घ होती है एवं उत्कृष्ट कषायजन्य उत्कृष्ट संक्लेश तथा उत्कृष्ट योग हो सकता है। इसलिये जितनी बार जाया जा सके, उतनी बार सातवीं नरकपृथ्वी में जाये यह संकेत किया है तथा अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त का योग असंख्यातगुणा होता है और अधिक योग होने के कारण अधिक कर्मपुद्गलों को ग्रहण कर सकता है तथा गुणितकर्मांश के प्रसंग में जो अधिक कर्मपुद्गलों का ग्रहण करे और अल्प दूर करे, ऐसे जीव का प्रयोजन होने से शीघ्र पर्याप्त हो यह कहा है।

इसके बाद जो पहले योगाधिकार में आठ समय कालमान वाले योगस्थान कहे हैं, उनकी यवमध्य संज्ञा है। अतः पहले जिसका वर्णन किया है ऐसा वह सातवीं नरकपृथ्वी का जीव अपनी अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब यवमध्य योगस्थान से ऊपर के सात, छह आदि समय के काल वाले योगस्थानों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनुक्रम से बढ़ता जाये अर्थात् अनुक्रम से वृद्धिगत योगस्थानों में जाये। योग में बढ़ने के कारण वह अधिक कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है तथा अपनी आयु के अंत समय से पूर्व तीसरे और दूसरे समय में उत्कृष्ट कषायोदय-जन्य उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी हो और दूसरे समय में तथा पहले—अपनी आयु के अंतिम समय में उत्कृष्ट योग वाला हो।

यहाँ उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट संक्लेश दोनों एक साथ एक समय, काल ही होते हैं, अधिक काल नहीं होते हैं, इसीलिये तीसरे और दूसरे समय में उत्कृष्ट संक्लेश तथा दूसरे और पहले समय अर्थात् नरकायु के अंतिम समय में उत्कृष्ट योग इस प्रकार सम-विषम रूप से उत्कृष्ट संक्लेश एवं उत्कृष्ट योग ग्रहण किया है। त्रिचरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश ग्रहण करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कारण उद्वर्तना अधिक हो और अपवर्तना अल्प हो, यह है तथा चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग ग्रहण करने का कारण कर्म-पुद्गलों का परिपूर्ण संचय हो, यह है। इस प्रकार के स्वरूप वाला नारक अपनी आयु के चरम समय में सम्पूर्ण गुणितकर्मांश होता है।

उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम की स्वामित्वप्ररूपणा में उपर्युक्त स्वरूप वाले गुणितकर्मांश जीव का ही अधिकार है। क्योंकि वैसा उत्कृष्ट प्रदेश का संचय-सत्ता वाला जीव ही उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कर सकता है।

इस प्रकार से गुणितकर्मांश—अधिक-से-अधिक कर्मांश की सत्ता वाले जीव का स्वरूप जानना चाहिये। अब किस प्रकृति का कौन उत्कृष्ट प्रदेश का संक्रम करता है, इसके लिये आचार्य गाथासूत्र कहते हैं।

औदारिकसप्तक आदि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तत्तो तिरियागय आलिगोवरिं उरलएक्कवीसाए।
सायं अणंतर बंधिऊण आली परमसाए ॥६०॥

शब्दार्थ—**तत्तो**—वहाँ से—सातवीं नरक पृथ्वी से निकलकर, **तिरियागय**—तिर्यंचगति में आगत-आया हुआ, **आलिगोवरिं**—एक आवलिका के जाने के बाद, **उरलएक्कवीसाए**—औदारिकादि इक्कीस प्रकृतियों का, **सायं**—सातावेदनीय को, **अणंतर**—अनन्तर, **बंधिऊण**—बांधकर, **आली**—आवलिका, **परमसाए**—बाद में असातावेदनीय में।

गाथार्थ—वहाँ से—सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यंचगति में आया हुआ वह जीव आवलिका जाने के बाद औदारिक आदि इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। तिर्यंचगति में साता को बांधकर आवलिका के अनन्तर बध्यमान असातावेदनीय में सातावेदनीय का संक्रम करे, वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—पूर्व में जिसका स्वरूप कहा है, ऐसा वह गुणित-कर्मांश जीव सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वहाँ वह तिर्यंच अपने भव की प्रथम आवलिका के चरम समय में औदारिकसप्तक, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक रूप इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।[1] इसका कारण यह है कि नरकभव के चरम समय में उत्कृष्ट योग द्वारा उपर्युक्त इक्कीस प्रकृतियों के प्रभूत कर्मदलिक ग्रहण किये हैं, उनको बंधावलिका के बाद संक्रमित करता है, उससे पूर्व नहीं तथा अन्य कोई दूसरे स्थान पर इतने अधिक कर्मदलिक सत्ता में हो नहीं सकते हैं, इसलिये नारकी में से निकलकर तिर्यंच में आने के बाद उस भव की प्रथम आवलिका के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा—

नारकभव से निकलकर तिर्यंचभव में आये, वहाँ उस भव के प्रथम समय से लेकर सातावेदनीय को उसके उत्कृष्ट बंधकाल पर्यन्त बांधकर तत्पश्चात् असातावेदनीय का बंध करे। उस असातावेदनीय की बंधावलिका के चरम समय में जिसकी बंधावलिका बीत चुकी है, ऐसे तिर्यंच के भव में प्रथम समय से उत्कृष्ट बंधकाल तक बंधा हुआ सम्पूर्ण प्रदेशसत्ता वाला सातावेदनीय कर्म बध्यमान उस असाता-

---

१ सातवीं नरकपृथ्वी का जीव वहाँ से निकलकर संख्यात वर्षायु वाले गर्भज पर्याप्त तिर्यंच में ही उत्पन्न होता है, इसीलिये नारकी के बाद का अनन्तरवर्ती तिर्यंच का भव ग्रहण किया है। सातवीं नरकपृथ्वी के जीव में अपनी आयु के चरम समय में बांधे हुए कर्म की बंधा-वलिका तिर्यंचगति में अपनी प्रथम आवलिका के चरम समय में पूर्ण होती है, इसी कारण यहाँ प्रथम आवलिका का चरम समय ग्रहण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदनीय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।[1] तथा—

कम्मचउक्के असुभाणबज्झमाणीण सुहुमरागंते।
संछोभणंमि नियगे चउवीसाए नियट्टिस्स ॥६१॥

शब्दार्थ—**कम्मचउक्के**—चार कर्म की, **असुभाणबज्झमाणीण**—अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का, **सुहुमरागंते**—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में, **संछभोणंमि**—संक्रमण, **नियगे**—अपने-अपने, **चउवीसाए**—चौबीस प्रकृतियों का, **नियट्टिस्स**—अनिवृत्तिबादर को।

गाथार्थ—चार कर्म की अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा अनिवृत्तिबादर को अपने-अपने चरम संक्रम के समय में चौबीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसंपराय अवस्था में अबध्यमान दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की निद्राद्विक, असातावेदनीय, प्रथम बिना पांच संस्थान और पांच संहनन, अशुभ वर्णादि नवक, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र रूप बत्तीस अशुभ

---

१ साता-असाता ये दोनों परावर्तमान प्रकृति हैं, अतः अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल बंधती नहीं हैं। यहाँ सातवीं नरकपृथ्वी में जितनी बार अधिक-से-अधिक बंध सके, उतनी बार असाता को बांधकर उसको पुष्ट दलिक वाली करे, फिर वहाँ से मरण कर तिर्यंच में आकर प्रारम्भ के अन्तर्मुहूर्त में साता का बंध करे और पूर्व की असाता को संक्रमित करे। इस प्रकार संक्रम द्वारा और बंध द्वारा सातावेदनीय पुष्ट हो, जिससे उसकी बंधावलिका बीतने के बाद अनन्तर समय में बंधती हुई असाता में साता का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करे। इस प्रकार से सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम सम्भव हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियों का गुणितकर्मांश क्षपक जीव के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में (गुणसंक्रम द्वारा) उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

'नियट्टिटस्स' अर्थात् अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में वर्तमान गुणितकर्मांश क्षपक के मध्यम आठ कषाय, स्त्यानर्द्धित्रिक, तिर्यंचद्विक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, साधारण और छह नोकषाय इन चौबीस कर्मप्रकृतियों का जिस समय चरम संक्रम होता है, उस समय सर्वसंक्रम द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा—

संछोभणाए दोण्हं मोहाणं वेयगस्स खणसेसे।
उप्पाइय सम्मत्तं मिच्छत्तगए तमतमाए ॥९२॥

शब्दार्थ—**संछोभणाए**—संक्रम, **दोण्हं**—दोनों, **मोहाणं**—मोहनीय का, **वेयगस्स**—वेदक का, **खणसेसे**—क्षण अन्तर्मुहूर्त शेष हो, **उप्पाइय**—उत्पन्न करके, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व को, **मिच्छत्तगए**—मिथ्यात्व में जाये, **तमतमाए**—तमस्तमा नरकपृथ्वी में।

गाथार्थ—दोनों मोहनीय—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का अपने-अपने चरम संक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा तमस्तमा नरकपृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व उत्पन्न करके मिथ्यात्व में जाये तब वेदक सम्यक्त्वमोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—'दोण्हं मोहाणं'—मोहद्विक अर्थात् मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते क्षपक जीव के उन दो प्रकृतियों का जिस समय चरम संछोभ-संक्रम हो उस समय सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के चरमखंड की उद्‌वलना करते उस चरमखंड के दल को पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुणाकार से पर में—सम्यक्त्वमोहनीय में चरम समय पर्यन्त निक्षिप्त करता है, जिससे चरम समय में सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है। चरम समय में जो समस्त दल पर में संक्रमित किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, उसे ही सर्वसंक्रम कहते हैं, इसीलिये यहाँ सर्वसंक्रम द्वारा यह कहा है।

तमस्तमा नामक सातवीं नरकपृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके और उस सम्यक्त्व के काल में जितना शक्य हो, उतने दीर्घ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त गुणसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय को मिथ्यात्व एवं मिश्र मोहनीय के दल को संक्रमित करने के द्वारा पुष्ट करके सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व में जाये, वहाँ उसके—मिथ्यात्व के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

अब अनन्तानुबंधि के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामी का निर्देश करते हैं।

अनन्तानुबंधिःउत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

भिन्नमुहुत्ते सेसे जोगकसाउक्कसाइं काऊण।
संजोअणाविसंजोयगस्स संछोभाणाए सिं ॥६३॥

शब्दार्थ—**भिन्नमुहुत्ते**—अन्तर्मुहूर्त, **सेसे**—शेष, **जोगकसाउक्कसाइं**—योग और कषाय को उत्कृष्ट, **काऊण**—करके, **संजोअणाविसंजोयगस्स**—अनन्तानुबंधि के विसंयोजक के, **संछोभणाए**—संक्षोभ के समय, **सिं**—इनकी।

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब योग और कषाय को उत्कृष्ट करके (नरक में से निकलकर तिर्यंच में आकर) अनन्तानुबंधि के विसंयोजक के चरम संक्षोभ-संक्रम के समय इनका (अनन्तानुबंधि कषायों का) उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सातवीं नरकपृथ्वी में वर्तमान गुणितकर्मांश जीव अपनी जब अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे, तब उत्कृष्ट योगस्थानों और उत्कृष्ट कषायस्थानों को करके उत्कृष्ट योगस्थानों और उत्कृष्ट कषायोदय-जन्य संक्लेशस्थानों को प्राप्त करके उस सातवीं नरकपृथ्वी में से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकलकर (तिर्यंच में आकर) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसके बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के रहते अनन्तानुबंधि कषायों की विसंयोजना—क्षय करने के लिये प्रयत्न करे और क्षय करते हुए अनन्तानुबंधि के चरमखंड का चरमप्रक्षेप करे तब सर्वसंक्रम द्वारा उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि चरमखंड का समस्त दलिक चरमसमय में सर्वसंक्रम द्वारा जितना पर में संक्रमित किया जाये, वह अनन्तानुबंधि कषायों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

अब वेदत्रिक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम-स्वामित्व का निर्देश करते हैं।

वेदत्रिक : उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

ईसाणागयपुरिसस्स इत्थियाए व अट्ठवासाए।
मासपुहुत्तब्भहिए नपुंसगस्स चरिमसंछोभे ॥९४॥

शब्दार्थ—**ईसाणागयपुरिसस्स**—ईशान देवलोक से आगत पुरुष के, **इत्थियाए**—स्त्री के, **व**—अथवा, **अट्ठवासाए**—आठ वर्ष की उम्र वाले, **मासपुहुत्तब्भहिए**—मासपृथक्त्व अधिक के, **नपुंसगस्स**—नपुंसकवेद का, **चरिमसंछोभे**—चरम संक्षोभ के समय।

गाथार्थ—मासपृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की उम्र वाले ईशान देवलोक से आगत पुरुष अथवा स्त्री के चरम समय में नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—वेद मोहनीय के पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद ये तीन भेद हैं। इन तीन भेदों में से यहाँ नपुंसकवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामी का निरूपण करते हुए बताया है—

कोई गुणितकर्मांश ईशान देवलोक का देव संक्लिष्ट परिणामों द्वारा एकेन्द्रियप्रायोग्य कर्मबंध करते हुए नपुंसकवेद को बार-बार बांधकर, उसके बाद ईशान देवलोक में से च्युत हो पुरुष अथवा स्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो और वह पुरुष अथवा स्त्री अपनी मासपृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की उम्र वाला हो, तब क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो, तब क्षपकश्रेणि में नपुंसकवेद का क्षय करते हुए उस पुरुष अथवा स्त्री को चरमप्रक्षेप[1] काल में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

अब स्त्रीवेद के संक्रमस्वामित्व का कथन करते हैं—

पूरित्तु भोगभूमीसु जीविय वासाणि-संखियाणि तओ।
हस्सठिइं देवागय लहु छोभे इत्थिवेयस्स ॥९५॥

शब्दार्थ—**पूरित्तु**—पूरित करके, **भोगभूमीसु**—भोगभूमि में, **जीविय**—जीवित रहकर, **वासाणि-संखियाणि**—असंख्यात वर्ष, **तओ**—तदनन्तर, **हस्सठिइं**—जघन्य स्थिति, **देवागय**—देव में उत्पन्न हो, **लहु छोभे**—चरम संक्षोभ काल में, **इत्थिवेयस्स**—स्त्रीवेद का।

गाथार्थ—भोगभूमि में असंख्य वर्ष पर्यन्त स्त्रीवेद को बांधकर एवं पूरितकर और उतना काल वहाँ जीवित रहकर जघन्य स्थिति वाले देव में उत्पन्न हो और वहाँ से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो और शीघ्र क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो, वहाँ स्त्रीवेद

१ चरमप्रक्षेप अर्थात् नपुंसकवेद को उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग जैसे खंड कर-करके दूर करते हुए चरमखंड के सिवाय शेष समस्त खंडों को स्व और पर में संक्रमित करके निर्लेप करता है। प्रत्येक खंड को संक्रमित करते हुए अन्तर्मुहूर्त काल जाता है। इसी प्रकार चरमखंड को पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से पर में संक्रमित करते अन्तर्मुहूर्त के चरम समय में जो समस्त पर में संक्रमित करता है—वह चरमप्रक्षेप कहलाता है।

इसी प्रकार जहाँ भी चरमप्रक्षेप शब्द आये वहाँ चरमखंड का चरम समय में जो समस्त प्रक्षेप हो, उसको ग्रहण करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का क्षय करते हुए चरम संक्षोभकाल में उसका उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है।

विशेषार्थ—भोगभूमि में असंख्यात वर्षपर्यन्त स्त्रीवेद को बांधकर और अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पूरित कर तथा वहाँ उतने ही वर्ष पर्यन्त जीवित रहकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना काल जाये तब अकालमृत्यु[1] द्वारा मरण प्राप्त करके दस हजार वर्ष प्रमाण देव की जघन्य स्थिति बांधकर देवरूप में उत्पन्न हो। इसका तात्पर्य यह है कि युगलिकभव में मात्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग जीवित रहकर और उतने काल में स्त्रीवेद को बार-बार बांधकर तथा अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पुष्ट करके दस हजार वर्ष की जघन्य आयु बांधकर देवरूप से उत्पन्न हो और देव भव में भी स्त्रीवेद का बंध कर एवं पूर्ण कर अपनी आयु के अंत में मरण प्राप्त कर कोई भी वेदयुक्त मनुष्य हो, वहाँ मास-पृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की आयु बीतने के बाद क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो और वहाँ स्त्रीवेद का क्षय करते हुए उसके चरम प्रक्षेप-काल में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है।

अब पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश करते हैं।

वरिसवरित्थि पूरिय सम्मत्तमसंखवासियं लभिय।
गन्तुं मिच्छत्तमओ जहन्नदेवट्ठिइं भोच्चा ॥९६॥
आगन्तुं लहु पुरिसं संछुभमाणस्स पुरिसवेअस्स।

---

१ इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि युगलिकों की अकाल मृत्यु संभव है। परन्तु सिद्धान्त से इसमें विरोध आता है। विद्वज्जन स्पष्ट करने की कृपा करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**वरिसवरित्थि**—नपुंसक और स्त्री वेद को, **पूरिय**—पूर कर, **सम्मत्तमसंखवासियं**—असंख्यात वर्षप्रमाण सम्यक्त्व को, **लभिय**—प्राप्त कर, पालन कर, **गंतुं**—जाकर, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व में, **अओ**—इसके बाद, **जहन्नदेवट्ठिइं**—जघन्य देव स्थिति को, **भोच्चा**—भोगकर।

आगन्तुं—आकर, **लहु**—शीघ्र, **पुरिसं**—पुरुषवेद को, **संछुभमाणस्स**—संक्षुब्ध करने वाले के, **पुरिसवेअस्स**—पुरुषवेद का।

गाथार्थ—नपुंसक और स्त्री वेद को पूरकर, तत्पश्चात् असंख्यात वर्ष प्रमाण सम्यक्त्व प्राप्त कर—पालन कर, बाद में मिथ्यात्व में जाकर, वहाँ से जघन्य देवस्थिति वाला होकर और वहाँ से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो, वहाँ शीघ्र ही क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो तो उस श्रेणि में पुरुषवेद को संक्षुब्ध करने वाले, संक्रमित करने वाले को पुरुषवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—वर्षवर अर्थात् नपुंसकवेद को ईशान देवलोक में बहुत काल पर्यन्त बंध द्वारा तथा स्वजातीय अन्य कर्म प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पूरित, पुष्ट करके, अधिक दलिक की सत्ता वाला करके आयु के पूर्ण होने पर वहाँ से च्यव कर संख्यात वर्ष की आयु वालों[1] में उत्पन्न होकर फिर असंख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिकों में उत्पन्न हो। वहाँ संख्यात वर्ष पर्यन्त स्त्रीवेद को बंध द्वारा और अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पुष्ट करे, तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करे, उस सम्यक्त्व को असंख्यात वर्ष पर्यन्त पाले और उस सम्यक्त्व के निमित्त से उतने वर्ष पर्यन्त पुरुषवेद का बंध करे। सम्यक्त्व के काल में पुरुषवेद को बांधता

---

१ यहाँ 'संख्यात वर्ष की आयु वाला' इस पद के संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह जीव उस पुरुषवेद में स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के दलिकों को निरन्तर संक्रमित करता है। युगलिक में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण सर्वायु पर्यन्त जीवित रहकर अंत में मिथ्यात्व में जाकर दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य आयु वाले देव में उत्पन्न हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त के बाद पर्याप्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करे, वहाँ भी सम्यक्त्व के निमित्त से पुरुषवेद का बंध करे और उसमें स्त्री एवं नपुंसक वेद के दलिक संक्रमित करे, उसके अनन्तर देवभव से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो और वहाँ सात मास अधिक आठ वर्ष बीतने के बाद क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो क्षपकश्रेणि में आरूढ़ वह गुणितकर्मांश जीव अभी तक जिसके प्रचुर दलिकों को एकत्रित किया है, उस पुरुषवेद का जो चरमप्रक्षेप करता है, वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

यहाँ बंधविच्छेद होने के पहले दो आवलिका काल में जो दलिक बांधा है, वह अत्यन्त अल्प होने से उसका चरमसंक्रम उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं लेना है, किन्तु उसको छोड़कर एकत्रित हुए शेष दलिक का जो चरमसंक्रम होता है, वह उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।[1]

---

१ पुरुषवेद जहाँ तक बंधता था, वहाँ तक तो उसका यथाप्रवृत्तसंक्रम होता था और बंधविच्छेद होने के बाद क्षपकश्रेणि में उसका गुणसंक्रम होता है। उस गुणसंक्रम के द्वारा पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात असंख्यात गुणाकार रूप से संक्रमित करते अंतिम जिस समय में उसके पूर्व समय से असंख्यातगुण संक्रमित करे वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कह सकते हैं। परन्तु बंधविच्छेद होने के बाद दो समय न्यून दो आवलिका काल में अंतिम जो सर्वसंक्रम होता है, उसे उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सर्वसंक्रम द्वारा अंतिम समय में जो संक्रमित करता है वह बंधविच्छेद के समय जो बंधा था वह शुद्ध एक समय का ही संक्रमित करता है, जिससे वह दलिक अति अल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से वेदत्रिक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामियों को जानना चाहिये। अब संज्वलनत्रिक—क्रोध, मान, माया के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामियों को बतलाते हैं।

संज्वलनत्रिक : उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तस्सेव सगे कोहस्स माणमायाणमवि कसिणो ॥६७॥

शब्दार्थ—**तस्सेव**—उसी को, **सगे**—अपना, **कोहस्स**—क्रोध का, **माणमायाणमवि**—मान और माया का भी, **कसिणो**—कृत्स्न-चरम।

गाथार्थ—उसी को अपना कृत्स्न चरम संक्रम होने पर क्रोध का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा इसी प्रकार मान और माया का भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का जिस प्रकार से और जो स्वामी है उसी प्रकार से ही वही संज्वलन क्रोध, मान और माया के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का भी स्वामी है।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए बांधी गई और क्षपणकाल में नहीं बंधने वाली स्वजातीय अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम द्वारा प्रभूत मात्र में एकत्रित हुए के संज्वलन क्रोध का जब चरम प्रक्षेप होता है, तब उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। यहाँ भी बंधविच्छेद होने से पहले दो आवलिका काल में जो दलिक बांधे थे, उनको छोड़कर शेष दलिकों के चरम प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

संज्वलन मान एवं माया के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

होने से उसे उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं गिना जा सकता है। क्रोध, मान, माया का भी इसी तरह उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम सम्भव हो सकता है। विशेष केवलीगम्य है। विद्वज्जन स्पष्ट करने की कृपा करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब संज्वलन लोभ, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र के उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम के स्वामियों का निर्देश करते हैं।

संज्वलन लोभ आदि प्रकृतित्रय : उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

चउरुवसमित्तु खिप्पं लोभजसाणं ससंकमस्संते।
चउसमगो उच्चस्सा खवगो नीया चरिमबंधे ॥६८॥

शब्दार्थ—**चउरुवसमित्तु**—चार बार मोहनीय का उपशम करके, **खिप्पं**—शीघ्र, **लोभजसाणं**—संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का, **ससंकमस्संते**—अपने संक्रम के अंत में, **चउसमगो**—चार बार मोह का उपशम करने वाला, **उच्चस्सा**—उच्चगोत्र का, **खवगो**—क्षपक, **नीया**—नीचगोत्र का **चरिमबंधे**—चरमबंध होने पर।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय का उपशम करके शीघ्र क्षपकश्रेणि प्राप्त करने वाले के अपने संक्रम के अंत में (संज्वलन) लोभ और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा चार बार मोह का उपशम करने वाले क्षपक के जब नीचगोत्र का चरम बंध हो तब उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ—'चउरुवसमित्तु' अर्थात् अनेक भवों में भ्रमण करने के द्वारा चार बार मोहनीय को उपशमित करके और चौथी बार की उपशमना होने के बाद शीघ्र क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए गुणितकर्मांश उसी जीव को अंतिम संक्रम के समय संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

यहाँ चार बार उपशमश्रेणि प्राप्त करने का कारण इस प्रकार है— उपशमश्रेणि जब प्राप्त करे तब उस श्रेणि में स्वजातीय अन्य प्रकृतियों के प्रभूत दलिकों का गुणसंक्रम द्वारा संक्रम होने से संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति ये दोनों प्रकृति निरन्तर पूरित-पुष्ट होती हैं— प्रभूत दलिकों की सत्ता वाली होती हैं, इसीलिये उपशमश्रेणि का ग्रहण किया है तथा संसार में परिभ्रमण करते हुए चार बार ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय का पूर्ण उपशम होता है, पांचवी बार नहीं होता है, इसीलिये चार बार मोहनीय को उपशमित करके यह कहा है।

संज्वलन लोभ का चरम प्रक्षेप कहाँ होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि संज्वलन लोभ का चरमप्रक्षेप अन्तरकरण के चरमसमय में जानना चाहिये उसके बाद नहीं। क्योंकि उसके बाद लोभ का प्रक्षेप-संक्रम ही नहीं होता है। इस विषय में पहले कहा जा चुका है—

अंतरकरणंमि कए चरित्तमोहेणुपुव्विसंकमणं।

अन्तरकरण क्रिया काल प्रारम्भ हो तब चारित्रमोहनीय की उस समय बंधने वाली प्रकृतियों का क्रमपूर्वक संक्रम होता है, उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है। जिससे अन्तरकरण क्रिया शुरू होने के बाद तो संज्वलन लोभ का संक्रम ही नहीं होता है। अतः जिस समय से लोभ का संक्रम बंद हुआ, उससे पहले के समय में बंध और अन्य प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट हुए उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

इसी प्रकार अपूर्वकरणगुणस्थान में जिस समय नामकर्म की तीस प्रकृतियों का अंतिम बंध होता है, उस समय बंध द्वारा और स्वजातीय अबध्यमान अन्य प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट हुई यशःकीर्ति प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तीस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद वह अकेली यशःकीर्ति प्रकृति ही बंधने से वही पतद्ग्रह है, अन्य कोई पतद्ग्रहप्रकृति नहीं है, जिससे यशःकीर्ति का संक्रम नहीं होता है। यही स्पष्ट करने के लिये तीस का बंधविच्छेद समय ग्रहण किया है।

अब उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहाँ होता है ? इसको स्पष्ट करते हैं—

मोह का उपशम करते हुए मात्र उच्चगोत्रकर्म ही बंधता है, नीचगोत्र नहीं बंधता है। इतना ही नहीं, किन्तु नीचगोत्र के दलिक गुणसंक्रम द्वारा उच्चगोत्र में संक्रमित होते हैं। इसीलिये यहाँ भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार बार मोहनीय के सर्वोपशम का संकेत किया है। यानि चार बार मोहनीय को उपशमित करता हुआ—उच्चगोत्र को बांधता जीव नीचगोत्र को गुणसंक्रम द्वारा उच्चगोत्र में संक्रमित करता है। चार बार मोह का सर्वोपशम दो भव में होता है, जिससे दो भव में चार बार मोहनीय को उपशमित करके तीसरे भव में मिथ्यात्व में जाये, वहाँ नीचगोत्र बांधे और नीचगोत्र को बांधता हुआ उसमें उच्चगोत्र को संक्रमित करे, उसके बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर उसके बल से उच्चगोत्र को बांधता हुआ उसमें नीचगोत्र को संक्रमित करे। इस प्रकार अनेक बार उच्चगोत्र और नीचगोत्र को बांधता[1] अंत में नीचगोत्र का बंधविच्छेद कर मोक्षगमनेच्छुक जीव नीचगोत्र के बंध के चरम समय में बंध और गुणसंक्रम द्वारा पुष्ट हुए उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। इस प्रकार से उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

पराघातादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

परघाय सकलतसचउसुसरादितिसासखगतिचउरंसं।
सम्मधुवा रिसभजुया संकामइ विरचिया सम्मो ॥९९॥

शब्दार्थ—**परघाय**—पराघात, **सकल**—संपूर्ण (पंचेन्द्रियजाति), **तसचउ**—त्रसचतुष्क, **सुसरादिति**—सुस्वरादित्रिक, **सास**—उच्छ्वासनाम, **खगति**—शुभ विहायोगति, **चउरंसं**—समचतुरस्रसंस्थान, **सम्म**—सम्यग्दृष्टि, **धुवा**—ध्रुवबंधिनी, **रिसभजुया**—वज्रऋषभनाराचसंहनन सहित, **संकामइ**—संक्रमित करता है, **विरचिया सम्मो**—सम्यग्दृष्टि युक्त।

गाथार्थ—पराघात, पंचेन्द्रियजाति, त्रसचतुष्क, सुस्वरादित्रिक, उच्छ्वासनाम, शुभ विहायोगतिनाम और समचतुरस्रसंस्थान

---

१ यहाँ एक के बाद दूसरा इस क्रम से कितनी ही बार उच्चगोत्र और नीचगोत्र बांधे, यह नहीं कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप सम्यग्दृष्टि की शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां वज्रऋषभनाराच-संहनन सहित सम्यग्दृष्टि युक्त जीव संक्रमित करता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में तेरह शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश किया है—

पराघातनाम, पंचेन्द्रियजाति, त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक, सुस्वरादित्रिक—सुस्वर, सुभग, आदेय तथा उच्छ्‌वास-नाम, प्रशस्त विहायोगति और समचतुरस्रसंस्थाननाम इन बारह पुण्य प्रकृतियों का प्रत्येक गति वाला सम्यग्दृष्टि जीव प्रति समय अवश्य बंध करता है। जिससे ये प्रकृतियां 'सम्यग्दृष्टि शुभध्रुवसंज्ञा' वाली कहलाती हैं तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन को तो देव और नारक भव में वर्तमान सभी सम्यग्दृष्टि जीव ही प्रति समय बांधते हैं, मनुष्य, तिर्यंच नहीं बांधते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो मात्र देवगतिप्रायोग्य प्रकृतियों को ही बांधते हैं और उनका बंध करने वाले होने से उनको संहनन का बंध नहीं होता है, जिससे प्रथम संहनननामकर्म सम्यग्दृष्टि शुभध्रुवसंज्ञा वाला नहीं कहलाता है। इसीलिये उसे बारह प्रकृतियों से पृथक् कहा है।

इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम इस प्रकार है—

छियासठ सागरोपम पर्यन्त क्षयोपशमिक सम्यक्त्व का अनुपालन करता जीव प्रति समय उपर्युक्त प्रकृतियों को बांधता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मिश्रगुणस्थान में जाकर दूसरी बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करे। उस दूसरी बार प्राप्त किये क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को भी छियासठ सागरोपम पर्यन्त अनुभव करता वह जीव इन समस्त प्रकृतियों को बांधता है। सम्यग्दृष्टि जीव को इन प्रकृतियों की विरोधी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यहाँ इतना विशेष है कि—

उपर्युक्त तेरह प्रकृतियों में से बारह का तो एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त निरंतर बंध और प्रथम संहनन का देव, नारक के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव में जब-जब जाये तब बंध लेना चाहिए । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि होते सम्यक्त्वी के जिनका बंध ध्रुव है, ऐसी बारह प्रकृतियों को एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त बंध द्वारा और अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट करके तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन को मनुष्य, तिर्यंच भव हीन देव, नारक भव में यथासंभव उत्कृष्ट काल तक बंध द्वारा और अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पूरित करके सम्यग्दृष्टि के शुभध्रुवसंज्ञा वाली उपर्युक्त बारह प्रकृतियों का अपूर्वकरणगुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद बंधावलिका पूर्ण होने के अनन्तर यशःकीर्ति में संक्रमित करते उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है । तथा

वज्रऋषभनाराचसंहनन का देवभव से च्यवकर मनुष्यभव में आकर सम्यग्दृष्टि होते देवगतिप्रायोग्य बंध करते आवलिका काल के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है । देवभव में चरम समय जो प्रथम संहनननामकर्म बांधा, उसका बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रम होता है, इसीलिये देव से मनुष्य में आकर आवलिका काल के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है ।

प्रश्न—बारह प्रकृतियों के साथ ही प्रथम संहनन का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम क्यों नहीं बताया, पृथक् से निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर—बारह प्रकृतियां तो आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त निरन्तर बंधती हैं, क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि ध्रुवसंज्ञा वाली हैं । जिससे बंध द्वारा और सातवें गुणस्थान तक यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा तथा आठवें गुणस्थान के प्रथम समय से अन्य स्वजातीय अशुभ प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा अतीव प्रभूत दल वाली होती हैं, इसलिये आठवें गुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद एक आवलिका—बंधावलिका का अतिक्रमण करके बध्यमान यशःकीर्तिनाम में इन बारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है तथा प्रथम संहनन तो सम्यग्दृष्टि मनुष्य को बंधता नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तो देवभवयोग्य प्रकृतियों का बंध करता है, जिससे मनुष्यभव में वह बंध द्वारा पुष्ट नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तथा बंध नहीं होने से उसमें अन्य किन्हीं प्रकृतियों के दलिक संक्रमित भी नहीं होते हैं। अतएव यदि आठवें गुणस्थान में बारह प्रकृतियों के साथ उसका उत्कृष्ट संक्रम कहा जाये तो वह घटित नहीं होता है। क्योंकि देव में से मनुष्य में आकर जहाँ तक आठवें गुणस्थान में बंधविच्छेदस्थान तक नहीं पहुँचे, वहाँ तक वज्रऋषभ-नाराचसंहनन को अन्य में संक्रमित करने के द्वारा हीनदल वाला करेगा, जिससे बारह के साथ उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। इसीलिये देव से मनुष्य में आकर आवलिका के बीतने के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

नरकद्विकादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

नरयदुगस्स विछोभे पुव्वकोडीपुहुत्तनिचियस्स।
थावरउज्जोयायवएगिंदीणं नपुंससमं ॥१००॥

शब्दार्थ—**नरयदुगस्स**—नरकद्विक का, **विछोभे**—चरम प्रक्षेप के समय, **पुव्वकोडीपुहुत्तनिचियस्स**—पूर्वकोटिपृथक्त्व पर्यन्त बांधे गये, **थावरउज्जोयायवएगिंदीणं**—स्थावर, उद्योत, आतप और एकेन्द्रिय जाति का, **नपुंससमं**—नपुंसक वेद के समान।

गाथार्थ—पूर्वकोटिपृथक्त्व तक बांधे गये नरकद्विक का (नौवें गुणस्थान में उसके) चरमप्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है तथा स्थावर, उद्योत, आतपनाम और एकेन्द्रिय-जाति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम नपुंसकवेद की तरह जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले तिर्यंच के सात भवों में बार-बार नरकगति, नरकानुपूर्वि रूप नरकद्विक का बंध करे और आठवें भव में मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो आरूढ़ हुए उस जीव के नरकद्विक को अन्यत्र संक्रमित करते जब चरम प्रक्षेप हो, तब सर्वसंक्रम द्वारा उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थावरनाम, उद्योतनाम, आतपनाम और एकेन्द्रियजाति इन चार प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम नपुंसकवेद की तरह होता है। नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जिस तरह बताया गया है, उसी प्रकार इन चार प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तेत्तीसयरा पालिय अंतमुहुत्तूणगाइं सम्मत्तं।
बंधित्तु सत्तमाओ निग्गम्म समए नरदुगस्स ॥१०१॥

शब्दार्थ—**तेत्तीसयरा**—तेतीस सागरोपम, **पालिय**—पालन करके, **अंतमुहुत्तूणगाइं**—अन्तर्मुहूर्तन्यून, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व को, **बंधित्तु**—बांधकर, **सत्तमाओ**—सातवीं नरकपृथ्वी से, **निग्गम्म**—निकलकर, **समए**—समय में **नरदुगस्स**—मनुष्यद्विक का।

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्तन्यून तेतीस सागरोपमपर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर और उतने काल सम्यक्त्व के निमित्त से मनुष्य-द्विक का बंध कर सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यंचभव में जाये, तब उस तिर्यंचभव में प्रथम समय में ही मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ—सातवीं नरकपृथ्वी का कोई नारक जीव पर्याप्त होने के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसका अन्तर्मुहूर्तन्यून[1] तेतीस

---

१ यहाँ अन्तर्मुहूर्तन्यून कहने का कारण यह है कि सम्यक्त्व लेकर कोई जीव सातवीं नरकभूमि में जाता नहीं है और सम्यक्त्व लेकर सातवें नरक से अन्य गति में भी नहीं जाता है। परन्तु पर्याप्त होने के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकता है और अंतिम अन्तर्मुहूर्त में उसका वमन कर देता है। जिससे आदि के और अंत के इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त मिलकर एक बड़े अन्तर्मुहूर्तन्यून तेतीस सागरोपम का सम्यक्त्व का काल सातवीं नारकी में संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपम पर्यन्त अनुभव करे। उतने काल वह सातवीं नरकपृथ्वी का जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से मनुष्यद्विक बांधे और बांधकर अपनी आयु के अंतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाये, वहाँ मिथ्यात्व-निमित्तक तिर्यंचद्विक बांधता हुआ वह गुणितकर्मांश सातवीं नरक पृथ्वी का जीव वहाँ से निकलकर तिर्यंचगति में जाये, वहाँ पहले ही समय में बध्यमान तिर्यंचद्विक में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा मनुष्य-द्विक को संक्रमित करते हुए उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

प्रश्न—सातवीं नरकपृथ्वी में सम्यक्त्वनिमित्तक मनुष्यद्विक को बांधकर अंतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाकर मनुष्यद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद मिथ्यात्वनिमित्तक बंधने वाले तिर्यंच-द्विक में मनुष्यद्विक को संक्रमित करते उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम क्यों नहीं कहलाता है ? और अन्तर्मुहूर्त के बाद तिर्यंचगति में जाकर उतने काल मनुष्यद्विक को अन्य में संक्रम के द्वारा कुछ कम करके तिर्यंचभव के पहले समय में तिर्यंचद्विक में संक्रमित करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम क्यों कहलाता है ?

उत्तर—सातवीं नरकपृथ्वी में मिथ्यात्वगुणस्थान में भव-निमित्तक मनुष्यद्विक का बंध नहीं होता है। जो प्रकृतियां भव या गुण निमित्तक बंधती नहीं हैं, उनका विध्यातसंक्रम होता है, यह बात पूर्व में कही जा चुकी है। इसलिये सातवीं नरकभूमि के नारक में अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में विध्यातसंक्रम द्वारा मनुष्यद्विक संक्रमित होगी और तिर्यंचभव के पहले समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित होगी। क्योंकि तिर्यंचभव में उसका बंध है। विध्यातसंक्रम द्वारा जो दलिक अन्य में संक्रमित होता है, वह अत्यन्त अल्प और यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा जो संक्रमित होता है, वह अधिक—बहुत होता है। इसीलिये तिर्यंचभव में पहले समय में मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

तीर्थंकरनाम आदि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तित्थयराहाराणं सुरगइनवगस्स थिरसुभाणं च।
सुभधुवबंधीण तहा सगबंधा आलिगं गंतुं ॥१०२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**तित्थयराहाराणं**—तीर्थंकरनाम, आहारकसप्तक का, **सुरगइनवगस्स**—देवगतिनवक का, **थिरसुभाणं**—स्थिर, शुभ का, **च**—और, **सुभधुवबंधीण**—शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, **तहा**—तथा, **सगबंधा**—अपने बंध की, **आलिगं**—आवलिका के, **गंतु**—बीतने के बाद।

गाथार्थ—तीर्थंकरनाम, आहारकसप्तक, देवगतिनवक, स्थिर और शुभ तथा शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अपनी अंतिम बंधावलिका के बीतने के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—तीर्थंकरनाम, आहारकसप्तक, देवद्विक और वैक्रियसप्तक रूप देवगतिनवक, स्थिर, शुभ और नामकर्म की ध्रुवबंधिनी पुण्य प्रकृति—तैजससप्तक, शुक्ल-रक्त-हारिद्रवर्ण, सुरभिगंध, कषाय-आम्ल-मधुररस, मृदु-लघु-स्निग्ध और उष्णस्पर्श, अगुरुलघु, निर्माण कुल मिलाकर उनचालीस प्रकृतियों का पराघात आदि की तरह चार बार मोह का उपशम करने वाले के अंत में बंधविच्छेद होने के पश्चात् अपनी बंधावलिका के बीतने के अनन्तर यशःकीर्ति में संक्रमित करते उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आहारकसप्तक और तीर्थंकरनामकर्म को उनका अधिक-से अधिक जितना बंधकाल हो, उतने काल बांधे। आहारकसप्तक का उत्कृष्ट बंधकाल देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त संयम का पालन करते जितनी बार अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाये उतना और तीर्थंकरनामकर्म का उत्कृष्ट बंधकाल देशोन पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम जानना चाहिये। इतना काल बंध द्वारा और अन्य प्रकृति के संक्रम द्वारा पुष्ट दल वाला करे, फिर पुष्ट दल वाला करके क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो और क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुआ वह जीव जब आठवें गुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद आवलिका मात्र काल बीतने पर यशःकीर्ति में संक्रमित करे तब उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ ध्रुवबंधिनी, स्थिर और शुभ, कुल मिलाकर बाईस प्रकृतियों का चार बार मोहनीय का सर्वोपशम करने के बाद बंध-विच्छेद होने के अनन्तर आवलिका को उलांघने कर यशःकीर्ति में संक्रमित करते उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित दलिक आवलिका जाने के बाद ही संक्रमयोग्य होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं, इसीलिये बंधविच्छेद के बाद आवलिका बीतने के अनन्तर उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है ।

देवद्विक और वैक्रियसप्तक को मनुष्य-तिर्यंचभव में पूर्वकोटि-पृथक्त्व काल तक बंध करे और बंध करके आठवें भव में क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो तो क्षपकश्रेणि में उक्त प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद आवलिका का अतिक्रमण करके यशःकीर्ति में संक्रमित करते उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। उस समय अन्य प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित दलिकों की संक्रमावलिका व्यतीत हो चुकी होने से उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम संभव है ।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश करते हैं। जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी क्षपितकर्मांश जीव होता है। अतएव सर्वप्रथम क्षपितकर्मांश का स्वरूप कहते हैं ।

क्षपितकर्मांश का स्वरूप

सुहुमेसु निगोएसु कम्मठिंति पलियऽसंखभागूणं ।
वसिउं मंदकसाओ जहन्न जोगो उ जो एइ ॥१०३॥

जोग्गेसु तो तसेसु सम्मत्तमसंखवार संपप्प ।
देसविरइं च सव्वं अण उव्वलगं च अडवारा ॥१०४॥

चउरुवसमित्तु मोहं लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो ।
पाएण तेण पगयं पडुच्च काओ वि सविसेसं ॥१०५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**सुहुमेसु**—सूक्ष्म, **निगोएसु**—निगोद में, **कम्मठिति**—कर्म-स्थिति, **पलियऽसंखभागूणं**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून, **वसिउं**—रहकर, **मंदकसाओ**—मंद कषाय, **जहन्नजोगो**—जघन्य योग, **उ**—और, **जो**—उनसे, **एइ**—युक्त, सहित रहकर ।

जोग्गेसु—योग्य, **तो**—उसके बाद, **तसेसु**—त्रस भव में, **सम्मत्तमसंखवार**—असंख्यात बार सम्यक्त्व को, **संपप्प**—प्राप्त करके, **देसविरइं**—देशविरति को, **च**—और, **सव्वं**—सर्वविरति को, **अण**—अनन्तानुबंधि की, **उव्वलणं**—उद्‌वलना-विसंयोजना, **च**—तथा, **अडवारा**—आठ बार ।

चउरुवसमित्तु—चार बार उपशमना करके, **मोहं**—मोहनीय की, **लहुं**—शीघ्र, **खवेंतो**—क्षय करने, **भवे**—होता है, **खवियकम्मो**—क्षपितकर्मांश, **पाएण**—प्रायः, **तेण**—उसका, **पगयं**—प्रकृत में, **पडुच्च**—सम्बन्ध में, **काओ वि**—कितनी ही, **सविसेसं**—विशेष ।

गाथार्थ—सूक्ष्मनिगोद में पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून कर्मस्थिति (सत्तर कोडाकोडी सागरोपम) पर्यन्त मंदकषाय और जघन्ययोग युक्त रहकर—

सम्यक्त्वादि के योग्य त्रस भव में उत्पन्न हो और वहाँ उत्पन्न होकर असंख्य बार सम्यक्त्व, कुछ कम उतनी बार देशविरतिचारित्र, आठ बार सर्वविरति, आठ बार अनन्तानुबंधि की विसंयोजना तथा—

चार बार (चारित्र) मोहनीय की उपशमना कर शीघ्र क्षय करने के लिये उद्यत ऐसा क्षपकश्रेणि पर आरोहण करता हुआ जीव क्षपितकर्मांश कहलाता है । प्रकृत में—जघन्य प्रदेशसंक्रम-स्वामित्व के विषय में उस जीव का अधिकार है । फिर भी कितनी ही प्रकृतियों के सम्बन्ध में जो विशेष है, उसको यथा-वसर स्पष्ट किया जायेगा ।

विशेषार्थ—कोई एक जीव सूक्ष्म अनन्तकाय जीवों में पल्योपम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के असंख्यातवें भाग न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त रहे। इतने काल वहाँ रहने का कारण यह है—

सूक्ष्म निगोदिया जीव अल्प आयु वाले होते हैं, जिससे उन्हें बहुत जन्म-मरण होते हैं। बहुत जन्म-मरण होने से वेदना से अभिभूत उनको अधिक परिमाण में पुद्गलों का क्षय होता है। क्योंकि असातावेदनीय के उदय वाले दुःखी जीव के अधिक पुद्गलों का क्षय और सातावेदनीय के उदय वाले सुखी जीव के पुद्गलों का क्षय अल्प प्रमाण में होता है। अतः अनेक जन्म-मरण करने वाले के जन्म-मरण-जन्य दुःख बहुत होता है, इसीलिए सूक्ष्म निगोद जीव का ग्रहण किया है।

सूक्ष्म निगोद में किस प्रकार रहे, अब उसको बतलाते हैं कि मंद कषाय वाला शेष निगोदिया जीवों की अपेक्षा अल्प कषाय वाला होता है, क्योंकि मंद कषाय वाला जीव अल्प स्थिति बंध करता है और उद्वर्तना भी अल्प स्थिति की करता है तथा मंद योग वाला यानि अन्य निगोद जीवों की अपेक्षा इन्द्रियजन्य अल्प वीर्य वाला होता है। क्योंकि अल्प वीर्य व्यापार वाला जीव नवीन कर्म पुद्गलों का ग्रहण बहुत अल्प प्रमाण में करता है और यहाँ क्षपितकर्मांश के अधिकार में इसी प्रकार के अल्प कषाय एवं अल्प वीर्य व्यापार वाले सूक्ष्म निगोद जीव का ही प्रयोजन होने से अल्प कषायी और अल्प योगी सूक्ष्म निगोद जीव का ग्रहण किया है।

इस प्रकार का मंद कषायी और जघन्य योग वाला सूक्ष्म निगोद जीव अभव्यप्रायोग्य जघन्यप्रदेश संचय करके वहाँ से निकल सम्यक्त्व, देशविरत और सर्वविरत के योग्य त्रस में उत्पन्न हो। वहाँ उत्पन्न होकर संख्यातीत—असंख्यात बार सम्यक्त्व और कुछ न्यून उतनी बार देशविरति प्राप्त करे।

जिस त्रस भव में सम्यक्त्वादि प्राप्त हो, वैसे त्रस भवों में किस प्रकार उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व आदि किस प्रकार प्राप्त करे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो इसको स्पष्ट करते हैं—सूक्ष्म निगोद में से निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयु के बाद पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो, अन्तर्मुहूर्त आयु पूर्ण कर वहाँ से निकलकर पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उत्पन्न हो, मनुष्य में उत्पन्न हो गर्भ में मात्र सात मास रह कर जन्म धारण करे और आठ वर्ष की उम्र वाला होता हुआ चारित्र अंगीकार करे, देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन कर अल्प आयु—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब मिथ्यात्व में जाये, मिथ्यात्वी रहते काल करके दस हजार वर्ष की आयु वाले देवों में देवरूप से उत्पन्न हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल बीतने के बाद पर्याप्तावस्था में सम्यक्त्व प्राप्त करे, देवभव में दस हजार वर्ष रहकर और उतने काल सम्यक्त्व पालकर अंत में—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब मिथ्यात्व में जाकर वहाँ बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय योग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बांधकर मरण को प्राप्त हो, बादर पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो, अन्तर्मुहूर्त काल वहाँ रहकर फिर मनुष्य हो और पुनः भी सम्यक्त्व या देशविरति प्राप्त करे। इस प्रकार देव और मनुष्य के भव में सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करता और छोड़ता वहाँ तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में संख्यातीत बार सम्यक्त्व और उससे कुछ कम देशविरति का लाभ हो।

यहाँ जब-जब सम्यक्त्वादि की प्राप्ति हो तब-तब बहुप्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली करता है—इसी बात का संकेत करने के लिये अनेक बार सम्यक्त्वादि को प्राप्त करे यह कहा है तथा सम्यक्त्वादि के योग्य त्रसभवों में आठ बार सर्वविरति प्राप्त करता है और उतनी ही बार अनन्तानुबंधिकषाय का उद्वलन करता है। क्योंकि संसार में परिभ्रमण करता भव्य जीव असंख्य बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, कुछ न्यून उतनी बार देशविरति चारित्र, आठ बार सर्वविरति चारित्र और उतनी ही बार अनन्तानुबंधिकषाय की विसंयोजना कर सकता है, तथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार बार चारित्रमोहनीय को सर्वथा उपशांत करके उसके बाद के भव में शीघ्र क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर कर्मों का क्षय करता जीव क्षपितकर्मांश—अत्यन्त अल्प कर्मप्रदेशों की सत्ता वाला कहलाता है।

इस प्रकार के क्षपितकर्मांश जीव का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व के विचार में प्रायः बहुलता से अधिकार है। क्योंकि ऐसे जीव को सत्ता में अत्यल्प कर्मप्रदेश होते हैं, जिससे संक्रम भी अल्प ही होता है। कतिपय प्रकृतियों के विषय में विशेष है, जिसका संकेत यथावसर किया जायेगा।

इस प्रकार से क्षपितकर्मांश जीव का स्वरूप जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

हास्यादि एवं मतिज्ञानावरणादि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

हासदुभयकुच्छाणं खीणंताणं च बंधचरिमंमि।
समए अहापवत्तेण ओहिजुयले अणोहिस्स ॥१०६॥

शब्दार्थ—**हासदुभयकुच्छाणं**—हास्यद्विक, भय और जुगुप्सा का, **खीणंताणं**—क्षीणमोहगुणस्थान में नाश होने वाली, **च**—और, **बंधचरिमंमि**—बंध के चरम, **समए**—समय में, **अहापवत्तेण**—यथाप्रवृतसंक्रम द्वारा, **ओहिजुयले**—अवधिद्विक का, **अणोहिस्स**—अवधिज्ञानविहीन।

गाथार्थ—हास्यद्विक, भय, जुगुप्सा और क्षीणमोहगुणस्थान में नाश होने वाली प्रकृतियों का अपने बंध के चरम समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। उसमें से अवधिद्विक का अवधिज्ञानविहीन जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—हास्यद्विक—हास्य और रति, भय, जुगुप्सा तथा बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में जिन प्रकृतियों का सत्ता में से विच्छेद होता है ऐसी अवधिज्ञानावरण रहित ज्ञानावरणचतुष्क, अवधि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनावरण रहित दर्शनावरणत्रिक, निद्राद्विक और अंतरायपंचक, कुल मिलाकर अठारह प्रकृतियों का अपने बंध के चरम समय में यथा-प्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का भी अपने बंधविच्छेद के समय ही जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, परन्तु वह अवधिज्ञान-विहीन जीव के होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान जिसको उत्पन्न हुआ है, वैसे जीव के अवधिज्ञानावरण रहित ज्ञानावरण-चतुष्क और अवधिदर्शनावरण रहित दर्शनावरणत्रिक इन सात प्रकृतियों का अपने-अपने बंधविच्छेद के समय क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अवधिज्ञान उत्पन्न करता जीव बहुत कर्मपुद्गलों को तथा-स्वभाव से क्षय करता है, जिससे उपर्युक्त प्रकृतियों के अपने बंध-विच्छेद के समय सत्ता में अल्प पुद्गल ही रहते हैं। इसी कारण जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। यहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकार है, इसलिये अवधिज्ञानयुक्त जीव को जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकारी कहा है। बंधविच्छेद होने के बाद पतद्ग्रह नहीं होने से संक्रम होता ही नहीं है, इसलिये बंधविच्छेद समय ग्रहण किया है।

निद्राद्विक, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का भी अपने बंध-विच्छेद के समय जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि बंधविच्छेद होने के बाद उनका गुणसंक्रम द्वारा संक्रम होता है। आठवें गुण-स्थान से बंधविच्छेद होने के बाद अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है और गुणसंक्रम द्वारा अधिक पुद्गल संक्रमित होते हैं, इसीलिये यह कहा हैं कि बंधविच्छेद के समय यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अंतरायपंचक का भी अपने बंधविच्छेद के समय जघन्य प्रदेश-संक्रम होता है। क्योंकि बंधविच्छेद होने के बाद तो कोई पतद्ग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नहीं होने से संक्रम ही नहीं होता है, इसीलिये यह कहा गया है कि बंध के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

जिनके अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न नहीं हुआ होता है, वैसे जीव के अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का अपने बंध के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान-दर्शन उत्पन्न करते प्रबल क्षयोपशम के सद्भाव से अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण के पुद्‌गल अतिरूक्ष-अति निःस्नेह होते हैं और इसी कारण बंधविच्छेद के काल में भी सत्ता में अधिक रह जाने से उनके अधिक पुद्‌गलों का क्षय होता है और उससे जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है। इसी कारण यह कहा है कि अवधिज्ञान विहीन जीव के अवधिज्ञानदर्शनावरण का जघन्य प्रदेश-संक्रम होता है।

स्त्यानर्द्धित्रिक आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

थीणतिगइत्थिमिच्छाण पालिय बेछसट्ठि सम्मत्तं।
सगखवणाए जहन्नो अहापवत्तस्स चरमंमि ॥१०७॥

शब्दार्थ—**थीणतिगइत्थिमिच्छाण**—स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद और मिथ्यात्व मोहनीय का, **पालिय**—पालन करके, **बेछसट्ठि**—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व को, **सगखवणाए**—अपनी क्षपणा में, **जहन्नो**—जघन्य, **अहापवत्तस्स**—यथाप्रवृत्तसंक्रम के, **चरमंमि**—चरम समय में।

गाथार्थ—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर अपनी क्षपणा के समय यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद और मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—दो छियासठ सागरोपम अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करके और उतने काल पर्यन्त सम्यक्त्व के प्रभाव से अधिक दलिकों को दूर कर—क्षय कर अल्प शेष रहें तब उन प्रकृतियों की क्षपणा करने के लिये तत्पर हुए जीव के अपने-अपने यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में विध्यातसंक्रम द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रमित करते स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद और मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अपूर्वकरण में गुणसंक्रम संभव होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है। उसमें भी क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए जीव के स्त्यानर्द्धित्रिक और स्त्रीवेद का अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले के सातवां गुणस्थान ही यथाप्रवृत्तकरण माना जाता है। आठवें गुणस्थान से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है, इसीलिये अप्रमत्त-यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।[1] तथा—

क्षायिकसम्यक्त्व का उपार्जन करते जिनकालिक प्रथम संहनन वाले चौथे से सातवें गुणस्थान तक में वर्तमान मनुष्य के दर्शनत्रिक का क्षय करने के लिये किये गये तीन करण में के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण में गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से यथाप्रवृत्तकरण का चरम समय ग्रहण किया है।

१ यद्यपि उपर्युक्त प्रकृतियों का यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते अपने-अपने यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, ऐसा ग्रन्थकार आचार्य ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में स्पष्ट किया है। परन्तु गुण या भव के निमित्त से जो प्रकृतियां बंधती नहीं, उनका विध्यातसंक्रम इसी ग्रन्थ में पहले कहा है, यथाप्रवृत्तसंक्रम नहीं। गुणनिमित्त से उपर्युक्त प्रकृतियों का अबंध तीसरे गुणस्थान से हुआ है, इसलिये उनका विध्यातसंक्रम होना चाहिये, यथाप्रवृत्तसंक्रम नहीं। इसी कारण मलयगिरिसूरि ने विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, यह इस गाथा की टीका में कहा है। तत्त्व केवलीगम्य है। विद्वज्जन इसको स्पष्ट करने की कृपा करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरति-शोक आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

अरइसोगट्ठकसाय असुभधुवबन्धि अथिरतियगाणं।
अस्सायस्स य चरिमे अहापवत्तस्स लहु खवगे ॥१०८॥

शब्दार्थ—**अरइसोगट्ठकसाय**—अरति, शोक, मध्यम आठ कषाय, **असुभधुवबंधि**—अशुभ ध्रुवबंधिनी नामकर्म की प्रकृतियों, **अथिरतियगाणं**—अस्थिरत्रिक का, **अस्सायस्स**—असातावेदनीय का, **य**—और, **चरिमे**—चरम समय में, **अहापवत्तस्स**—यथाप्रवृत्तकरण के, **लहु**—शीघ्र, **खवगे**—क्षपक के।

गाथार्थ—अरति, शोक, मध्यम आठ कषाय, ध्रुवबंधिनी नामकर्म की अशुभ प्रकृतियों, अस्थिरत्रिक और असातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम शीघ्र क्षपक के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में होता है।

विशेषार्थ—अरति, शोक, नामकर्म की अशुभ ध्रुवबंधिनी अशुभ वर्ण आदि नवक और उपघात, अस्थिरत्रिक—अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति तथा असातावेदनीय, कुल सोलह प्रकृतियों का शीघ्र[1] सत्ता में से निर्मूल करने के लिये प्रयत्नशील जीव के यथाप्रवृत्तकरण—अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के चरम समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम[2] द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

---

१ यहाँ शीघ्र का अर्थ यह समझना चाहिये कि सात मास गर्भ के और उसके बाद के आठ वर्ष कुल मिलाकर सात मास अधिक आठ वर्ष का अतिक्रमण कर सत्ता में से निर्मूल करने के लिये प्रयत्नशील जीव।

२ गुण या भव निमित्त से अबध्यमान प्रकृतियों का विध्यातसंक्रम होता है, यह गाथा ६९ में स्पष्ट किया गया है। अरति, शोक, अस्थिरत्रिक और असातावेदनीय ये छह प्रकृतियां बध में से छठे गुणस्थान में विच्छिन्न होती हैं, जिससे सातवें गुणस्थान में उनका विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होना चाहिये। परन्तु यहाँ यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा कहने का क्या कारण है? विद्वज्जनों से स्पष्टता की अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन करके, क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते मध्यम आठ कषायों[1] का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

मिश्रमोहनीय आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

हस्सगुणद्धं पूरिय सम्मं मीसं च धरिय उक्कोसं।
कालं मिच्छत्तगए चिरउव्वलगस्स चरिमम्मि ॥१०६॥

शब्दार्थ—**हस्सगुणद्धं**—गुणसंक्रम के अल्प काल द्वारा, **पूरिय**—पूरित कर, **सम्मं**—सम्यक्त्व, **मीसं**—मिश्रमोहनीय, **च**—और, **धरिय उक्कोसं कालं**—उत्कृष्ट काल पर्यन्त पालन कर, **मिच्छत्तगए**—मिथ्यात्व में गये हुए के, **चिरउव्वलगस्स**—चिर उद्वलक के, **चरिमे**—चरम समय में।

गाथार्थ—सम्यक्त्व उत्पन्न करके गुणसंक्रम के अल्पकाल द्वारा सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को पूरित कर और उत्कृष्ट काल पर्यन्त पालन कर मिथ्यात्व में गये चिर उद्वलक के द्विचरम खंड के चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्व उत्पन्न करके अल्पकाल पर्यन्त[2] गुणसंक्रम

---

१ ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में उक्त चौबीस प्रकृतियों के लिये पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन कर क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम कहा है। तत्पश्चात् होने वाले अपूर्वकरण में तो गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। तत्त्व केवलिगम्य है।

२. सम्यक्त्व उत्पन्न करके तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक प्रवर्धमान परिणाम वाला रहता है, जिससे उतने काल मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र और सम्यक्त्व में तथा मिश्र के सम्यक्त्व में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करता है। यहाँ जितना अल्प काल हो सके उतना काल लेना है। क्योंकि यहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम का विचार किया जा रहा है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय के बल से सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय को पूरित कर—पुष्ट कर सम्यक्त्व का जो एक सौ बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट काल है, उतने काल सम्यक्त्व को धारण कर—पालन कर और उसके बाद मिथ्यात्व में जाये, वहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल होने वाली उद्‌वलना द्वारा सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय की उद्‌वलना करते उनके द्विचरमखंड के दलिक को चरम समय में मिथ्यात्व रूप पर प्रकृति में जितना संक्रमित करे तो वह उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

प्रत्येक खंड की उद्‌वलना करते अन्तमु हूर्त होता है, उसी प्रकार द्विचरमखंड को भी उद्‌वलित करते अन्तर्मुहूर्त होता है तथा उद्‌वलना में स्व में जो संक्रम होता है, उसकी अपेक्षा पर में उत्तरोत्तर अल्प होता है। जिससे द्विचरमखंड का चरम समय में मिथ्यात्व रूप परप्रकृति में जो संक्रम होता है, वह जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। चरमखंड के दलिक को तो पर में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार से संक्रमित करता है, जिससे चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है, इसीलिये यहाँ द्विचरमखंड का ग्रहण किया है।

अनन्तानुबंधी कषाय का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

संजोयणाण चउरुवसमित्तु संजोयइत्तु अप्पद्धं।
छावट्ठिदुगं पालिय अहापवत्तस्स अंतम्मि ॥११०॥

शब्दार्थ—**संजोयणाण**—अनन्तानुबंधि, **चउरुवसमित्तु**—चार बार मोहनीय की उपशमना करके, **संजोयइत्तु**—अनन्तानुबंधि का बंध करके, **अप्पद्धं**—अल्पकाल पर्यन्त, **छावट्ठिदुगं**—दो छियासठ सागरोपम, **पालिय**—पालन कर, **अहापवत्तस्स**—यथाप्रवृत्तकरण के, **अंतम्मि**—चरम समय में।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय की उपशमना करके तत्पश्चात् मिथ्यात्व में जाकर अल्पकाल पर्यन्त अनन्तानुबंधि का बंध करके सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसको दो छियासठ सागरोपम

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

पालकर अंत में अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—चार बार मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना करे, क्योंकि चार बार मोहनीय की उपशमना करने से अधिक कर्म पुद्‌गलों का क्षय होता है और वह इस प्रकार कि चारित्रमोहनीय प्रकृतियों की उपशमना करने वाला स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रम द्वारा अधिक पुद्‌गलों का नाश करता है। इसीलिये चार बार मोहनीय का सर्वोपशम करने का संकेत किया है। इसके बाद अर्थात् चार बार मोहनीय की सर्वोपशमना करके मिथ्यात्व में जाये, वहाँ अल्पकाल पर्यन्त अनन्तानुबंधि का बंध करे। यहाँ जब अनन्तानुबंधि बांधता है तब चारित्रमोहनीय का दलिक सत्ता में अल्प ही होता है। क्योंकि चार बार मोहनीय के सर्वोपशमनाकाल में स्थितिघात आदि के द्वारा क्षय किया है, जिससे अनन्तानुबंधि को बांधते उसमें यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा अत्यन्त अल्प चारित्रमोहनीय के दलिक को संक्रमित करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसे दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त पालन कर अनन्तानुबंधि कषाय की क्षपणा करने के लिये प्रयत्नशील के अपने यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण में तो गुणसंक्रम होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता, यहाँ अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने के लिये जो तीन करण होते हैं, उनमें का पहला यथाप्रवृत्तकरण लेना चाहिये।

आहारकद्विक, तीर्थंकर नाम का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

हस्सं कालं बंधिय विरओ आहारमविरइं गंतुं।
चिरओव्वलणे थोवो तित्थं बंधालिगा परओ ॥१११॥

शब्दार्थ—**हस्सं कालं**—अल्पकाल पर्यन्त, **बंधिय**—बांधकर, **विरओ**—अप्रमत्तविरत, **आहारमविरइं गंतुं**—आहारकद्विक को अविरत में जाकर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिरओव्वलणे—चिर उद्‌वलना द्वारा, **थोवो**—जघन्य, **तित्थं**—तीर्थंकरनाम, **बंधालिगा**—बंधावलिका, **परओ**—बीतने के बाद।

गाथार्थ—अल्पकाल पर्यन्त अप्रमत्तसंयत हो आहारकद्विक को बांधकर अविरत में जाकर चिरउद्‌वलना द्वारा उद्‌वलना करते उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है और तीर्थंकरनाम का बंधावलिका के बीतने के बाद जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अल्पकाल पर्यन्त अप्रमत्तसंयत रहते आहारकद्विक को बांधकर अर्थात् कम-से-कम जितना अप्रमत्तसंयत का काल हो सकता है, उतने काल पर्यन्त आहारकद्विक (आहारकसप्तक) को बांधकर कर्मोदयवशात् अविरत-अवस्था प्राप्त हो जाये तो उस अविरत-अवस्था में अन्तर्मुहूर्त काल जाने के बाद उस आहारकद्विक को चिर उद्‌वलना–पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल में होती उद्‌वलना–द्वारा उद्‌वलित करना प्रारंभ करे और उस उद्‌वलित करते कम से कम जो संक्रम हो, वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है, अर्थात् द्विचरमखंड को उद्‌वलित करते चरम समय में उसका जो कर्मदलिक पर प्रकृति में संक्रमित हो, वह आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

यहाँ विशेषरूप से उद्‌वलनासंक्रम का स्वरूप ध्यान में रखना चाहिये। पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण खंड को ले-लेकर स्व और पर में संक्रमित करके अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में निर्मूल किया जाता है। उत्तरोत्तर समय में स्व की अपेक्षा पर में अल्प संक्रमित किया जाता है और पर से स्व में असंख्यातगुण। प्रत्येक खंड को इस प्रकार से संक्रमित करते द्विचरमखंड को अपने संक्रमकाल के अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय में पर में जो संक्रमित किया जाता है वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है। चरम खंड को तो पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात–असंख्यात गुण पर में संक्रमित किया जाता है, जिससे वहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसीलिये द्विचरमखंड को ग्रहण किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

तीर्थंकर नामकर्म को बांधते पहले समय जो दलिक बांधा है, उस पहले समय के दलिक को बंधावलिका के जाने के बाद यथाप्रवृत्त-संक्रम के द्वारा पर प्रकृतियों में जो संक्रमित किया जाता है, वह तीर्थंकरनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। अर्थात् तीर्थंकर नाम के बंध के पहले समय जो दलिक बांधा हो, वही शुद्ध एक समय का बांधा हुआ दलिक बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित हो, वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम है। तीर्थंकरनाम की उद्वलना नहीं होती है कि जिससे आहारक की तरह द्विचरम खंड का चरम समय में जो पर में संक्रमण हो, उसे जघन्य प्रदेशसंक्रम के रूप में कहा जा सके तथा दूसरे अनेक समयों में बंधे हुए को ग्रहण करने से सत्ता में अधिक दलिक होने के कारण प्रमाण बढ़ जाता है और जब उनका संक्रम होगा, तब यथाप्रवृत्तसंक्रम ही होगा। इसीलिये तीर्थंकर नामकर्म के प्रारंभ के बंध समय जो बांधा उसकी बंधावलिका पूर्ण होते ही बाद के समय में जो पहले समय बांधा उसी दल को यथा-प्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित होने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, यह कहा है।

वैक्रिय एकादश आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

वेउव्वेक्कारसगं उव्वलियं बंधिऊण अप्पद्धं।
जेट्ठट्ठितिनरयाओ उव्वट्टित्ता अबंधित्ता ॥११२॥
थावरगसमुव्वलणे मणुदुगउच्चाण सहुमबद्धाणं।
एमेव समुव्वलणे तेउवाउसुवगयस्स ॥११३॥

शब्दार्थ—**वेउव्वेक्कारसगं**—वैक्रिय एकादशक की, **उव्वलियं**—उद्वलना करके, **बंधिऊण**—बांधकर, **अप्पद्धं**—अल्पकाल, **जेट्ठट्ठितिनरयाओ**—उत्कृष्ट स्थिति वाले नरक से, **उव्वट्टित्ता**—निकलकर, **अबंधित्ता**—बिना बांधे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थावरगसमुव्वलणे—स्थावर में जाकर उद्वलना करने पर, **मणुदुग-उच्चाण**—मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का, **सुहुमबद्धाणं**—सूक्ष्म एकेन्द्रिय में बंधे हुए, **एमेव**—इसी प्रकार, **समुव्वलणे**—उद्वलना करते, **तेउवाउसुवगयस्स**—तेजस्काय और वायुकाय में गये हुए जीव के।

गाथार्थ—सत्तागत वैक्रिय एकादशक की उद्वलना करके बंध योग्य भव में अल्पकाल पर्यन्त बांधकर जेष्ठ स्थिति वाले नरक में जाकर और फिर वहाँ से तिर्यंच में जाये, वहाँ बिना बांधे स्थावर में जाकर उद्वलना करते द्विचरमखंड का चरम समय में जो दल पर में संक्रमित किया जाता है, वह वैक्रिय एकादशक का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय में बंधे हुए मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलना करते तेजस्काय, वायुकाय में गये हुए जीव के उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—जिस समय वैक्रिय शरीर आदि ग्यारह प्रकृतियों के जघन्यप्रदेश संक्रम का विचार किया जाता है, उससे पूर्व कालभेद से अनेक समय में बंधे हुए देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियसप्तक का जो दल सत्ता में विद्यमान है, उसको एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलना-संक्रम की विधि से उद्वलित कर देता है। उद्वलित करने का कारण यह है कि काल भेद से अनेक समय में बांधे गये अधिक दलिक सत्ता में होने के कारण प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है।

इस प्रकार से उद्वलित करके पंचेन्द्रिय में जाकर अल्प काल पर्यन्त बंध करे, बांधकर तेतीस सागरोपम की स्थिति वाली सातवीं नरकपृथ्वी में नारक रूप[1] से उत्पन्न हो, वहाँ उतने काल यथायोग्य रीति से वैक्रिय एकादश का अनुभव कर और फिर वहाँ से निकलकर

---

१. यद्यपि अनुत्तर विमान की भी तेतीस सागरोपम आयु है, परन्तु वहाँ जाकर बाद में एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिये सातवीं नरक-पृथ्वी के नारक का ग्रहण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हो, वहाँ वैक्रिय एकादश को बिना बांधे ही एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और उस एकेन्द्रिय के भव में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में होती उद्‌वलना के द्वारा वैक्रिय एकादश को उद्‌वलित करते द्विचरमखंड का चरम समय में जो दलिक पर प्रकृति में संक्रमित किया जाता है, वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

इसी प्रकार कालभेद से अनेक समय का बंधा हुआ उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक का जो दल सत्ता में हो, उसे तेज और वायु के भव में उद्‌वलित कर दिया जाये और उसके बाद पुनः मनुष्यद्विक आदि के बंध योग्य सूक्ष्म एकेन्द्रिय के भव में जाकर अन्तर्मुहूर्त बांधे, वहाँ से निकलकर पंचेन्द्रिय भव में जाकर सातवीं नरकपृथ्वी में जाने योग्य कर्म बंध कर सातवीं नरक पृथ्वी में उत्कृष्ट आयु वाला नारक हो, वहाँ से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हो। इतने काल पर्यन्त उन तीन प्रकृतियों का बंध नहीं करे और प्रदेशसंक्रम द्वारा अनुभव कर कम करे।[1] इसके बाद उस पंचेन्द्रिय के भव में से निकल कर तेज और वायुकाय में उत्पन्न हो, वहाँ मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र को चिरोद्‌वलना—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में होती उद्‌वलना—द्वारा उद्‌वलना करते द्विचरमखंड का चरम समय में जो दलिक पर में संक्रमित किया जाता है, वह उनका जघन्य प्रदेश, संक्रम कहलाता है।[2]

---

१. यद्यपि जिस भव में नरकयोग्य आयु बांधे और नरक में से निकलकर जाता है, वे दोनों भव उपर्युक्त तीनों प्रकृतियों के बंधयोग्य हैं। परन्तु यहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकार होने से ऐसा जीव लेना है, जो उस बंधयोग्य भव में बंध नहीं करे। इसीलिये बांधे नहीं और प्रदेश संक्रम द्वारा अनुभव कर कम करे यह कहा है।

२. सत्ता में से निकालकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय में जाकर बांधने के बाद अन्य किसी स्थान पर बांधता नहीं और कम तो करता है, जिससे सत्ता में अल्प भाग रह जाता है। इसी कारण तेज और वायुकाय में उद्‌बलना करने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातावेदनीय एवं शुभ पैंतीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम-स्वामित्व

अणुवसमित्ता मोहं सायस्स असायअंतिमे बंधे ।
पणतीसा य सुभाणं अपुव्वकरणालिगा अंते ॥११४॥

शब्दार्थ—**अणुवसमित्ता**—उपशम न करके, **मोहं**—मोहनीय का, **सायस्स**—सातावेदनीय का, **असायअंतिमे बंधे**—असाता के अंतिम बंध में, **पणतीसा**—पैंतीस, **य**—और, **सुभाणं**—शुभ प्रकृतियों का, **अपुव्वकरणालिगा अंते**—अपूर्वकरण की आवलिका के अंत में ।

गाथार्थ—मोहनीय का उपशम न करके असाता के अंतिम बंध में सातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । पैंतीस शुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम अपूर्वकरण की आवलिका के अंत में होता है ।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का उपशम न करके अर्थात् उपशमश्रेणि किये बिना असातावेदनीयकर्म के बंध में जो अंतिम बंध, उस अंतिम बंध का जो अंतिम समय–छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान का अंतिम समय, उस अंतिम समय में वर्तमान क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने के लिये उद्यत जीव के असातावेदनीय में सातावेदनीय को संक्रमित करते साता का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । सातवें अप्रमत्तविरत-गुणस्थान के प्रथम समय से साता का ही बंध होने से सातावेदनीय पतद्ग्रह प्रकृति हो जाने के कारण वह संक्रमित नहीं होती है, परन्तु असाता साता में संक्रमित होती है । यहाँ उपशमश्रेणि के निषेध करने का कारण यह है कि उपशमश्रेणि में असातावेदनीय के अधिक पुद्गल साता में संक्रमित होने से सातावेदनीय अधिक प्रदेश वाली होती है और वैसा होने पर उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है । तथा—

पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, तैजससप्तक, प्रशस्तविहायोगति, शुक्ल, लोहित और हारिद्र वर्ण, सुरभिगंध, कषाय, आम्ल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मधुर रस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, त्रसदशक तथा निर्माण इन पैंतीस प्रकृतियों का उपशमश्रेणि न करके शेष क्षपितकर्मांशविधि द्वारा जघन्य प्रदेशप्रमाण करके क्षय करने के लिये प्रयत्नशील क्षपितकर्मांश जीव के अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका के अंत समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। प्रथमावलिका पूर्ण होने के बाद तो अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय से अशुभ प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा प्राप्त हुए अत्यधिक दलिक की संक्रमावलिका पूर्ण होने के कारण उस दलिक का भी संक्रम संभव होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। इसीलिये यहाँ अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका का चरम समय ग्रहण करने का संकेत किया है तथा उपशमश्रेणि के निषेध करने का कारण यह है कि उपशमश्रेणि में उपर्युक्त पैंतीस प्रकृतियां शुभ होने से उनमें गुणसंक्रम द्वारा अशुभ प्रकृतियों के अधिक दलिक संक्रमित होते हैं, जिससे उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है तथा उपशमश्रेणि के सिवाय की क्षपितकर्मांश होने के योग्य अन्य क्रिया द्वारा जघन्य प्रदेशाग्रसत्ता में जघन्य प्रदेश का संचय करके क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले जीव के अपने बंधविच्छेद के समय वज्रऋषभनाराचसंहनन का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। यहाँ भी उपशमश्रेणि के निषेध का कारण पूर्ववत् जानना चाहिये। चौथे गुणस्थान तक ही प्रथम संहनननामकर्म बंधता है, जिससे क्षपकश्रेणि पर चढ़ते मनुष्य को उस गुणस्थान के चरम समय में प्रथम संहनन का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।[1]

तिर्यंचद्विक, उद्योतनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तेवट्ठ उदहिसयं गेविज्जाणुत्तरे सऽबंधित्ता।
तिरिदुगउज्जोयाइं अहापवत्तस्स अंतंमि ॥११५॥

---

१ कर्मप्रकृति संक्रमकरण गाथा १०९ में वज्रऋषभनाराचसंहनन का जघन्य प्रदेशसंक्रम भी पंचेन्द्रियजाति आदि पैंतीस प्रकृतियों के साथ ही अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका के अंत समय में बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**तेवट्ठउदहिसयं**—एक सौ त्रेसठ सागरोपम, **गेविज्जाणुत्तरे**—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में, **सऽबंधित्ता**—बिना बांधे, **तिरिदुगउज्जोयाइं**—तिर्यंचद्विक और उद्योत नाम का, **अहापवत्तस्स**—यथाप्रवृत्तकरण के, **अंतंमि**—अन्त में ।

गाथार्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त बिना बांधे क्षय करते तिर्यंचद्विक और उद्योतनाम का यथाप्रवृत्तकरण के अंत में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है ।

विशेषार्थ—चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में भवप्रत्यय अथवा गुणप्रत्यय द्वारा बिना बांधे सर्व जघन्य सत्ता वाले क्षपितकर्मांश के यथाप्रवृत्तकरण के चरमसमय में तिर्यंचद्विक और उद्योतनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है ।

यहाँ चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम इस प्रकार जानना चाहिये कि कोई क्षपितकर्मांश जीव तीन पल्योपम की आयु वाले युगलिक मनुष्य में उत्पन्न हो । वह वहाँ देवद्विक का ही बंध करता है, तिर्यंचद्विक या उद्योतनाम नहीं बांधता है । अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके और सम्यक्त्व से गिरे बिना ही एक पल्योपम की आयु वाला देव हो, फिर उसके बाद सम्यक्त्व से गिरे बिना ही देवभव में से च्यव कर मनुष्य हो तथा मनुष्यभव में भी सम्यक्त्व से च्युत न हो परन्तु सम्यक्त्व सहित इकतीस सागरोपम की आयु से ग्रैवेयक में देव हो, वहाँ उत्पन्न होने के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाये । मिथ्यात्व में जाने पर भी वहाँ भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों को नहीं बांधता है, अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तो फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करे और उसके बाद बीच में होने वाले मनुष्यभवयुक्त तीन बार अच्युत देवलोक में और दो बार अनुत्तर विमान में जाने के द्वारा एक सौ बत्तीस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपम[1] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पालन कर उस सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तब शीघ्र क्षय करने के लिये प्रयत्नशील हो। क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए जीव के यथाप्रवृत्तकरण–अप्रमत्त-संयतगुणस्थान के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण से गुणसंक्रम[2] प्रवर्तित होने से वहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार संसारचक्र में भ्रमण करते चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त गुण या भव प्रत्यय से तिर्यंचद्विक और उद्योतनामकर्म बांधता नहीं और संक्रम, प्रदेशोदयादि द्वारा, कम करता है, जिससे क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होते अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के अंत समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है। श्रेणि पर आरूढ़ होते जो तीन करण करता है, उनमें का यथाप्रवृत्तकरण अप्रमत्तसंयतगुणस्थान जानना चाहिये।

१ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अविरत काल छियासठ सागरोपम का है। वह बाईस-बाईस सागरोपम की आयु से तीन बार अच्युत देवलोक में जाकर पूर्ण करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान में जाकर दूसरी बार सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और उसे तेतीस-तेतीस सागरोपम की आयु से अनुत्तर विमान में जाकर पूर्ण करता है। उस काल के अंतिम अन्तर्मुहूर्त में यदि क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ न हो तो काल पूर्ण होने पर गिर कर मिथ्यात्व प्राप्त करता है। यह काल बीच में होने वाले मनुष्यभव द्वारा अधिक समझना चाहिये।

२ यद्यपि उद्योतनामकर्म का गुणसंक्रम नहीं होता है। क्योंकि अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है। परन्तु जघन्य प्रदेशसंक्रम तो अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के अंत समय में कहा है। क्योंकि अपूर्वकरण से उसका उद्वलनासंक्रम होता है। इसी प्रकार से आतपनामकर्म के लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि नौवें गुणस्थान में आतपनामकर्म का भी क्षय किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकेन्द्रियजाति आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

इगिविगलायवथावरचउक्कमबंधिऊण पणसीयं ।
अयरसयं छट्ठीए बावीसयरं जहा पुव्वं ।।११६।।

शब्दार्थ—**इगिविगलायवथावरचउक्कं**—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावरचतुष्क का, **अबंधिऊण**—बिना बांधे, **पणसीयं**—पचासी, **अयरसयं**—सौ सागरोपम, **छट्ठीए**—छठवीं नरकपृथ्वी के, **बावीसयरं**—बाईस सागरोपम, **जहा पुव्वं**—शेष पूर्व में कहे अनुसार ।

गाथार्थ—एक सौ पचासी सागरोपम पर्यन्त बिना बांधे क्षय करते यथाप्रवृत्तकरण के अंत में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावरचतुष्क का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । छठी नरकपृथ्वी के बाईस सागरोपम के साथ पूर्व में कहे एक सौ त्रेसठ सागरोपम के अबंधकाल को जोड़ने से एक सौ पचासी सागरोपम होते हैं ।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय रूप जाति-चतुष्क, आतप तथा स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त रूप स्थावर-चतुष्क, इन नौ प्रकृतियों को चार पल्योपम अधिक एक सौ पचासी सागरोपम तक बांधे बिना उस सम्यक्त्व के काल के अंत में अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाण सम्यक्त्व का जो काल है, उसके चरम अन्तर्मुहूर्त में क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाला यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है ।

इतने काल पर्यन्त इन नौ प्रकृतियों को गुण या भव के निमित्त से बांधता नहीं है तथा संक्रम एवं प्रदेशोदय द्वारा अल्प करता है, जिसके सत्ता में अल्प दलिक रहते हैं । अल्प रहे दलिकों को अप्रमत्त-संयतगुणस्थान के चरमसमय में जो संक्रमित करता है, वह इन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है । अपूर्वकरण से तो गुण-संक्रम प्रवर्तित होता है, जिससे जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है । इसीलिये अप्रमत्तसंयत का चरमसमय ग्रहण किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ चार पल्योपम अधिक एक सौ पचासी सागरोपम काल इस प्रकार से जानना चाहिये कि कोई क्षपितकर्मांश नरकायु को बांधकर छठी नरक पृथ्वी में बाईस सागरोपम की आयु से नारक हो, वहाँ भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों की बांधता नहीं और जब वहाँ अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व प्राप्त करे और सम्यक्त्व से गिरे बिना नरक में से निकलकर मनुष्य हो, मनुष्य पर्याय में भी सम्यक्त्व से गिरे बिना सम्यक्त्व के साथ देशविरति का पालन कर सौधर्म स्वर्ग में चार पल्योपम की आयु वाले देव में उत्पन्न हो, यहाँ भी सम्यक्त्व से च्युत न हो, परन्तु उतने काल सम्यक्त्व का पालन कर सम्यक्त्व के साथ ही देवभव में से च्यवकर मनुष्य हो। उस मनुष्यभव में भलीभांति चारित्र का पालन कर इकतीस सागरोपम की आयु से ग्रैवेयक देव में उत्पन्न हो और इतने काल गुणनिमित्त से उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध नहीं किया। ग्रैवेयक में उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाये। यहाँ मिथ्यात्वी होने पर भी भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध नहीं होता। अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब पुनः सम्यक्त्व प्राप्त हो और उसके बाद पूर्व में कहे अनुसार दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालनकर उस सम्यक्त्व काल का अंतिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तब कर्मों को सत्ता में से निर्मूल करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाले के चार पल्योपम अधिक एक सौ पचासी सागरोपम तक उपर्युक्त नौ प्रकृतियों के बंध का अभाव प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि-बंध-अयोग्य अशुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व

दुसराइतिण्णि णीयऽसुभखगइ संघयण संठियपुमाणं।
सम्माजोग्गाणं सोलसण्हं सरिसं थिवेएणं ॥११७॥

शब्दार्थ—दुसराइतिण्णि—दुःस्वरादित्रिक, **णीयऽसुभखगई**—नीचगोत्र, अशुभ विहायोगति, **संघयण**—संहनन, **संठियपुमाणं**—संस्थान, नपुंसकवेद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्माजोग्गाणं—सम्यग्दृष्टि के बंध अयोग्य, **सोलसण्हं**—सोलह प्रकृतियों का, **सरिसं**—सदृश, **थिवेएणं**—स्त्रीवेद के समान ।

गाथार्थ—दुःस्वरादित्रिक, नीच गोत्र, अशुभ विहायोगति, संहनन पंचक, संस्थान पंचक और नपुंसकवेद इन सम्यग्दृष्टि के बंध अयोग्य सोलह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्त्रीवेद के सदृश जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—दुःस्वरत्रिक-दुःस्वर, दुर्भग और अनादेय तथा नीच-गोत्र, अशुभ विहायोगति, पहले को छोड़कर शेष पाँच संहनन और पांच संस्थान तथा नपुंसकवेद इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव के बंधने के अयोग्य सोलह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश संक्रम पूर्व में बताये गये स्त्रीवेद के जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व के समान जानना चाहिये । अर्थात् स्त्रीवेद के जघन्य प्रदेश संक्रम का जो स्वामी कहा है, वही इन सोलह प्रकृतियों का भी जानना चाहिये । परन्तु इतना विशेष है कि तीनं पल्योपम की आयु वाले युगलिक मनुष्य में उत्पन्न हुआ और वहाँ अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जानना चाहिये तथा शेष समस्त कथन स्त्रीवेद में कहे अनुसार है ।

आयु कर्म आदि का जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व

समयाहिआवलीए आऊण जहण्णजोग बंधाणं ।
उक्कोसाऊ अंते नरतिरिया उरलसत्तस्स ॥११८॥

शब्दार्थ—**समयाहि आवलीए**—समयाधिक आवलिका के, **आऊण**—आयु का, **जहण्णजोग बंधाणं**—जघन्य योग से बंधी हुई, **उक्कोसाउ**—उत्कृष्ट आयु वाले के, **अंते**—अंत में, **नरतिरिया**—मनुष्य तिर्यंच के, **उरलसत्तस्स**—औदारिक सप्तक का ।

गाथार्थ—जघन्य योग से बंधी हुई सभी आयु का समयाधिक आवलिका शेष रहने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । उत्कृष्ट आयु वाले मनुष्य तिर्यंच अपनी आयु के अंत समय में औदारिक सप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—जघन्य योग द्वारा बांधी गई आयु की सत्ता में जब समयाधिक एक आवलिका शेष रहे तब उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। आयुकर्म में यह संक्रम स्वस्थान में ही जानना चाहिये। क्योंकि आयु कर्म में अन्य प्रकृति नयनसंक्रम नहीं होता है। जिससे उदयावलिका से ऊपर के समय का दलिक अपवर्तना द्वारा नीचे उतारने रूप अपवर्तनासंक्रम समझना चाहिये किन्तु अन्य प्रकृति नयनसंक्रम नहीं।

उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच अपनी आयु के अंत में औदारिक सप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई एक जीव जो अन्य समस्त जीवों की अपेक्षा सर्व जघन्य औदारिक सप्तक की प्रदेश सत्ता वाला हो और तीन पल्योपम की आयु वाले युगलिक तिर्यंच या मनुष्य में उत्पन्न हो तो वह युगलिक औदारिक सप्तक को उदय-उदीरणा द्वारा अनुभव करते और विध्यातसंक्रम द्वारा पर-प्रकृति में संक्रमित करते अपनी आयु के चरम समय में औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है। इसका कारण यह है कि अन्य जीवों की अपेक्षा वह अल्प सत्ता वाला है और तीन पल्योपम तक उदय-उदीरणा द्वारा भोगकर एवं विध्यातसंक्रम द्वारा अन्य में संक्रमित करके अल्प करता है, जिससे अल्प प्रदेश की सत्ता वाला वह औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेश संक्रम कर सकता है।

पुरुषवेद संज्वलनत्रिक का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व

पुसंजलणतिगाणं जहण्णजोगिस्स खवगसेढीए।
सगचरिमसमयबद्धं जं छुभइ सगंतिमे समए ॥११६॥

शब्दार्थ—**पुसंजलणतिगाणं**—पुरुषवेद, संज्वलनत्रिक का, **जहण्णजोगिस्स**—जघन्य योग वाले के, **खवगसेढीए**—क्षपक श्रेणि में वर्तमान, **सगचरिमसमयबद्धं**—अपने चरम समय में बद्ध, **जं**—जो, **छुभइ**—संक्रमित करता है, **सगंतिमे**—अपने अंतिम, **समए**—समय में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—क्षपकश्रेणि में वर्तमान जघन्य योग वाले जीव ने पुरुषवेद और संज्वलनत्रिक का अपने-अपने बंध के अंत समय में जो दलिक बांधा उसे अपने-अपने अन्तिम समय में संक्रमित किया जाता है वह उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि में वर्तमान जघन्य योग वाले जीव ने उन प्रकृतियों—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया—का जिस समय चरम बंध होता है उस समय जो दलिक बांधा, उसकी बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित करते संक्रमावलिका के चरम समय में पर प्रकृति में अंतिम संक्रम होता है, वह उनका जघन्य प्रदेश-संक्रम है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इन चारों प्रकृतियों का बंध-विच्छेद के समय समयन्यून दो आवलिका में बंधे हुए दलिक को छोड़कर अन्य किसी भी समय का बंधा हुआ सत्ता में होता नहीं है और उसे भी प्रति समय संक्रमित करते हुए क्षय करता है और वह वहाँ तक कि चरमसमय में बंधे हुए दलिक का असंख्यातवां भाग शेष रहता है। पुरुषवेद आदि प्रकृतियों का बंधविच्छेद के समय समयोन दो आवलिका काल में बंधा हुआ दल ही शेष रहता है। ऐसा नियम है कि जिस समय बांधे उस समय से बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करने की शुरुआत होती है और संक्रमावलिका के चरमसमय में सम्पूर्ण रूप से निर्लेप होता है। इस नियम के अनुसार उपर्युक्त प्रकृतियों का बंधविच्छेद के समय जो दलिक बंधता है, उसकी बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित किये जाने की शुरुआत होती है और संक्रमित करते-करते संक्रमावलिका के चरमसमय में बंधविच्छेद के समय बंधा हुआ शुद्ध एक समय का ही दल रहता है और वह भी बंधविच्छेद के समय जो बांधा था, उसका असंख्यातवां भाग ही शेष रहता है। उसे सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर उन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश-संक्रम कहलाता है।

यद्यपि यहाँ संज्वलनलोभ के जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश नहीं किया है, परन्तु कर्मप्रकृति संक्रमकरण गाथा ९८ की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकानुसार इस प्रकार जानना चाहिये कि उपशमश्रेणि किये बि
क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले अपूर्वकरणगुणस्थान की पह
आवलिका के अंत में संज्वलनलोभ का जघन्य प्रदेशसंक्र
होता है।

इस प्रकार से प्रदेशसंक्रम के अधिकृत विषयों का विवेचन कर
के साथ संक्रमकरण का वर्णन समाप्त हुआ।[1] अब एक प्रका
से संक्रम के भेद जैसे उद्वर्तना और अपवर्तना करणों का वर्ण
प्रारंभ करते हैं।

संक्रम और उद्वर्तना-अपवर्तना करणों में यह अंतर है f
संक्रम तो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का होता
किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना करण, स्थिति एवं अनुभाग (रस
के विषय में ही होते हैं। इसके सिवाय और भी जो भिन्नता है, उ
यथाप्रसंग स्पष्ट किया जायेगा।

---

१ स्थिति, अनुभाग और प्रदेशसंक्रम के समस्त कथन का बोधक प्रारू
परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्तना और अपवर्तना करण

उद्देशानुसार अब उद्वर्तना एवं अपवर्तना इन दो करणों का विचार किया जायेगा। स्थिति और अनुभाग इनके विषय हैं। अतएव स्थिति और अनुभाग के क्रम से इन दोनों करणों का प्रतिपादन करते हैं।

निर्व्याघात और व्याघात के भेद से स्थिति उद्वर्तना के दो प्रकार हैं। उनमें से सर्वप्रथम निर्व्याघात स्थिति उद्वर्तना का निरूपण करते हैं।

निर्व्याघात स्थिति उद्वर्तना

उदयावलिवज्झाणं ठिईण उव्वट्टणा उ ठितिविसया।
सोक्कोसअबाहाओ जावावलि होई अइत्थवणा ॥१॥

शब्दार्थ—**उदयावलिवज्झाणं**—उदयावलिका से बाह्य; **ठिईण**—स्थितियों की, **उव्वट्टणा**—उद्वर्तना, **उ**—और, **ठितिविसया**—स्थिति की विषय रूप, **सोक्कोसअबाहाओ**—अपनी उत्कृष्ट अबाधा से लेकर, **जावावलि**—आवलिका पर्यन्त, **होइ**—है; **अइत्थवणा**—अतीत्थापना।

गाथार्थ—स्थिति की विषय रूप उद्वर्तना उदयावलिका से बाह्य स्थितियों की होती है और अपनी उत्कृष्ट अबाधा से लेकर आवलिका पर्यन्त की स्थितियाँ अतीत्थापना है।

विशेषार्थ—गाथा में स्थिति-उद्वर्तना का स्वरूप बताया है। उसमें भी पहले उद्वर्तना का लक्षण स्पष्ट करते हैं कि जीव के जिस प्रयत्न द्वारा स्थिति और रस की वृद्धि हो, उसे स्थिति और रस की उद्वर्तना कहते हैं। अर्थात् उद्वर्तना का विषय स्थिति और रस है, प्रकृति एवं प्रदेश नहीं। उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा प्रकृति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेश में वृद्धि-हानि नहीं होती है, परन्तु स्थिति और रस में होती है। इसलिये क्रम प्राप्त पहले स्थिति-रस की उद्‌वर्तना की प्ररूपणा करके, बाद में स्थिति-रस की अपवर्तना का निरूपण करेंगे।

उद्‌वर्तना के विचार में स्थिति का प्रथम स्थान है, अतएव स्थिति उद्‌वर्तना का कथन करते हैं कि उदयावलिका को छोड़कर ऊपर जो स्थितियां हैं, उनमें स्थिति-उद्‌वर्तना प्रवर्तित होती है और उदयावलिका सकल करण के अयोग्य होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होती है।

प्रश्न—बंधावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति की—समस्त स्थितिस्थानों की उद्‌वर्तना हो सकती है ?

उत्तर—बंधावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति की—समस्त स्थितिस्थानों की उद्‌वर्तना नहीं हो सकती है।

प्रश्न—तब कितने की हो सकती है ?

उत्तर—स्वजातीय जिस प्रकृति की जितनी स्थिति बंधती है, उसकी जितनी अबाधा हो तो उस प्रकृति की सत्ता में रही हुई उतनी स्थिति की उद्‌वर्तना नहीं हो सकती है, परन्तु अबाधा से ऊपर की स्थिति की उद्‌वर्तना होती है। अर्थात् उत्कृष्ट अबाधा हो तब अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की, मध्यम हो तब मध्यम अबाधाप्रमाण स्थिति की और जघन्य अबाधा हो तब जघन्य अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्‌वर्तना नहीं होती है, परन्तु उससे ऊपर की स्थिति की हो सकती है।

इस प्रकार उत्कृष्ट अबाधाप्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्थापना, मध्यम अबाधाप्रमाण स्थिति मध्यम अतीत्थापना और अल्प-अल्प होती जघन्य अबाधाप्रमाण स्थिति जघन्य अतीत्थापना है।

अतीत्थापना का अर्थ है उलांघना। इसीलिये जितनी स्थिति को उलांघकर उद्‌वर्तना हो, वह उलांघने योग्य स्थिति अतीत्थापनास्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाती है। क्योंकि उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति की उद्वर्तना होती है, इसलिये उतनी स्थिति अतीत्थापना कहलाती है। जघन्य अबाधाप्रमाण जघन्य अतीत्थापना से भी अल्प जो अतीत्थापना है वह आवलिका-प्रमाण है।

उक्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—उद्वर्तना का संबंध बंध से है। अतएव जितनी स्थिति बंधे, सत्तागत स्थिति उतनी बढ़ती है। बध्यमान प्रकृति की जितनी स्थिति बंधती है उसकी जितनी अबाधा हो, उसके तुल्य या उससे हीन जिसकी बंधावलिका बीत गई है, वैसी उस कर्म की ही पूर्वबद्ध स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। यानि अबाधाप्रमाण उस सत्तागत स्थिति को वहाँ से उठाकर बंधने वाली उसी प्रकृति की अबाधा से ऊपर की स्थिति में प्रक्षेप नहीं किया जाता है। क्योंकि वह स्थिति अबाधा के अन्तः प्रविष्ट है।

यहाँ स्थिति को उठाकर अन्यत्र प्रक्षिप्त करने का तात्पर्य उस-उस स्थितिस्थान में भोगने योग्य दलिकों को उठाकर अन्यत्र निक्षिप्त नहीं किया जाता है, यह है।

अबाधा से ऊपर जो स्थिति है, उसकी अंतिम स्थितिस्थान पर्यन्त उद्वर्तना होती है। इस प्रकार अबाधा के अंदर की सभी स्थितियां उद्वर्तना की अपेक्षा अनतिक्रमणीय हैं। यानि अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थानों के दलिक अबाधा से ऊपर के स्थानों में प्रक्षिप्त नहीं किये जाते—अबाधा से ऊपर के स्थानों के दलिकों के साथ भोगे जायें वैसे नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार होने से जो उत्कृष्ट अबाधा वह उत्कृष्ट अतीत्थापना, समयन्यून उत्कृष्ट अबाधा, वह समयन्यून उत्कृष्ट अतीत्थापना, दो समयन्यून अबाधा वह दो समयन्यून उत्कृष्ट अतीत्थापना है, इस प्रकार समय-समय हीन-हीन होते वहाँ तक कहना चाहिये कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधा वह जघन्य अतीत्थापना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उस जघन्य अबाधारूप अतीत्थापना से भी जघन्य अतीत्थापना आवलिका प्रमाण है एवं वह उदयावलिका रूप है। क्योंकि उदयावलिका के अंदर की स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती है। कहा भी है—'उव्वट्टणा ठिईए उदयावलियाए वाहिए ठिईणं' स्थिति की उद्वर्तना उदयावलिका से ऊपर की स्थिति में होती है।

प्रश्न—किसी भी काल में बंध हो तभी उद्वर्तना होती है। कहा भी है—'**आबंधा उव्वट्टइ**' बंध पर्यन्त यानि किसी भी प्रकृति की उद्वर्तना उस प्रकृति के बंध होने तक ही प्रवर्तित होती है[1]। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की उद्वर्तना मिथ्यात्वमोहनीय के बंध होने तक ही होती है, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के लिये भी समझना चाहिये तथा ऐसा भी कहा कि बध्यमान प्रकृति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। इस प्रकार होने से जो उदयावलिकागत स्थितियां हैं, अबाधा में ही समावेश हो जाने से उनकी उद्वर्तना होती ही नहीं है तो फिर से उदयावलिकागत स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती है—ऐसा निषेध क्यों किया है निषेध तो पहले ही हो गया है।

उत्तर—उक्त प्रश्न अभिप्राय को न समझने के कारण अयुक्त है। ऊपर जो कहा है कि—'बध्यमान प्रकृति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती,' उसका तात्पर्य यह है कि उस अबाधा की अंतर्वर्ती स्थितियों को स्वस्थान से उठाकर अबाधा से ऊपर के

---

१. उद्वर्तना प्रवर्तित होती है यानि शीघ्र भोगे जायें इस प्रकार से नियत हुए दलिकों को देर से भोगा जाये वैसा करना बंध समय जो निषेक रचना हुई हो उसे उद्वर्तना बदल देती है। कितनी ही बार जितनी स्थिति बंधे उतनी ही सत्ता में होती है, कितनीक बार बंध से सत्ता में कम होती है और किसी समय बंध से सत्ता में अधिक होती है तो प्रत्येक समय उद्वर्तना कैसे होती है, यह समझने योग्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानों में निक्षेप नहीं होता है। यानि अबाधा के अन्तर्गत जो स्थिति-स्थान रहे हुए हैं उनके दलिक अबाधा से ऊपर के स्थानों में रहे हुए दलिकों के साथ भोगे जायें, वैसा नहीं होता है, परन्तु अबाधा का अबाधा में ही जिस क्रम से अबाधा के ऊपर के स्थानों के लिये आगे कहा जा रहा है, उस क्रम से उद्वर्तना और निक्षेप होता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार होने से उदयावलिकागत स्थितियों की भी उद्वर्तना प्राप्त होती है, अतः उसका निषेध करने के लिये उदयावलिकागत स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती, यह कहा है। अबाधा के स्थानों की उद्वर्तना अबाधा के स्थानों में ही हो सकती है। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम स्थिति बंधी और उसकी सात हजार वर्ष प्रमाण अबाधा है तो सत्तागत उतनी स्थिति की उद्वर्तना का निषेध किया है। अर्थात् सात हजार वर्ष प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान के दलिक सात हजार वर्ष के बाद भोगे जाने योग्य दलिकों के साथ भोगे जायें वैसे नहीं किये जाते हैं, किन्तु अबाधागत उदयावलिका से ऊपर के स्थान के दलिकों को उसके बाद के स्थान से प्रारंभ कर आवलिका को उलांघकर बाद के स्थान से सात हजार वर्ष के अंतिम समय तक के स्थानों के साथ भोगे जायें वैसे किये जा सकते हैं।

इस प्रकार अबाधा के स्थानों की अबाधा के स्थानों में उद्वर्तना हो सकती है। मात्र उदयावलिका करण के अयोग्य होने से उसमें नहीं होती है। इसीलिये उसका निषेध किया है।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि उद्वर्तना हो तब बंधसमय में हुई निषेकरचना में परिवर्तन होता है और जितनी स्थिति बंधे, उतनी ही स्थिति की सत्ता हो तब बद्धस्थिति की अबाधातुल्य सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के जिस स्थितिस्थान के दलिक की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक को उससे उपर के समय से आवलिका के समय प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की बंधती हुई स्थिति के चरमस्थान तक के किसी भी स्थान के दलिक के साथ भोगा जाये, वैसा किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि बंध के समय जिस समय भोगा जाये, इस प्रकार से नियत हुआ हो, उसे एक आवलिका के बाद किसी भी समय में भोगने योग्य किया जाता है। इस प्रकार से निषेक रचना बदलती है। स्थिति को उद्वर्तना यानि अमुक स्थान में भोगने के लिये नियत हुए दलिकों को उसके बाद कम में कम आवलिका के बाद फल दें, उनके साथ भोगने योग्य करना यह है। जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उससे ऊपर के समय से लेकर एक आवलिका प्रमाण स्थिति में जीवस्वभाव से दलिक निक्षेप नहीं होता है परन्तु उसके बाद के किसी भी स्थान में होता है, इसलिये आवलिका अतीत्थापना कहलाती है। इससे कम-से-कम एक आवलिका प्रमाण स्थिति बढ़ती है और अधिक-से-अधिक अबाधा से ऊपर की स्थिति के दलिक को बंधती हुई स्थिति में के अंतिम स्थितिस्थान में प्रक्षेप होता है, उस समय प्रभूत स्थिति बढ़ती है।

समय-समय बंधते कर्म में बद्ध समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त कोई करण लागू नहीं होता है, इसीलिये सत्तागतस्थिति का नाम लिया जाता है। सत्तागतस्थिति की निषेकरचना बदलकर बद्धस्थिति जितनी हो जाती है। जैसे कि अंत: कोडाकोडी सागरोपम की सत्ता वाला कोई जीव यदि सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बांधे तब अन्त:कोडाकोडी में भोगी जाये इस प्रकार से नियत हुई निषेकरचना बदलकर सत्तर कोडाकोडी में भोगी जाये, वैसी होती है।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस-जिस स्थिति की उद्वर्तना होनी हो उसके दलिक उससे ऊपर के समय से लेकर एक अतीत्थापनावलिका को छोड़कर ऊपर ऊपर के किसी भी स्थान में स्थित होते हैं। इस नियम के अनुसार किसी भी स्थान या स्थानों की उद्वर्तना होती है तो सत्तागत स्थिति या रस तत्समय बंधती स्थिति या बंधते रस प्रमाण होता है, किन्तु बंधती स्थिति या बंधते रस से सत्तागत स्थिति या रस नहीं बढ़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तागत स्थिति से बंधने वाली स्थिति कम हो तब बंधने वाली स्थिति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के स्थान के दलिक को उससे ऊपर के समय से आवलिका छोड़कर बंधती स्थिति के अंतिम स्थितिस्थान तक के किसी भी स्थान के साथ भोगा जाये, वैसा किया जाता है। जैसे कि दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की सत्ता है और बंध पांच कोडाकोडी सागरोपम का है तो उस समय पांच सौ वर्ष प्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर उससे ऊपर के स्थानगत दलिक को उसकी ऊपर से एक आवलिका छोड़कर समयाधिक एक आवलिका और पाँच सौ वर्ष न्यून पाँच कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान के साथ भोगा जाये वैसा किया जाता है, उससे बढ़ता नहीं है। क्योंकि बंध अधिक नहीं है। स्थिति की उद्वर्तना का जो क्रम है, वही रस की उद्वर्तना के लिये भी जानना चाहिये।

सत्तागत स्थिति से अधिक स्थिति का बंध हो तब उद्वर्तना होने का क्रम आगे बताया जा रहा है।

यहाँ उद्वर्त्यमानस्थिति और निक्षेपस्थिति यह दो शब्द आते हैं। उनमें से उद्वर्त्यमानस्थिति उसे कहते हैं कि जिस स्थिति–स्थिति-स्थान के दलिकों का ऊपर के स्थान में निक्षेप किया जाता है और उद्वर्त्यमान स्थितिस्थान के दलिक जिसमें निक्षिप्त किये जाते हैं— जिसके साथ भोगने योग्य किये जाते हैं, उसे निक्षेपस्थिति कहते हैं।

इस प्रकार से स्थिति उद्वर्तना के स्वरूप का विचार करने के पश्चात अब निक्षेप प्ररूपणा करते हैं।

निक्षेप प्ररूपणा

इच्छियठितिठाणाओ आवलिगं लंघिउण तद्दलियं।
सव्वेसु वि निक्खिप्पइ ठितिठाणेसु उवरिमेसु ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**इच्छियठितिठाणाओ**—इच्छित स्थितिस्थान में, **आवलिगं**—आवलिका, **लंघिउण**—उलांघकर, **तद्दलियं**—उस दलिक का, **सव्वेसु**—सभी, **वि**—भी, **निक्खिप्पइ**—निक्षेप किया जाता है, **ठितिठाणेसु**—स्थितिस्थानों में, **उवरिमेसु**—ऊपर के।

गाथार्थ—इच्छित स्थितिस्थान से एक आवलिका उलांघकर ऊपर के समस्त स्थितिस्थानों में उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिक का निक्षेप किया जाता है।

विशेषार्थ—बंधती हुई स्थिति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के उद्वर्तना योग्य जो स्थितिस्थान हैं वहाँ से लेकर स्थिति—स्थितिस्थान की उद्वर्तना करना हो, उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान में एक आवलिका प्रमाण स्थिति उलांघने के बाद ऊपर के किन्हीं भी स्थानों में निक्षेप किया जाता है। अर्थात् उद्वर्तना के योग्य स्थिति के दलिक जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है उससे ऊपर के समय से आवलिका प्रमाण स्थानों को छोड़कर ऊपर के समस्त स्थानों में निक्षिप्त किये जाते हैं यानि समस्त स्थानों के साथ भोगने योग्य किये जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ सामान्य से उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिक कहाँ और कितने में निक्षेप किये जाने का निर्देश करने के बाद अब जितने में निक्षेप किया जाता है, उसका निश्चित प्रमाण बतलाते हैं।

आवलिअसंखभागाइ जाव कम्मट्ठितित्ति निक्खेवो।
समयोत्तरावलीए साबाहाए भवे ऊणो ॥३॥

शब्दार्थ—**आवलिअसंखभागाइ**—आवलिका के असंख्यातवें भाग से लेकर, **जाव**—यावत्-पर्यन्त, **कम्मट्ठितित्ति**—उत्कृष्ट कर्म स्थिति, **निक्खेवो**—निक्षेप का विषय है, **समयोत्तरावलीए**—समयाधिक आवलिका, **साबाहाए**—अबाधा सहित, **भवे**—है, **ऊणो**—न्यून।

गाथार्थ—आवलिका के असंख्यातवें भाग से लेकर यावत् उत्कृष्ट कर्म स्थिति यह निक्षेप का विषय है और वह अबाधा सहित समयाधिक आवलिका न्यून है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—निक्षेप की विषयरूप स्थिति दो प्रकार की है—१. जघन्य, और २. उत्कृष्ट। निक्षेप की विषयरूप स्थितियां वे कहलाती हैं कि जिनमें जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक निक्षिप्त किये जाते हैं। उसका जघन्य उत्कृष्ट कितना प्रमाण होता है, अब इसको स्पष्ट करते हैं—

आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों में कर्मदलिक का जो निक्षेप होता है, वह जघन्य निक्षेप है। अर्थात् जब सत्तागत स्थिति जितनी स्थिति का बंध हो तब सत्तागत स्थिति में की चरम-स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। क्योंकि जितनी स्थिति की सत्ता है, उतना ही बंध होता है, जिससे सत्तागत स्थिति में के चरम स्थिति-स्थान के दलिक को प्रक्षिप्त करने योग्य कोई स्थान नहीं है। द्विचरम स्थिति की भी उद्वर्तना नहीं होती है यावत् चरम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग की उद्वर्तना नहीं होती है। इसी प्रकार सत्तागत स्थिति के समान स्थिति का जब बंध हो तब उस सर्वोत्कृष्ट स्थिति के अग्रभाग से यानि अंतिम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका के एवं आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों की उद्वर्तना नहीं होती है, उसके नीचे के स्थान की ही उद्वर्तना होती है और उसके दलिक को उसके ऊपर के समय से लेकर आवलिका अतीत्थापनावलिका मात्र स्थिति को उलांघकर ऊपर के आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रमाण स्थिति में निक्षिप्त किया जाता है, किन्तु अतीत्थापना रूप आवलिका में नहीं किया जाता है।

इस आवलिका में प्रक्षेप नहीं करने का कारण तथाप्रकार का जीवस्वभाव है।

इस प्रकार चरम स्थितिस्थान से आवलिका और आवलिका का असंख्यातवां भाग उलांघकर उससे नीचे के स्थान की उद्वर्तना हो तब अंतिम आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति जघन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेप की विषय रूप है। कम से कम निक्षेप की विषय रूप स्थिति उपर्युक्त रीति से आवलिका के असंख्यावें भाग ही होती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सत्तागत स्थिति के तुल्य स्थिति का बंध हो तब चरम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति में उद्वर्तना नहीं होती है। किन्तु उसके नीचे के स्थितिस्थान से लेकर बंधती स्थिति की अबाधा प्रमाण स्थिति को छोड़कर किसी भी स्थितिस्थान की उद्वर्तना हो सकती है। यानि उत्कृष्ट स्थितिबंध जब हो तब बंधावलिका, अबाधा और आवलिका के असंख्यातवें भाग सहित एक आवलिका, इतनी स्थिति को छोड़कर शेष स्थिति उद्वर्तना के योग्य है। उसका कारण यह है—बंधावलिकान्तर्वर्ती दलिक सकल करण के अयोग्य हैं, इसलिये बंधती स्थिति की अबाधा प्रमाण सत्तागत स्थिति उद्वर्तना के अयोग्य है क्योंकि उतनी स्थिति अतीत्थापना रूप से पहले कही जा चुकी है, इसीलिये अबाधा के अन्तर्गत रही स्थिति भी उद्वंतना के योग्य नहीं तथा एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियां ऊपर कही युक्ति से उद्वर्तना के योग्य नहीं है। अतः उत्कृष्ट स्थिति में से बंधावलिका, अबाधा प्रमाण स्थिति, आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक एक आवलिका प्रमाण स्थितियों को छोड़ कर शेष स्थितियां उद्वर्तना के योग्य जानना चाहिये।

इस प्रकार से उद्वर्तना के योग्य स्थितियों का निर्देश करने के अनन्तर अब निक्षेप की विषयरूप स्थितियों का विचार करते हैं—

जब ऊपर के स्थितिस्थान से आवलिका और आवलिका के असंख्यावें भाग प्रमाण स्थिति को उलांघकर नीचे की पहली स्थिति की उद्वर्तना होती है तब उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण कर आवलिका के अंत के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों में प्रक्षेप होता है, वह जघन्य निक्षेप है। उससे नीचे की दूसरी स्थिति की उद्वर्तना होती है तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयाधिक आवलिका का असंख्यातवाँ भाग निक्षेप का विषयरूप होता है, जब उसकी नीचे की तीसरी स्थिति की उद्वर्तना होती है तब दो समय अधिक आवलिका का असंख्यातवाँ भाग निक्षेप का विषयरूप होता है। यहाँ प्रत्येक स्थान पर अतीत्थापना स्थितियां आवलिका प्रमाण ही रहती हैं, किन्तु निक्षेप बढ़ता है और इस तरह निक्षेप की विषयरूप स्थितियों में समय-समय की वृद्धि होते वहाँ तक जानना चाहिये कि यावत् उत्कृष्ट हो जाये।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि उत्कृष्ट निक्षेप कितना होता है— समयाधिक आवलिका और आबाधा हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति यह उत्कृष्ट निक्षेप है। वह इस प्रकार—बंधती स्थिति की अबाधा प्रमाण स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती किन्तु उससे ऊपर की स्थिति की उद्वर्तना होती है। इसलिये जब अबाधा से ऊपर रही हुई स्थिति की उद्वर्तना होती है तब उस स्थितिस्थान के दलिक का निक्षेप अबाधा से ऊपर के स्थितिस्थानों में होता है, अबाधा के अन्दर के स्थितिस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है उसके दलिक का निक्षेप जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है उससे ऊपर के स्थानों में ही होता है। उसमें भी जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है उससे ऊपर के स्थितिस्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थिति का अतिक्रमण होने के बाद ऊपर की सभी स्थितियों में दलिक निक्षेप होता है। जिससे अतीत्थापनावलिका और जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उस समय प्रमाण स्थिति और अबाधा को छोड़कर शेष संपूर्ण कर्मस्थिति उत्कृष्ट दलनिक्षेप की विषयरूप होती है।

अतीत्थापनारूप आवलिका उद्वर्त्यमान समयप्रमाण स्थिति और अबाधाकाल को ग्रहण न करने का कारण यह है कि जितने स्थितिस्थानों का अतिक्रमण करने के बाद दलिक निक्षेप किया जाता है, उसे अतीत्थापना कहते हैं। कम-से-कम भी एक आवलिका को उलांघने के बार ही दलनिक्षेप होता है, इसलिये उस एक आवलिका को अतीत्थापना कहते हैं और उसमें दलनिक्षेप न होने से उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषेध किया है जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक का निक्षेप उसके ऊपर के स्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़कर ऊपर के स्थान में होता है, अतएव उस उद्वर्त्यमान-स्थान का भी निषेध किया है तथा अबाधा का निषेध करने का कारण यह है कि अबाधा प्रमाण स्थान के दल का निक्षेप अबाधा के ऊपर के स्थानों में नहीं होता है।

इस प्रकार अबाधा से ऊपर रहे स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उस स्थितिस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट निक्षेप और सर्वोपरितन स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उसकी अपेक्षा जघन्य निक्षेप संभव है।

अब इसी बात को स्वयं ग्रंथकार आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अब्बाहोवरिठाणगदलं पडुच्चेह परमनिक्खेवो।

चरिमुव्वट्टणगाणं पडुच्च इह जायइ जहण्णो ॥४॥

शब्दार्थ—**अब्बाहोवरिठाणगदलं**—अबाधा से ऊपर हुए स्थिति-स्थान के दल की, **पडुच्चेह**—अपेक्षा यहाँ, **परमनिक्खेवो**—उत्कृष्ट निक्षेप, **चरिमुव्वट्टणगाणं**—चरम उद्वर्त्यमान दलिक, **पडुच्च**—अपेक्षा, **इह**—यहाँ, **जायइ**—होता है, **जहण्णो**—जघन्य।

गाथार्थ—अबाधा से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थान के दल की अपेक्षा यहाँ उत्कृष्ट निक्षेप और चरम उद्वर्त्यमान स्थितिस्थान की अपेक्षा जघन्य निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—अबाधा से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उसके दलिक का उसके ऊपर के स्थितिस्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को छोड़कर ऊपर के समस्त स्थितिस्थानों में प्रक्षेप होता है, जिससे उसकी अपेक्षा यहाँ—उद्वर्तनाकरण में उत्कृष्ट निक्षेप होता है और जिसके बाद के स्थितिस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है, ऐसे अंतिम स्थितिस्थान की उद्वर्तना होने पर उसकी अपेक्षा जघन्य निक्षेप संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि सत्ता के समान स्थिति का जब बंध हो तब ऊपर के स्थान से आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति में के किसी भी स्थितिस्थान की उद्‌वर्तना नहीं होती है, उसके नीचे के स्थितिस्थान की उद्‌वर्तना होती है। जब उस स्थिति-स्थान की उद्‌वर्तना हो तब उसकी अपेक्षा आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्यनिक्षेप संभव है और मध्य के स्थितिस्थानों की अपेक्षा मध्यम निक्षेप होता है।

इस प्रकार से निक्षेप का निर्देश करने के बाद अब उद्‌वर्तना-योग्य स्थितियों का प्रमाण बतलाते हैं।

उद्‌वर्तनायोग्य स्थितियां

उक्कोसगठितिबंधे बंधावलिया अबाहमेत्तं च।

निक्खेवं च जहण्णं मोत्तुं उव्वट्टए सेसं ॥५॥

शब्दार्थ—**उक्कोसगठितिबंधे**—उत्कृष्ट स्थिति बंध होने पर, **बंधावलिया**—बंधावलिका, **अबाहमेत्तं**—अबाधा मात्र, **च**—और, **निक्खेवं**—निक्षेप, **च**—और, **जहण्णं**—जघन्य, **मोत्तुं**—छोड़कर, **उव्वट्टए**—उद्‌वर्तना होती है, **सेसं**—शेष की।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थिति बंध होने पर बंधावलिका अबाधा और जघन्य निक्षेप मात्र को छोड़कर शेष स्थितियों की उद्‌वर्तना होती है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तब बंधावलिका प्रमाण स्थिति बंधती हुई स्थिति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति और जघन्य निक्षेप प्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष समस्त स्थिति की उद्‌वर्तना होती है।

जघन्य निक्षेप प्रमाण स्थिति के ग्रहण से अंत की आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति समझना चाहिये। क्योंकि उतनी स्थिति की उद्‌वर्तना नहीं होती है। जिसका स्पष्टी-करण पूर्व में किया जा चुका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार निर्व्याघात यानि सत्तागत स्थिति के समान स्थिति का बंध होने पर होने वाली उद्वर्तना का निरूपण जानना चाहिये। अब व्याघात अर्थात् सत्तागत स्थिति से समय आदि अधिक स्थिति का बंध होने पर होने वाली उद्वर्तना का विचार करते हैं कि वह कैसे होती है और उसकी दलिक निक्षेप विधि क्या है।

व्याघातभाविनी उद्वर्तना—

निव्वाघाए एवं वाघाओ संतकम्महिगबंधो।
आवलिअसंखभागो जावावलि तत्थ इत्थवणा ॥६॥
आवलिदोसंखंसा जइ वड्ढइ अहिणवो उठिइबंधो।
उव्वट्टित तो चरिमा एवं जावलि अइत्थवणा ॥७॥
अइत्थावणालियाए पुण्णाए वड्ढइत्ति निक्खेवो।
ठितिउव्वट्टणमेवं एत्तो आव्वट्टणं वोच्छं ॥८॥

शब्दार्थ—**निव्वाघाए**—व्याघात के अभाव में, **एवं**—इस प्रकार, **वाघाओ**—व्याघात, **संतकम्महिगबंधो**—सत्ता से अधिक होने वाले कर्म बंध, **आवलिअसंखभागो**—आवलिका का असंख्यातवां भाग, **जावावलि**—यावत् आवलिका, **तत्थ**—वहाँ, **इत्थवणा**—अतीत्थापना।

आवलिदोसंखंसा—आवलिका के दो असंख्यातवें भाग, **जइ**—यदि, **वड्ढइ**—बढ़ती है—होती है, **अहिणवो**—अभिनव नया, **उ**—और, **ठिइबंधो**—स्थितिबंध, **उव्वट्टति**—उद्वर्तना होती है, **तो**—तत्पश्चात, **चरिमा एवं**—चरम की इसी प्रकार, **जावलि**—आवलिका पर्यन्त-पूर्ण आवलिका, **अइत्थवणा**—अतीत्थापना।

अइत्थावणालियाए—अतीत्थापनावलिका की, **पुण्णाए**—पूर्णता होने पर, **वड्ढइत्ति**—बढ़ता है, **निक्खेवो**—निक्षेप, **ठितिउव्वट्टणमेवं**—स्थिति उद्वर्तना इस प्रकार, **एत्तो**—यहाँ से अब, **ओव्वट्टणं**—अपवर्तना, **वोच्छं**—कहूंगा, वर्णन किया जायेगा।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

गाथार्थ—व्याघात के अभाव में होने वाली उद्‌वर्तना और दलिक निक्षेप विधि पूर्वोक्त प्रकार है। सत्ता से अधिक होने वाले कर्मबंध को व्याघात कहते हैं। व्याघात में आवलिका का असंख्यातवां भाग जघन्य और उत्कृष्ट यावत् आवलिका अतीत्थापना है।

सत्तागत स्थिति से अभिनव—नया स्थितिबंध जब आवलिका के दो असंख्यातवें भाग प्रमाण बढ़ता है—होता है तब सत्तागत स्थिति में की चरम स्थिति की उद्‌वर्तना होती है और एक आवलिका—पूर्ण आवलिका होने तक अतात्थापना बढ़ती है।

अतीत्थापनावलिका की पूर्णता होने पर निषेक बढ़ता है। स्थितिउद्‌वर्तना का स्वरूप इस प्रकार है। अब स्थिति-अपवर्तना का वर्णन किया जायेगा।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में व्याघातभाविनी स्थिति-उद्‌वर्तना की व्याख्या करके उपसंहारपूर्वक स्थिति-अपवर्तना का वर्णन प्रारंभ करने का संकेत किया है। प्रथम व्याघातभाविनी स्थिति-उद्‌वर्तना की व्याख्या करते हैं—

सत्ता में रही हुई स्थिति की अपेक्षा अधिक नवीन स्थिति के कर्मबंध करने को व्याघात कहते हैं। उस समय आवलिका का असंख्यातवाँ भाग अतीत्थापना है और वह बढ़ते पूर्ण आवलिका प्रमाण होती है। तात्पर्य इस प्रकार है—

सत्ता में विद्यमान स्थिति की अपेक्षा समय, दो समय आदि द्वारा अधिक कर्म का जो नवीन बंध होता है, उसे यहाँ व्याघात कहा गया है। उस समय अतीत्थापना जघन्य से आवलिका का असंख्यातवां भाग होती है। वह इस प्रकार—सत्तागत स्थिति से समय मात्र अधिक कर्म का नवीन स्थितिबंध हो तब पूर्व की सत्तागत स्थिति में के चरमस्थितिस्थान की उद्‌वर्तना नहीं होती है, द्विचरम-उपान्त्य स्थिति की उद्‌वर्तना नहीं होती है। इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तागत स्थिति के अंतिम स्थान से लेकर आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थान की उद्‌वर्तना नहीं होती है। इसी तरह सत्तागत स्थिति से दो समय अधिक कर्म का नवीन बंध हो, तीन समय अधिक बंध हो, यावत् सत्तागत स्थिति से आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक नवीन कर्म का स्थितिबंध हो, वहाँ तक भी सत्ता में रहे हुए स्थिति के चरम आदि स्थानों की उद्‌वर्तना नहीं होती है, परन्तु जब आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नवीन कर्म का स्थितिबंध हो, तब सत्ता में रही हुई स्थिति में की चरमस्थिति की उद्‌वर्तना होती है और उस चरम स्थान की उद्‌-वर्तना करके उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान से आवलिका के पहला असंख्यातवाँ भाग को उलांघकर दूसरे असंख्यातवें भाग में निक्षेप होता है। इस समय आवलिका का असंख्यातवां भाग प्रमाण जघन्य निक्षेप और उतनी ही जघन्य अतीत्थापना घटित होती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में रही हुई स्थिति से जब तक आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नवीन स्थिति का बंध न हो, तब तक तो व्याघात नहीं होता है। उस समय जिस रीति से उद्‌वर्तना और निक्षेप होता है, उसी प्रकार यहाँ—व्याघात में भी उद्‌वर्तना और निक्षेप होता है। व्याघात न हो तब यानि सत्ता में रही हुई स्थिति के समान स्थिति जब बंधे, तब सत्ता में रही स्थिति में के चरमस्थितिस्थान[1] की उद्‌वर्तना नहीं होती है, द्विचरमस्थान की उद्‌वर्तना नहीं होती है, यावत् आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे हुए स्थितिस्थान की उद्‌वर्तना नहीं होती है, परन्तु उसके नीचे के स्थान की उद्‌वर्तना होती है, और उसके दलिक को ऊपर के स्थितिस्थान आवलिका छोडकर आवलिका के अंतिम असंख्यातवें भाग

१ एक साथ जितनी स्थिति बंधे उसे बध्यमान स्थितिस्थान और एक साथ भोगनेयोग्य हुई दलिकरचना को सत्तागत स्थितिस्थान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रक्षिप्त किया जाता है। उसी प्रकार सत्तागत स्थिति से जब तक आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक बंध न हो, तब तक भी सत्तागत स्थिति में के चरम, द्विचरम यावत् आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग में रही हुई किसी स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है, परन्तु उसके नीचे के स्थान की उद्वर्तना होती है। और उसके दलिक को उसके ऊपर के स्थितिस्थान से आवलिका छोड़ ऊपर के जितने स्थान हों उन सब में प्रक्षेप होता है। यहां मात्र निक्षेप की ही वृद्धि हुई, क्योंकि यहाँ निक्षेप लगभग आवलिका के तीन असंख्यातवें भाग प्रमाण हुआ।

जब सत्तागत स्थिति से बराबर आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक स्थितिबंध हो तब सत्तागत स्थिति में के चरम स्थिति-स्थान की उद्वर्तना होती है। उस समय सत्तागत स्थिति से आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक स्थितिबंध हुआ, यानि आवलिका का एक पहला असंख्यातवां भाग अतीत्थापना[1] और आवलिका का दूसरा असंख्यातवां भाग निक्षेप होता है। अर्थात् सबसे कम निक्षेप और अतीत्थापना इस तरह और इतनी ही होती है। उद्वर्तना में इससे कम निक्षेप और अतीत्थापना नहीं होती है। जब समयाधिक आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नवीन कर्म का बंध होता है, तब चरम स्थान के दलिक को उसके ऊपर के स्थान से समयाधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग को उलांघने के बाद अंतिम आवलिका के असंख्यातवें भाग में निक्षिप्त किया जाता है। यहाँ निक्षेप के स्थान तो उतने ही रहेंगे मात्र अतीत्थापना समय प्रमाण बढ़ी।

१ जितनी स्थिति को उलांघकर उद्वर्तित किये जाते स्थान के दलिक प्रक्षिप्त किये जाते हैं, वह उलांघने योग्य स्थिति अतीत्थापना कहलाती है और जितने स्थान में प्रक्षिप्त होते हैं, उन्हें निक्षेप स्थान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से नवीन कर्म का बंध समयादि बढ़ने पर अतीत्थापना बढती है और वह वहां तक बढ़ती है कि एक आवलिका पूर्ण हो। जब तक अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण न हो तब तक निक्षेप आवलिका का असंख्यातवां भाग ही रहता है। जैसे कि सत्तागत स्थिति से असंख्यातवें भागाधिक आवलिका अधिक अभिनव–नवीन स्थिति का बंध होता है तब सत्तागत स्थितियों के चरम स्थान के दलिकों का उसके ऊपर के स्थान से पूर्ण एक आवलिका को उलांघकर ऊपर के अंतिम आवलिका के असंख्यातवें भाग में निक्षेप होता है, इस समय पूरी एक आवलिका अतीत्थापना और आवलिका के एक असंख्यातवें भाग प्रमाण निक्षेप के स्थान हैं, उसके बाद जैसे-जैसे सत्तागत स्थिति से अभिनव कर्म का स्थितिबंध बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे निक्षेप में वृद्धि होती जाती है और अतीत्थापना एक आवलिका ही रहती है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह हुआ कि जब सत्ता में रही हुई स्थिति की अपेक्षा अभिनव—नवीन स्थितिबंध आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक होता है तब सत्ता में रही स्थिति में की चरम स्थिति—स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है और उद्वर्तना करके उस चरम स्थिति के दलिक को आवलिका के पहले असंख्यातवें भाग को उलांघकर दूसरे असंख्यातवें भाग में प्रक्षेप किया जाता है। सत्तागत स्थिति के चरम समय में फल देने के लिये नियत हुए दलिक को उसके बाद से आवलिका का असंख्यातवें भाग जाने के अनन्तर आवलिका के अंतिम असंख्यातवें भाग में फल देने के लिये नियत हुए दलिकों के साथ फल दे, ऐसा किया जाता है। आवलिका का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण यह अतीत्थापना और आवलिका का असंख्यातवां भाग प्रमाण निक्षेप यह जघन्य है। तत्पश्चात अभिनव स्थितिबंध में समयादिक द्वारा वृद्धि होने पर अतीत्थापना बढ़ती है और वह वहाँ तक बढ़ती है यावत् एक आवलिका पूर्ण हो। अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण होने तक निक्षेप आवलिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का असंख्यातवां भाग ही रहता है और आवलिका पूर्ण होने पर निक्षेप बढ़ता है।

तीसरी गाथा के दूसरे पद में आगत 'इति' शब्द उद्वर्तना की वक्तव्यता की समाप्ति का सूचक है। जिसका यह अर्थ है कि जब तक नवीन स्थितिबंध पहले से सत्ता में रही हुई स्थिति से आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नहीं होता है, तब तक पहले से सत्ता में रही हुई स्थिति में की चरम स्थितिस्थान से एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति की उद्वर्तना नहीं की जाती है। उससे नीचे की स्थिति की ही जीवस्वभाव से उद्वर्तना होती है। उसमें भी जब असंख्यातवें भाग अधिक आवलिका को उलांघकर नीचे के स्थान की उद्वर्तना होती है तब उसके ऊपर के स्थान से आवलिका को उलांघकर ऊपर के आवलिका के असंख्यातवें भाग में निक्षेप किया जाता है[1] और उससे नीचे की दूसरी स्थिति की उद्वर्तना की जाती है तब समयाधिक असंख्यातवें भाग में निक्षेप किया जाता है।

---

१ इस समय निक्षेप की विषयरूप स्थिति आवलिका के दो असंख्यातवें भाग और तीसरा अपूर्ण असंख्यातवां भाग होना चाहिए। क्योंकि सत्तागत स्थिति के चरम स्थान से लेकर आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग के नीचे के स्थान की उद्वर्तना की जाती है और नवीन स्थितिबंध सत्तागत स्थिति से कुछ न्यून आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक है, जिससे यहाँ जिस स्थान की उद्वर्तना होती है, उसके ऊपर के स्थान से अतीत्थापना-आवलिका का उल्लंघन करने पर निक्षेप की विषयरूप स्थिति आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक है। जिससे यहाँ जिस स्थान की उद्वर्तना होती है, उसके ऊपर के स्थान से अतीत्थापनावलिका को उलांघने पर निक्षेप की विषय रूप स्थिति आवलिका से दो असंख्यातवें भाग और तीसरा अपूर्ण असंख्यातवां भाग संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जैसा निर्व्याघतभाविनी उद्वर्तना में कहा है, वैसा ही समझना चाहिये ।[1]

अब अतीत्थापना, निक्षेप आदि के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप अल्प है लेकिन स्वस्थान में दोनों तुल्य हैं। क्योंकि दोनों व्याघात में आवलिका के असंख्यातवें भाग हैं। उनसे उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यातगुण है, क्योंकि वह उत्कृष्ट अबाधाप्रमाण है। उससे उत्कृष्ट निक्षेप असंख्यात गुण है, क्योंकि वह समयाधिक आवलिका और अबाधाहीन संपूर्ण कर्म स्थिति प्रमाण है। उससे संपूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका और अबाधा सहित है।

इस प्रकार से स्थिति-उद्वर्तना का निरूपण जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त स्थिति-अपवर्तना का विचार करते हैं। उद्वर्तना की तरह इसके भी निर्व्याघात और व्याघात के दो प्रकार हैं। उनमें से प्रथम निर्व्याघातभाविनी स्थिति-अपवर्तना का निरूपण करते हैं।

निर्व्याघातभाविनी स्थिति-अपवर्तना

ओव्वट्टन्तो य ठिंति उदयावलिबाहिरा ठिईठाणा।
निक्खिवइ से तिभागे समयहिगे लंघिउं सेसं ॥९॥

शब्दार्थ—**ओव्वट्टन्तो**—अपवर्तना करते हुए, **य**—और, **ठिंति**—स्थिति, **उदयावलिबाहिरा**—उदयावलिका से बाहर के, **ठिईठाणा**—स्थितिस्थान, **निक्खिवइ**—निक्षिप्त किये जाते हैं, **से**—अपने, **तिभागे**—तीसरे भाग में, **समयहिगे**—समयाधिक, **लंघिउं**—उल्लंघन करके, **सेसं**—शेष।

गाथार्थ—स्थिति की अपवर्तना करते हुए उदयावलिका से बाहर के स्थानों की अपवर्तना की जाती है और शेष स्थानों

१ असत्कल्पना से स्थिति-उद्वर्तना का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उल्लंघन करके अपने समयाधिक तीसरे भाग में निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—स्थिति की अपवर्तना करता हुआ जीव उदयावलिका से बाहर के स्थितिस्थानों की अपवर्तना करता है किन्तु सकलकरण के अयोग्य होने के कारण उदयावलिकागत स्थानों की अपवर्तना नहीं होती है।

जिस स्थान की अपवर्तना की जाती है, उसके दलिक शेष समय न्यून दो तृतीयांश भाग प्रमाण स्थानों को उलांघकर समयाधिक आवलिका के तीसरे भाग में निक्षिप्त किये जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उदयावलिका से ऊपर की समय मात्र स्थिति की अपवर्तना होने पर उसके दलिक को उदयावलिका के ऊपर के समय न्यून दो तृतीयांश स्थानों का उल्लंघन कर नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में निक्षिप्त किया जाता है। यह जघन्यनिक्षेप और जघन्य अतीत्थापना है।

इसको असत्कल्पना से इस प्रकार समझा जा सकता है कि उदयावलिका का प्रमाण नौ समय माना जाये तो उदयावलिका के ऊपर के स्थान के दलिक को उदयावलिका के अंतिम पांच समय को उलांघकर नीचे के उदय समय से लेकर चार समय में निक्षिप्त किये जाते हैं। क्योंकि दो भाग के छह समय होते हैं और उनमें एक समय न्यून लेना है, जिससे वे पाँच समय प्रमाण हुए। उतनी अतीत्थापना हुई और निक्षेप समयाधिक तीसरा भाग है, उसके चार समय होते है, जिससे उतने में निक्षेप होता है और वह जघन्य निक्षेप है।

जिस समय उदयावलिका से ऊपर के दूसरे स्थितिस्थान की अपवर्तना की जाती है तब पहले जो अतीत्थापना कही है, वह समयाधिक होती है और निक्षेप उतना ही रहता है। जब उदयावलिका से ऊपर के तीसरे स्थितिस्थान की अपवर्तना होती है तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीत्थापना दो समय से अधिक होती है और निक्षेप उतना ही रहता है। इस प्रकार से अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण न हो वहाँ तक अतीत्थापना बढ़ती है और उसके बाद निक्षेप में वृद्धि होती है।

अब इसी आशय को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

उदयावलि उवरित्था एमेवोवट्टए ठिइट्ठाणा।

जावावलियतिभागो समयाहिगो सेसठितिणं तु ॥१०॥

शब्दार्थ—**उदयावलि उवरित्था**—उदयावलिका से ऊपर के, **एमेवोवट्टए**—इसी प्रकार से अपवर्तना होती है, **ठिइट्ठाणा**—स्थितिस्थान, **जावावलियतिभागो**—यावत् आवलिका के तीसरे भाग, **समयाहिगो**—समय अधिक, **सेसठितिणं**—शेष स्थिति निक्षेप विषय का, **तु**—और।

गाथार्थ—अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण होने तक उदयावलिका से ऊपर के स्थितिस्थानों की अपवर्तना इसी प्रकार से (ऊपर कहे अनुसार) होती है और इस अतीत्थापना की आवलिका जब तक पूर्ण न हो तब तक निक्षेप विषयक स्थिति समयाधिक तीसरा भाग ही रहती है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त रीति से उदयावलिका से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थानों की तब तक अपवर्तना होती है यावत् अतीत्थापनावलिका पूर्ण हो। जब तक अतीत्थापनावलिका पूर्ण न हो तब तक निक्षेप के विषय रूप स्थितिस्थान समयाधिक आवलिका का तीसरे भाग ही रहते हैं। किन्तु अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण होने के बाद अतीत्थापना आवलिका मात्र ही रहती है और निक्षेप के विषयरूप स्थितिस्थान बढ़ते हैं और वे निक्षेप के विषयरूप स्थितिस्थान अतीत्थापनावलिका से रहित संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण हैं।

इस प्रकार से स्थिति-अपवर्तना की विधि का कथन करने के पश्चात अब अपवर्तना के सामान्य नियम का निर्देश करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवर्तना का सामान्य नियम

इच्छोवट्टणठिइठाणगाउ उल्लंघिऊण आवलियं।
निक्खिवइ तद्दलियं अह ठितिठाणेसु सव्वेसु ॥११॥

शब्दार्थ—**इच्छोवट्टणठिइठाणगाउ**—इष्ट अपवर्तनीय स्थितिस्थान से, **उल्लंघिऊण**—उलांघकर, **आवलियं**—आवलिका को, **निक्खिवइ**—निक्षिप्त किया जाता है, **तद्दलियं**—उसके दलिक को, **अह**—अथ—अब, **ठितिठाणेसु**—स्थितिस्थानों में, **सव्वेसु**—सब।

गाथार्थ—इष्ट अपवर्तनीय स्थितिस्थान से आवलिका को उलांघकर उसके दलिक का सब स्थितिस्थानों में निक्षिप्त किया जाता है।

विशेषार्थ—जिस-जिस स्थान की अपवर्तना करना इष्ट हो, अर्थात् जीव जिस-जिस स्थितिस्थान की अपवर्तना करता है उसके दलिक को उसके नीचे के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघकर नीचे रहे समस्त स्थानों में निक्षिप्त करता है। इस प्रकार होने से जब सत्ता में रही हुई स्थिति में के अंतिम स्थिति-स्थान की अपवर्तना करता है तब उसके दलिक को उसके नीचे के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघकर नीचे रहे हुए समस्त स्थितिस्थानों में निक्षिप्त कर सकता है। जिस समय कर्म बंधता है, उस समय से एक आवलिका जाने के बाद उसकी अपवर्तना करता है, इसलिये बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद समयाधिक अतीत्थापनावलिका रहित सम्पूर्ण कर्मस्थिति उत्कृष्ट निक्षेप की विषय रूप है। तथा—

उदयावलिउवरित्थं ठाणं अहिकिच्च होइ अइहीणो।
निक्खेवो सव्वोवरिठिइठाणवसा भवे परमो ॥१२॥

शब्दार्थ—**उदयावलिउवरित्थं**—उदयावलिका से ऊपर रहे, **ठाणं**—स्थान, **अहिकिच्च**—अधिकृत करके, **होइ**—होता है, **अइहीणो**—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिहीन जघन्य, **निक्खेवो**—निक्षेप, **सव्वोवरिठिइठाणवसा**—सर्वोपरितन स्थितिस्थान की अपेक्षा, **भवे**—होता है, **परमो**—उत्कृष्ट।

गाथार्थ—उदयावलिका से ऊपर रहे हुए स्थान को अधिकृत करके अति जघन्य निक्षेप है और सर्वोपरितन स्थितिस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट निक्षेप होता है।

विशेषार्थ—जब उदयावलिका से ऊपर की स्थिति की अपवर्तना होती है तब उस अपवर्तनीय स्थान की अपेक्षा समयाधिक आवलिका का एक तृतीयांश भाग रूप जघन्य निक्षेप संभव है। क्योंकि उदयावलिका से ऊपर की स्थिति की अपवर्तना होती है तब उसके दलिक को समय न्यून आवलिका के एक तृतीयांश भाग में प्रक्षिप्त किया जाता है और जब सत्तागत स्थिति में की ऊपर की अंतिम स्थिति की अपवर्तना होती है तब उस स्थिति स्थितिस्थान की अपेक्षा यथोक्त रूप उत्कृष्ट निक्षेप संभव है। क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति का बंध करके बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद उसकी अपवर्तना हो सकती है। बंधावलिका के बीतने के बाद आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। उसमें की जब अंतिम स्थिति की अपवर्तना होती है तब उसके दलिकों का अपवर्त्यमान स्थिति-स्थान से नीचे के स्थितिस्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को छोड़ नीचे के समस्त स्थानों में निक्षिप्त किया जाता है। इस प्रकार से अंतिम स्थितिस्थान की अपेक्षा समयाधिक दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट निक्षेप संभव है।

इस प्रकार से जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का कथन करने के बाद अब यह बताते हैं कि कितनी स्थितियां निक्षेप की विषय रूप हैं और कितनी स्थितियां अपवर्तनीय होती हैं।

निक्षेप और अपवर्तना की विषयभूत स्थितियां—

समयाहियइत्थवणा बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो।
कम्मट्ठिइ बंधोदयआवलिया मोत्तु ओवट्टे ॥ १३॥

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**समयाहियइत्थवणा**—समयाधिक अतीत्थापनावलिका, **बंधावलिया**—बंधावलिका, **य**—और, **मोत्तु**—छोड़कर, **निक्खेवो**—निक्षेप, **कम्मट्ठिइ**—कर्मस्थिति, **बंधोदयआवलिया**—बंधावलिका और उदयावलिका, **मोत्तु**—छोड़कर, **ओवट्टे**—अपवर्तना होती है।

गाथार्थ—समयाधिक अतीत्थापनावलिका और बंधावलिका को छोड़कर शेष स्थिति निक्षेप रूप है तथा बंधावलिका एवं उदयावलिका छोड़ शेष स्थिति की अपवर्तना होती है।

विशेषार्थ—अपवर्तना के विषय में समयाधिक अतीत्थापनावलिका और बंधावलिका प्रमाण स्थितियों को छोड़कर शेष समस्त स्थितियाँ निक्षेप की विषय-रूप हैं। अर्थात् शेष सभी स्थितियों में दलिक निक्षेप किया जाता है। क्योंकि प्रतिसमय बंध रहा कर्म बंधावलिका के बीतने के बाद करण योग्य होता है किन्तु जब तक बंधावलिका न बीती हो तब तक किसी भी करण के योग्य नहीं होता है तथा जिस स्थान की अपवर्तना की जाती है, उसके दलिक को उसी में निक्षिप्त नहीं किया जाता है किन्तु उससे नीचे के स्थिति-स्थान से एक आवलिका प्रमाण स्थानों को छोड़ नीचे के समस्त स्थानों में निक्षिप्त किया जाता है। इसलिये बंधावलिका और समयाधिक अतीत्थापनावलिका को छोड़ शेष समस्त स्थितियाँ निक्षेप की विषय रूप है तथा—

बंधावलिका और उदयावलिका को छोड़कर शेष समस्त कर्म-स्थिति की अपवर्तना की जा सकती है। क्योंकि बंधावलिका के जाने के बाद बद्धस्थिति अपवर्तित होती है और वह भी उदयावलिका से ऊपर रही हुई स्थिति अपवर्तित होती है, उदयावलिका के अन्तर्गत रही हुई स्थिति अपवर्तित नहीं होती है। इसलिये बंधावलिका तथा उदयावलिकाहीन सम्पूर्ण कर्म स्थिति ये अपवर्तना की विषय रूप है।

इस प्रकार से व्याघात के अभाव में होने वाली अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब व्याघात भाविनी अपवर्तना की विधि का निरूपण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याघातभाविनी अपवर्तना—

निव्वाघाए एवं ठिइघातो एत्थ होइ वाघाओ।
वाघाए समऊणं कंडगमइत्थावणा होई ॥१४॥

शब्दार्थ—**निव्वाघाए एवं**—निर्व्याघातभाविनी का पूर्वोक्त प्रकार से, **ठिइघातो**—स्थितिघात, **एत्थ**—यहाँ, **होइ**—है, **वाघाओ**—व्याघात, **वाघाए**—व्याघात में, **समऊणं**—समयन्यून, **कंडगमइत्थावणा**—कंडक प्रमाण स्थिति अतीत्थापना, **होई**—होती है।

गाथार्थ—निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना का स्वरूप पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिये। यहाँ व्याघात स्थितिघात को कहते हैं। व्याघात में समयन्यून कंडकप्रमाण स्थिति अतीत्थापना है।

विशेषार्थ—पूर्व में जो अपवर्तना की व्याख्या की है, वह व्याघात के अभाव में होने वाली अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब व्याघातभाविनी अपवर्तना का स्वरूप बतलाते हैं कि—

व्याघात में अपवर्तना अन्य रीति से होती है। स्थिति के घात को व्याघात कहते हैं। जब वह व्याघात प्राप्त होता है, यानि कि स्थितिघात होता है तब समयन्यून कंडकप्रमाण स्थिति अतीत्थापना होती है।

यहाँ समयन्यून इसलिये कहा है कि ऊपर की समय मात्र स्थिति की अपवर्तना होती है तब अपवर्तित होते उस स्थितिस्थान के साथ नीचे से कंडक प्रमाण स्थिति अतिक्रमित होती है। इसलिये अपवर्तित होते उस समय के बिना कंडक प्रमाण स्थिति अतीत्थापना होती है।

इस प्रकार से व्याघातभाविनी अपवर्तना में अतीत्थापना का प्रमाण जानना चाहिये। अब इसी प्रसंग में आये कंडक का स्वरूप और उसका प्रमाण बतलाते हैं।

कंडक निरूपण

उक्कोसं डायट्ठिई किंचूणा कंडगं जहण्णं तु।
पल्लासंखंसं डायट्ठिई उ जतो परमबंधो ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **डायट्ठिई**—डायस्थिति, **किंचूणा**—कुछ न्यून, **कंडगं**—कंडक, **जहण्णं**—जघन्य, **तु**—और, **पल्लासंखंसं**—पल्योपम का असंख्यातवां भाग, **डायट्ठिई**—डायस्थिति, **उ**—और, **जतो**—जिससे, **परमबंधो**—उत्कृष्ट बंध।

गाथार्थ—कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ न्यून उत्कृष्ट स्थिति रूप डायस्थिति है और जघन्य प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। जिस स्थिति से उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है उससे लेकर उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त सभी डायस्थिति कहलाती है।

विशेषार्थ—जिस स्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थितिबंध होता है उस स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति तक की समस्त स्थिति डायस्थिति कहलाती है और वह कुछ न्यून उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण है। क्योंकि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अन्त:कोडाकोडी प्रमाण स्थिति बंध करके अनन्तर समय में उत्कृष्ट संक्लेश के कारण उत्कृष्ट स्थिति-बंध करता है। अर्थात् अन्त:कोडाकोडी से लेकर उत्कृष्ट स्थिति-बंध तक की समस्त स्थिति डायस्थिति कहलाती है और वह डाय-स्थिति अन्त:कोडाकोडी न्यून उत्कृष्ट प्रमाण होने से कुछ न्यून उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण होती है यह डायस्थिति[1] कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण है।

व्याघात में यह समयन्यून कंडक प्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्थापना है और व्याघात कहते हैं स्थितिघात को। यह व्याघात प्राप्त होता है तब ऊपर के स्थान के दलिक को अपवर्तित होती स्थिति के साथ उक्त स्वरूप वाले कंडक प्रमाण स्थितिस्थानों को

---

१. यहाँ किंचूणा पद उत्कृष्ट स्थिति का विशेषण बताया है जिससे डाय-स्थिति को कुछ न्यून कर्मस्थिति प्रमाण यानि अंत:कोडाकोडी न्यून उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण कहा है और कर्म प्रकृति में इसी पद को डाय-स्थिति का विशेषण माना है जिससे कुछ न्यून डायस्थिति कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण कहा है। इस अंतर को विज्ञजन स्पष्ट करने की कृपा करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उलांघकर अन्तःकोडाकोडी में निक्षिप्त किया जाता है। इसलिये समयन्यून कंडक प्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्थापना बताई है।

यह उत्कृष्ट कंडक समय मात्र न्यून भी कंडक कहलाता है, जिसको इतनी स्थिति की सत्ता होती है। इसी प्रकार दो समय-न्यून, तीन समय न्यून भी कंडक कहलाता है। इस प्रकार न्यून-न्यून होते-होते पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण भी कंडक कहलाता है और वह जघन्य कंडक है।

पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति व्याघात में जघन्य अतीत्थापना है।

अब अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

अपवर्तना में जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका का तीसरा भाग प्रमाण है। उससे जघन्य अतीत्थापना तीन समयन्यून दुगनी है। उससे तीन समयन्यून दुगुनी होने का कारण यह है कि व्याघात रहित जघन्य अतीत्थापना समयन्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग प्रमाण है। जिसका संकेत पूर्व में किया जा चुका है। जिसको असत्कल्पना से इस प्रकार समझें कि आवलिका नौ समय प्रमाण है तो समयन्यून दो तृतीयांश भाग पाँच समय प्रमाण होता है, इतनी जघन्य अतीत्थापना है। जघन्य निक्षेप समयाधिक आवलिका का एक तृतीयांश भाग है और यह समयाधिक एक तृतीयांश भाग असत्कल्पना से चार समय प्रमाण होता है। उस जघन्य निक्षेप को दुगुना करके उसमें से तीन न्यून करें तो पाँच समय रहते हैं जो कि अतीत्थापना का जघन्य प्रमाण है। इसीलिये यह कहा है कि जघन्य निक्षेप से जघन्य अतीत्थापना तीन समय से न्यून दुगुनी है। उससे व्याघात बिना की उत्कृष्ट अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह पूर्ण एक आवलिका प्रमाण है। उससे व्याघात में उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुण है। क्योंकि वह उत्कृष्ट डाय-स्थिति प्रमाण है। उससे उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। क्योंकि वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयाधिक दो आवलिकान्यून संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण है और उससे संपूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है। क्योंकि उत्कृष्ट निक्षेप में जो न्यून कहा है, वह इसमें मिल जाता है।

अब उद्वर्तना और अपवर्तना दोनों के सम्मिलित अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

उद्वर्तना में व्याघातविषयक जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप सर्वस्तोक है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। क्योंकि दोनों आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। उससे अपवर्तना में जघन्य निक्षेप असंख्यात गुण है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका के तीसरे भाग प्रमाण है और आवलिका के असंख्यातवें भाग से समयाधिक तीसरा भाग असंख्यात गुण होता है। उससे अपवर्तना में जघन्य अतीत्थापना तीन समय न्यून द्विगुण है। इसका कारण पूर्व में बताया जा चुका है। उससे अपवर्तना में ही निर्व्याघात उत्कृष्ट अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह पूर्ण आवलिका प्रमाण है। उससे उद्वर्तना में उत्कृष्ट अतीत्थापना संख्यातगुण है। क्योंकि वह उत्कृष्ट अबाधा रूप है। उससे अपवर्तना में व्याघात विषयक उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुण है। इसका कारण यह है कि वह उत्कृष्ट डायस्थिति प्रमाण है। उससे उद्वर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है और उससे अपवर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। उससे सम्पूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है।

इस प्रकार से स्थिति-अपवर्तना का वर्णन समाप्त हुआ। अब अनुभाग की उद्वर्तना-अपवर्तना का कथन क्रम प्राप्त है। व्याघात और निर्व्याघात के भेद से इनके भी दो प्रकार हैं। उन दोनों में से पहले निर्व्याघातभाविनी अनुभाग-उद्वर्तना का विचार करते हैं।

निर्व्याघातिनी अनुभाग उद्वर्तना

चरिमं नोवट्टिज्जइ जाव अणंताणि फडड्गाणि तओ।
उस्सक्किय उव्वट्टइ उदया ओवट्टणा एवं ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**चरिमं**—चरम स्पर्धक, **नोवट्टिज्जइ**—उद्वर्तना नहीं होती, **जाव**—यावत्, **अणंताणि**—अनन्त, **फड्डगाणि**—स्पर्धक, **तओ**—उससे, **उस्सक्किय**—नीचे उतरकर, **उव्वट्टइ**—उद्वर्तना होती है, **उदया**—उदय समय से, **ओवट्टणा**—अपवर्तना, **एवं**—इसी प्रकार।

गाथार्थ—चरम स्पर्धक की उद्वर्तना नहीं होती, यावत् अनन्त स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं होती, किन्तु नीचे उतरकर समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक की उद्वर्तना होती है। उदय समय से लेकर अनुभाग की अपवर्तना स्थिति-अपवर्तना के समान होती है।

विशेषार्थ—चरम अनुभाग स्पर्धक की, द्विचरम स्पर्धक की, त्रिचरम स्पर्धक की उद्वलना नहीं होती है। इस प्रकार चरम स्पर्धक से लेकर यावत् अनन्त स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं होती है। यानि सत्ता जितनी स्थिति का बंध होता हो तब, या सत्ता से अधिक स्थिति का बंध होता हो तब जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उस स्थितिस्थान में रहे हुए रसस्पर्धकों—दलिकों के रस की भी उद्वर्तना होती है तथा उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिकों का जहाँ निक्षेप होता है, उसमें उद्वर्त्यमान रस स्पर्धकों का भी निक्षेप होता है। अर्थात् उसके समान रस वाले होते हैं। इस नियम के अनुसार जैसे स्थिति की उद्वर्तना में व्याघात के अभाव में ऊपर के स्थान से आवलिका के असंख्यातवें भाग और आवलिका प्रमाण स्थानों की उद्वर्तना नहीं होती, उसी प्रकार उतने स्थितिस्थानों में के दलिक के रस स्पर्धकों की भी उद्वर्तना नहीं होती है।

तात्पर्य यह कि सर्वोपरितन आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति रूप जो निक्षेप है उसका तथा उसके नीचे के अतीत्थापनावलिका प्रमाण जो स्थितिस्थान हैं, उनके रसस्पर्धक की उद्वर्तना तथास्वभाव से जीव द्वारा नहीं की जाती है। परन्तु उसके नीचे के समय मात्र स्थितिगत जो स्पर्धक हैं, उनकी उद्वर्तना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है और अतीत्थापनावलिका गत अनन्त स्पर्धकों को उलांघकर ऊपर के अन्तिम आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे स्पर्धकों में निक्षेप होता है। यानि उद्वर्त्यमान रसस्पर्धक निक्षेप के स्पर्धकों के समान रसवाले हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे नीचे उतरना होता है, वैसे-वैसे निक्षेप बढ़ता है और अतीत्थापना सर्वत्र आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानगत स्पर्धक ही रहते हैं। इस प्रकार जिस-जिस स्थानगत रसस्पर्धकों की उद्वर्तना होती है उसे उसके ऊपर के स्थितिस्थानगत स्पर्धक से लेकर आवलिका प्रमाण स्थानगत स्पर्धकों को उलांघकर ऊपर के स्थान में निक्षिप्त किया जाता है, यानि कि उनके समान रस वाला किया जाता है।

इस प्रकार से व्याघात के अभाव में जिन स्थितियों की उद्वर्तना होती है उनके रसस्पर्धकों की भी उद्वर्तना होती है और उद्वर्त्यमान दलिक जहाँ निक्षिप्त किये जाते हैं, रसस्पर्धकों का भी वहीं निक्षेप किया जाता है। अर्थात् उनके समान रस वाला किया जाता है।

इसी प्रकार व्याघातभाविनी अनुभाग-उद्वर्तना में भी समझना चाहिये।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि उत्कृष्ट निक्षेप कितना है।

बंधावलिका के बीतने के बाद समयाधिक आवलिकागत स्पर्धकों को छोड़कर शेष समस्त स्पर्धक निक्षेप के विषय रूप हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये कि जिस स्थितिस्थान में के स्पर्धकों की उद्वर्तना होती है उस स्थान में के स्पर्धकों का उसी स्थान में ही निक्षेप नहीं होता है, इस कारण उन उद्वर्त्यमान स्थितिस्थानगत स्पर्धकों को, आवलिकामात्रगत स्पर्धक अतीत्थापना हैं, अतः आवलिका प्रमाण स्थानगत स्पर्धकों को तथा बंधावलिका व्यतीत होने के बाद ही करण योग्य होते हैं, जिससे उस बंधावलिका को, इस प्रकार कुल मिलाकर समयाधिक दो आवलिकागत स्पर्धकों को छोड़कर शेष समस्त स्थानगत स्पर्धक निक्षेप के विषयरूप होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब एतद् विषयक अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह मात्र आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे हुए स्पर्धक रूप है। उससे अतीत्थापना अनन्त गुण है। क्योंकि निक्षेप के विषयरूप स्पर्धकों से अतीत्थापनावलिका के विषयरूप स्पर्धक अनन्त गुणे हैं। इसी प्रकार अनुभाग के विषय में सर्वत्र अनन्तगुणत्व स्पर्धक की अपेक्षा समझना चाहिये। उससे उत्कृष्ट निक्षेप अनन्त गुण है और उससे समस्त अनुभाग विशेषाधिक है।

इस प्रकार से अनुभाग-उद्वर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब अतिदेश द्वारा अनुभाग अपवर्तना का वर्णन करते हैं।

अनुभाग-अपवर्तना

जिस प्रकार से ऊपर अनुभाग-उद्वर्तना का स्वरूप कहा है, उसी प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना का स्वरूप भी जानना चाहिये। किन्तु इतना विशेष है कि उदय समय से प्रारंभ करके स्थिति की अपवर्तना के समान उसका वर्णन करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस स्थितिस्थान की अपवर्तना होती है, उसी स्थितिस्थान में के रसस्पर्धकों की भी अपवर्तना होती है और अपवर्त्यमान स्थिति के दलिकों का जिसमें प्रक्षेप किया जाता है रसस्पर्धकों का भी उसी में प्रक्षेप किया जाता है—अपवर्त्यमान रसस्पर्धकों को निक्षेप के स्पर्धकों के तुल्य शक्ति वाला किया जाता है।[1]

१. यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि उद्वर्तना बंधसापेक्ष है, जिससे जितनी स्थिति या रस बंध हो, उसके समान सत्तागत स्थिति और रस को किया जाता है, अधिक नहीं। परन्तु अपवर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है, जिससे अपवर्त्यमान रसस्पर्धकों का जिसमें निक्षेप होता है, उसके समान रस वाले तो होते हैं, परन्तु अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के योग से बंध द्वारा प्राप्त हुए सत्तागत स्पर्धकों से भी अत्यन्त हीन रस वाले होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस स्थितिस्थान में के रसस्पर्धकों की अपवर्तना होती है और उनका निक्षेप कहाँ होता है ? अब यह स्पष्ट करते हैं—

प्रथम स्पर्धक की अपवर्तना नहीं होती, दूसरे स्पर्धक की, तीसरे की यावत् आवलिका मात्र स्थितिगत स्पर्धकों की अपवर्तना नहीं होती परन्तु उनके ऊपर के स्थानगत स्पर्धक की अपवर्तना होती है। उसमें जब उदयावलिका से ऊपर के समयमात्र स्थितिगत स्पर्धक की अपवर्तना होती है तब उसका आवलिका के समय न्यून दो तृतीयांश स्थितिस्थानगत स्पर्धकों को उलांघकर उदयस्थान से लेकर आवलिका के समयाधिक एक तृतीयांश स्थितिस्थानगत स्पर्धकों में निक्षेप होता है। जब उदयावलिका से ऊपर के दूसरे समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक की अपवर्तना होती है तब पूर्वोक्त आवलिका के समय न्यून दो तृतीयांश भाग प्रमाण अतीत्थापना समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक द्वारा अधिक समझना चाहिये और निक्षेप के स्पर्धक तो उतने ही होते हैं। इस प्रकार समय-समय की वृद्धि से अतीत्थापना में वहाँ तक वृद्धि करनी चाहिये यावत् आवलिका पूर्ण हो। तत्पश्चात् अतीत्थापना सर्वत्र आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानगत स्पर्धक रूप ही रहती है और निक्षेप बढ़ता है।

इस प्रकार से निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये।

व्याघात में समयमात्र स्थितिगत स्पर्धक द्वारा न्यून अनुभाग कंडक अतीत्थापना जानना चाहिये। कंडक का प्रमाण और समय-न्यूनता का कारण आदि जैसा पहले स्थिति की अपवर्तना में कहा गया है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

अब पूर्वोक्त कथन को अधिक विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं—

अइत्थावणाइयाओ सण्णाओ दुसुवि पुव्ववुत्ताओ।
किंतु अणंतभिलावेण फड्डगा तासु वत्तव्वा ॥ १७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**अइत्थावणाइयाओ**—अतीत्थापना आदि, **सण्णाओ**—संज्ञायें, **दुसुवि**—दोनों में (उद्‌वर्तना और अपवर्तना में), **पुव्ववुत्ताओ**—पूर्व में कही गई हैं, **किंतु**—लेकिन, **अणंतभिलावेण**—अनन्त अभिलाप से, **फड्डगा**—स्पर्धक, **तासु**—उनमें, **वत्तव्वा**—कहना चाहिये।

गाथार्थ—रस-अनुभाग की उद्‌वर्तना और अपवर्तना इन दोनों में अतीत्थापना आदि संज्ञायें जैसी पूर्व में कही गई हैं, तदनुसार जानना चाहिये किन्तु दोनों में स्पर्धक अनन्ताभिलाप से कहना चाहिये।

विशेषार्थ—अनुभाग की उद्‌वर्तना और अपवर्तना में जघन्य अतीत्थापना, उत्कृष्ट अतीत्थापना तथा आदि शब्द से जघन्य निक्षेप और उत्कृष्ट निक्षेप आदि संज्ञायें पूर्व में कहे गये अनुसार जानना चाहिये। अर्थात् स्थिति की उद्‌वर्तना और अपवर्तना में अतीत्थापना और निक्षेप का जो जघन्य, उत्कृष्ट प्रमाण कहा है, वही प्रमाण यहाँ जानना चाहिये। क्योंकि जिस स्थिति की उद्‌वर्तना या अपवर्तना होती है, उसी स्थानगत रसस्पर्धक की भी उद्‌वर्तना या अपवर्तना होती है। स्थिति की उद्‌वर्तना या अपवर्तना में जिस स्थितिस्थानगत दलिकों का जहाँ निक्षेप होता है, उस स्थानगत रसस्पर्धकों का भी वहीं निक्षेप होता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष है कि निक्षेप और अतीत्थापनादि रूप संज्ञाओं में स्पर्धक अनन्त प्रमाण कहना चाहिये। अर्थात् अनन्त स्पर्धक उनमें होते हैं।[1]

इस प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना का वर्णन करने के पश्चात् अब अनुभागअपवर्तना में अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

---

१. प्रत्येक स्थितिस्थान अनन्त स्पर्धक प्रमाण होता है। जिससे उद्‌वर्तना अनन्त स्पर्धकों की होती है, इसी प्रकार उसका निक्षेप भी अनन्त स्पर्धक में होता है। इसीलिये यहाँ निक्षेप और अतीत्थापना आदि संज्ञाओं में रसस्पर्धकों को अनन्त शब्द द्वारा अभिलाप्य कहा है।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह आवलिका का समयाधिक एक तृतीयांश भाग है। उससे जघन्य अतीत्थापना अनन्त गुण है। अनन्तगुणता का कारण यह है कि वह समयन्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग प्रमाण है। उससे व्याघात में अतीत्थापना अनन्तगुण हैं। क्योंकि वह समयन्यून कंडक प्रमाण है और व्याघात में कंडक का प्रमाण पहले कहा जा चुका है। उससे उत्कृष्ट अनुभाग कंडक विशेषाधिक है। क्योंकि वह अतीत्थापना से एक समय गत स्पर्धक द्वारा अधिक है और उससे उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। उससे सर्व अनुभाग विशेषाधिक है।

इस प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना विषयक अल्पबहुत्व जानना चाहिये। अब उद्वर्तना-अपवर्तना के संयुक्त अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु वि हीणनिक्खेवो।
तुल्लो अणंतगुणिओ दुसु वि अइत्थावणा चेव ॥१८॥
तत्तो वाघायणुभागकंडगं एक्कवग्गणाहीणं।
उक्कोसो निक्खेवो तुल्लो सविसेस संतं च ॥१९॥

शब्दार्थ—**थोवं**—स्तोक—अल्प, **पएसगुणहाणि अंतरे**—प्रदेश की गुण वृद्धि या हानि के अतर में, **दुसु वि**—दोनों मे ही, **हीणनिक्खेवो**—जघन्य निक्षेप, **तुल्लो**—तुल्य, **अणंतगुणिओ**—अनन्तगुण, **दुसु वि**—दोनों में, **अइत्थावणा**—अतीत्थापना, **चेव**—और इसी प्रकार।

तत्तो—उससे, **वाघायणुभागकंडगं**—व्याघात में अनुभागकंडक, **एक्कवग्गणाहीणं**—एक वर्गणाहीन, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **निक्खेवो**—निक्षेप, **तुल्लो**—तुल्य, **सविसेस**—विशेषाधिक, **संतं**—सत्ता, **च**—और।

गाथार्थ—प्रदेश की गुण वृद्धि या हानि के अंतर में रहे हुए स्पर्धक अल्प हैं। उनसे दोनों में—उद्वर्तना-अपवर्तना में जघन्य निक्षेप अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है। उससे दोनों में अतीत्थापना अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससे व्याघात में एक वर्गणाहीन अनुभागकंडक अनन्तगुण है। उससे दोनों में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है, परस्पर तुल्य है और उससे कुल सत्ता विशेषाधिक है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अनुभाग उद्वर्तना-अपवर्तना का संयुक्त अल्पबहुत्व का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक स्थिति—स्थितिस्थान में रही कर्मवर्गणाओं के उत्तरोत्तर बढ़ती रसाणु वाली वर्गणा के क्रम से जितने स्पर्धक हों, उनको क्रमशः इस प्रकार से स्थापित किया जाये कि सर्वजघन्य रस वाला स्पर्धक पहला, दूसरा उससे विशेषाधिक रस वाला, उससे विशेषाधिक रस वाला तीसरा, यावत् सर्वोत्कृष्ट रस वाला अंतिम। उनमें पहले स्पर्धक से लेकर अनुक्रम से आगे-आगे के स्पर्धक प्रदेश की अपेक्षा हीन-हीन होते हैं। क्योंकि अधिक-अधिक रस वाले स्पर्धक तथास्वभाव से हीन-हीन प्रदेश वाले होते हैं और अंतिम स्पर्धक से लेकर पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रदेशापेक्षा विशेषाधिक-विशेषाधिक होते हैं। उनमें द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि के एक अंतर में जिन रसस्पर्धकों का समुदाय होता है, जिसका बाद में कथन किया जायेगा उनकी अपेक्षा अल्प हैं अथवा स्नेहप्रत्यय स्पर्धक के अनुभाग के विषय में प्रदेश की अपेक्षा जो द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि कही है, उस द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि के एक अंतर में जो अनुभाग पटल-रससमूह—समस्त रस होता है, उससे अल्प है। उससे उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों में जघन्य निक्षेप अनन्त गुण हैं और परस्पर में तुल्य है। यद्यपि उवद्‌र्तना में जघन्य निक्षेप आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति में रहे हुए स्पर्धक हैं और अपवर्तना में आवलिका के समयाधिक तीसरे भाग प्रमाण स्थिति में रहे हुए स्पर्धक हैं, तथापि प्रारम्भ की स्थितियों में स्पर्धक अल्प और अंतिम स्थितियों में अधिक होते हैं, इसलिये स्थिति में हीनाधिकपना होने पर भी स्पर्धक की अपेक्षा दोनों में निक्षेप तुल्य है। इसी प्रकार अतीत्था-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पना के विषय में भी तुल्यापना समझ लेना चाहिये। निक्षेप से उद्वर्तना-अपवर्तना इन दोनों में अतीत्थापना[1] अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है। उससे व्याघात में समय मात्र स्थिति में रहे हुए स्पर्धकों का समुदाय रूप एक वर्गणा से हीन[2] अनुभाग कंडक अनन्त गुण है। उससे उद्वर्तना-अपवर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है और परस्पर तुल्य है। उससे पूर्वबद्ध अथवा बध्यमान कुल अनुभाग की सत्ता विशेषाधिक है।[3] क्योंकि वह समयाधिक अतीत्थापना-वलिकागत पूर्वबद्ध स्पर्धकों से और बध्यमान स्पर्धकों से अधिक है।

इस प्रकार के अल्पबहुत्व का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब उद्वर्तना और अपवर्तना के विषय में कालनियम और विषय-नियम का निर्देश करते हैं।

काल और विषय नियम

आबंधं उव्वट्टइ सव्वत्थोवट्टणा ठितिरसाणं।
किट्टिवज्जे उभयं किट्टिसु ओवट्टणा एक्का ॥२०॥

---

१ रसोद्वर्तना में अतीत्थापना आवलिका का असंख्यातवाँ भाग है और रसापवर्तना में समय न्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग हैं, लेकिन उपर्युक्त युक्ति से दोनों में स्पर्धक समान हैं, यह जानना चाहिये।

२ यहाँ एक वर्गणा का अर्थ एक स्थितिस्थान में रहे हुए स्पर्धकों का समूह समझना चाहिये।

३ यहां उत्कृष्ट निक्षेप के विषयभूत अनुभाग से पूर्वबद्ध अथवा बध्यमान अनुभाग को अलग-अलग विशेषाधिक बताया है। परन्तु कर्मप्रकृति उद्वर्तना-अपवर्तना करण गाथा ९ में और उसकी व्याख्या में सत्तागत पूर्वबद्ध अनुभाग और बध्यमान इस तरह दोनों प्रकार के संयुक्त अनुभाग को उत्कृष्ट निक्षेप के विषयभूत अनुभाग से विशेषाधिक बताया है और वही अधिक युक्तिसंगत है। इस अंतर को सुधीजन स्पष्ट करने की कृपा करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**आबंधं**—बंध तक, **उव्वट्टइ**—उद्वर्तना होती है, **सव्वत्थोवट्टणा**—सर्वत्र अपवर्तना, **ठितिरसाणं**—स्थिति और रस की, **किट्टिवज्जे**—किट्टि सिवाय के, **उभयं**—दोनों, **किट्टिसु**—किट्टियों में, **ओवट्टणा**—अपवर्तना, **एक्का**—एक, केवल।

गाथार्थ—बंध तक ही स्थिति और रस की उद्वर्तना होती है, तथा अपवर्तना सर्वत्र होती है। किट्टि सिवाय के दलिक में दोनों होती हैं और किट्टियों में एक केवल अपवर्तना ही होती है।

विशेषार्थ—जब तक जिस कर्म या कर्म प्रकृतियों का बंध होता है, तब तक ही उसकी स्थिति और रस की उद्वर्तना होती है और जिस-जिसका बंधविच्छेद होता है उस-उसकी स्थिति की और रस की उद्वर्तना नहीं होती है तथा स्थिति-रस की अपवर्तना बंध हो या न हो सर्वत्र प्रवर्तित होती है। क्योंकि अपवर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार से काल का नियम जानना चाहिये।

'अथवा आबन्धः' यानि जितनी स्थिति या जितने रस का बंध होता है, सत्तागत उतनी स्थिति की और उतने स्थितिस्थानगत रस स्पर्धक की उद्वर्तना होती है, परन्तु अधिक स्थिति या रस की उद्वर्तना नहीं होती है।[1] अपवर्तना का बंध के साथ संबंध नहीं होने

---

१ जितनी स्थिति या जितना रस बंध हो, तब तक सत्तागत स्थिति और रस बढ़ता है। सत्ता के समान स्थिति या रस बंधे तब और सत्ता से अधिक स्थिति और रस बंध हो तब उद्वर्तना कैसे होती है, यह वर्णन तो ऊपर किया जा चुका है। परन्तु ऐसा हो कि सत्ता से बंध कम हो तब उद्वर्तना होती है या नहीं? और होती है तो कैसे होती है? उदाहरणार्थ दस कोडाकोडी सागरोपम की सत्ता है और बंध पांच कोडाकोडी सागर प्रमाण हो तब किस रीति से उद्वर्तना होती है? यहाँ 'अथवा आबन्धः' कहकर जो बात कही है उससे ऐसा समझ में आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बंधप्रमाण से सत्तागत स्थिति या रस अधिक हो अथवा अल्प हो तो भी अपवर्तना प्रवर्तित होती है तथा जिस कर्मदलिक का रस किट्टि रूप नहीं हुआ है उसमें उद्वर्तना-अपवर्तना दोनों होती हैं। किट्टि रूप हुए रस में मात्र अपवर्तना ही संभव है, उद्वर्तना नहीं होती है।

इस प्रकार से यह सब विषय नियम जानना चाहिए।

उक्त समग्र कथन के साथ उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों करणों का वर्णन समाप्त हुआ। ●

है कि पांच सौ वर्ष प्रमाण अबाधा को छोड़कर पांच सौ वर्ष न्यून पांच कोडाकोडी प्रमाण सत्तागत स्थानों की उद्वर्तना हो सकती है। यानि कि अबाधा से ऊपर के स्थान की उद्वर्तना हो तो उसके दलिक उसके ऊपर के स्थान से आवलिका प्रमाण अतीत्थापना को उलांघकर समयाधिक आवलिका अधिक पांच सौ वर्ष न्यून पांच कोडाकोडी सागरोपम में के स्थानों में निक्षिप्त होंगे। रस की उद्वर्तना भी इसी प्रकार होगी। यानि बंधस्थिति तक ही सत्तागतस्थिति बढ़ती है, सत्तागत रस भी जितना बंधा हो उसके समान होता है। सत्तागतस्थिति और रस बंधती स्थिति या रस से बढ़ नहीं सकता है। क्योंकि उद्वर्तना का सम्बन्ध बंध के साथ है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

संक्रम आदि करणत्रय प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

बज्झंतियासु इयरा ताओवि य संकमंति अन्नोन्नं ।
जा संतयाए चिट्ठहिं बंधाभावेवि दिट्ठीओ ।।१।।

संकमइ जासु दलियं ताओ उ पडिग्गहा समक्खाया ।
जा संकमआवलियं करणासज्झं भवे दलियं ।।२।।

नियनिय दिठ्ठि न केइ दुइयतइज्जा न दंसणतिगंपि ।
मीसंमि न सम्मत्तं दंसकसाया न अन्नोन्नं ।।३।।

संकामंति न आउं उवसंतं तहय मूलपगईओ ।
पगइठाणविभेया संकमणपडिग्गहा दुविहा ।।४।।

खयउवसमदिट्ठीणं सेढीए न चरिमलोभसंकमणं ।
खवियट्ठगस्स इयराइ जं कमा होंति पंचण्हं ।।५।।

मिच्छे खविए मीसस्स नत्थि उभए वि नत्थि सम्मस्स ।
उव्वलिएसु दोसु, पडिग्गहया नत्थि मिच्छस्स ।।६।।

दुसुतिसु आवलियासु समयविहीणासु आइमठिईए ।
सेसासु पुंसंजलणयाण न भवे पडिग्गहया ।।७।।

धुवसंतीणं चउहेह संकमो मिच्छणीयवेयणीए ।
साईअधुवो बंधोव्व होइ तह अधुवसंतीणं ।।८।।

साअणजसदुविहकसाय सेस दोदंसणाण जइपुव्वा ।
संकामगंत कमसो सम्मुच्चाणं पढमदुइया ।।९।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउहा पडिग्गहत्तं धुवबंधिणं विहाय मिच्छत्तं ।
मिच्छाधुवबंधिणं साई अधुवा पडिग्गहया ॥१०॥

संतट्ठाणसमाइं संकमठाणाइं दोण्णि बीयस्स ।
बंधसमा पडिग्गहगा अट्ठहिया दोवि मोहस्स ॥११॥
पन्नरससोलसत्तरअडचउवीसा य संकमे नत्थि ।
अट्ठदुवालससोलसवीसा य पडिग्गहे नत्थि ॥१२॥

संकमण पडिग्गहया पढमतइज्जट्ठमाणचउभेया ।
इगवीसो पडिग्गहगो पणुवीसो संकमो मोहे ॥१३॥

दंसणवरणे नवगो संकमणपडिग्गहा भवे एवं ।
साई अधुवा सेसा संकमणपडिग्गहठाणा ॥१४॥
नवछक्कचउक्केसुं नवगं संकमइ उवसमगयाणं ।
खवगाण चउसु छक्कं दुइए मोहं अओ वोच्छं ॥१५॥
लोभस्स असंकमणा उव्वलणा खवणओ छसत्तण्हं ।
उवसंताण वि दिट्ठीण संकमा संकमा नेया ॥१६॥

आमीसं पणुवीसो इगवीसो मीसगाउ जा पुव्वो ।
मिच्छखवगे दुवीसो मिच्छे य तिसत्तछव्वीसो ॥१७॥

खवगस्स सबंधच्चिय उवसमसेढीए सम्ममीसजुया ।
मिच्छखवगे ससम्मा अट्ठारस इय पडिग्गहया ॥१८॥

दसगट्ठारसगाई चउ चउरो संकमंति पंचंमि ।
सत्तडचउदसिगारसबारसट्ठारा चउक्कमि ॥१९॥

तिन्नि तिगाई सत्तट्ठनवय संकममिगारस तिगम्मि ।
दोसु छडट्ठदुपंच य इगि एक्कं दोण्णि तिण्णि पण ॥२०॥

पणवीसो संसारिसु इगवीसे सत्तरे य संकमइ ।
तेरस चउदस छक्के वीसा छक्के य सत्ते य ॥२१॥

बावीसे गुणवीसे पन्नरसेक्कारसेसु छव्वीसा ।
संकमइ सत्तवीसा मिच्छे तह अविरयाईणं ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बावीसे गुणवीसे पन्नरसेक्कारसे य सत्ते य।
तेवीसा संकमइ मिच्छाविरयाइयाण कमा ॥२३॥

अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु बावीस खीणमिच्छाणं।
सत्तरसतेरनवसत्तगेसु इगवीसं संकमइ ॥२४॥

दसगाइचउक्कं एक्कवीस खवगस्स संकमहि पंचे।
दस चत्तारि चउक्के तिसु तिन्नि दु दोसु एक्केक्कं ॥२५॥

अट्ठाराइचउक्कं पंचे अट्ठार बार एक्कारा।
चउसु इगारसनवअड तिगे दुगे अट्ठछप्पंच ॥२६॥

पण दोन्नि तिन्नि एक्के उवसमसेढीए खइयदिट्ठिस्स।
इयरस्स उ दो दोसु सत्तसु वीसाइ चत्तारि ॥२७॥

छसु वीस चोद्द तेरस तेरेक्कारस य दस य पंचंमि।
दसडसत्त चउक्के तिगंमि सग पंच चउरो य ॥२८॥

गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ ति ति सम्मदेसविरयाणं।
सत्त पणाइ छ पंच उ पडिग्गहगा उभयसेढीसु ॥२९॥

पढमचउक्कं तित्थगरवज्जितं अधुवसंततियजुत्तं।
तिगपणछव्वीसेसु संकमइ पडिग्गहेसु तिसु ॥३०॥

पढमं संतचउक्कं इगतीसे अधुवतियजुयं तं तु।
गुणतीसतीसएसु जसहीणा दो चउक्क जसे ॥३१॥

पढमचउक्कं आइल्लवज्जियं दो अणिच्च आइल्ला।
संकमंहि अट्ठवीसे सामी जहसंभवं नेया ॥३२॥

संकमइ नन्न पगइं पगईओ पगइसंकमे दलियं।
ठिइअणुभागा चेवं ठंति तहट्ठा तयणुरूवं ॥३३॥

दलियरसाणं जुत्तं मुत्तत्ता अन्नभावसंकमणं।
ठिईकालस्स न एवं उउसंकमणं पिव अदुट्ठं ॥३४॥

उवट्टणं च ओवट्टणं च पगतितरम्मि वा नयणं।
बंधे व अबंधे वा जं संकामो इइ ठिईए ॥३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जासिं बंधनिमित्तो उक्कोसो बंध मूलपगईणं ।
ता बंधुक्कोसाओ सेसा पुण संकमुक्कोसा ॥३६॥

बंधुक्कोसाण ठिई मोत्तुं दो आवली उ संकमइ ।
सेसा इयराण पुणो आवलियतिगं पमोत्तूणं ॥३७॥

तित्थयराहाराणं संकमणे बंधसंतएसु पि ।
अंतोकोडाकोडी तहावि ता संकमुक्कोसा ॥३८॥

एवइय संतया जं सम्मद्दिट्ठीण सव्वकम्मेसु ।
आऊणि बंधउक्कोसगाणि जं णण्णसंकमणं ॥३९॥

गंतुं सम्मो मिच्छंतस्सुक्कोसं ठिइं च काऊणं ।
मिच्छियराणुक्कोसं करेति ठितिसंकमं सम्मो ॥४०॥

अंतोमुहुत्तहीणं आवलियदुहीण तेसु सट्ठाणे ।
उक्कोससंकमपहू उक्कोसगबंधगण्णासु ॥४१॥

बंधुक्कोसाणं आवलिए आवलिदुगेण इयराणं ।
हीणा सव्वावि ठिई सो जट्ठिइ संकमो भणिओ ॥४२॥

साबाहा आउठिई आवलिगूणा उ जट्ठिति सट्ठाणे ।
एक्का ठिई जहण्णो अणुदइयाणं निहयसेसा ॥४३॥

जो जो जाणं खवगो जहण्णठितिसंकमस्स सो सामी ।
सेसाणं तु सजोगी अंतमुहुत्तं जओ तस्स ॥४४॥

उदयावलिए छोभो अण्णप्पगईए जो य अंतिमओ ।
सो संकमो जहण्णो तस्स पमाणं इमं होइ ॥४५॥

संजलणलोभनाणंतराय- दंसणचउक्कआऊणं ।
सम्मत्तस्स य समओ सगआवलियातिभागंमि ॥४६॥

खविऊण मिच्छमीसे मणुओ सम्मम्मि खवयसेसम्मि ।
चउगइउ तओ होउं जहण्णठितिसंकमस्सामी ॥४७॥

निद्दादुगस्स साहिय आवलियदुगं तु साहिए तंसे ।
हासाईणं संखेज्ज वच्छरा ते य कोहम्मि ॥४८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुंसंजलणाण ठिई जहन्नया आवलीदुगेणूणा ।
अंतो जोगंतीणं पलियासंखंस इयराणं ॥४९॥

मूलठिईण अजहन्नो सत्तण्ह तिहा चतुव्विहो मोहे ।
सेसविगप्पा साई अधुवा ठितिसंकमे होंति ॥५०॥

तिविहो धुवसंताणं चउव्विहो तह चरित्तमोहीणं ।
अजहन्नो सेसासु दुविहो सेसा वि दुविगप्पा ॥५१॥

ठितिसंकमोव्व तिविहो रसम्मि उव्वट्टणाइ विन्नेओ ।
रसकारणओ नेयं घाइत्तविसेसणभिहाणं ॥५२॥

देसग्घाइरसेणं, पगईओ होंति देसघाईओ ।
इयरेणियरा एमेव, ठाणसन्ना वि नेयव्वा ॥५३॥

सव्वग्घाइ दुठाणो मीसायवमणुयतिरियआऊणं ।
इगदुट्ठाणो सम्मंमि तदियरोण्णासु जह हेट्ठा ॥५४॥

दुट्ठाणो च्चिय जाणं ताणं उक्कोसओ वि सो चेव ।
संकमइ वेयगे वि हु सेसासुक्कोसओ परमो ॥५५॥

एकट्ठाणजहन्नं संकमइ पुरिससम्मसंजलणे ।
इयरासु दोट्ठाणि य जहण्णरससंकमे फड्डं ॥५६॥

बंधिय उक्कोसरसं आवलियाओ परेण संकामे ।
जावंतमुहू मिच्छो असुभाणं सव्वपयडीणं ॥५७॥

आयावुज्जोवोराल पढमसंघयणमणदुगाउणं ।
मिच्छा सम्मा य सामी सेसाणं जोगि सुभियाणं ॥५८॥

खवगस्संतरकरणे अकए घाईण जो उ अणुभागो ।
तस्स अणंतो भागो सुहुमेगिंदिय कए थोवो ॥५९॥

सेसाणं असुभाणं केवलिणो जो उ होई अणुभागो ।
तस्स अणंतो भागो असण्णिपंचेंदिए होइ ॥६०॥

सम्मद्दिट्ठी न हणइ सुभाणुभागं दु चेव दिट्ठीणं ।
सम्मत्तमीसगाणं उक्कोसं हणइ खवगो उ ॥६१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घाईणं जे खवगो जहण्णरससंकमस्स ते सामी ।
आऊण जहण्णठिइ-बंधाओ आवली सेसा ॥६२॥

अणतित्थुव्वलगाणं संभवओ आवलिए परएणं ।
सेसाणं इगिसुहुमो घाइयअणुभागकम्मंसो ॥६३॥

साइयवज्जो अजहण्णसंकमो पढमदुइयचरिमाणं ।
मोहस्स चउविगप्पो आउसणुक्कोसओ चउहा ॥६४॥

साइयवज्जो वेयणियनामगोयाण होइ अणुक्कोसो ।
सव्वेसु सेसभेया साई अधुवा य अणुभागे ॥६५॥
अजहण्णो चउभेओ पढमगसंजलणनोकसायाणं ।
साइयवज्जो सो च्चिय जाणं खवगो खविय मोहो ॥६६॥

सुभधुवचउवीसाए होइ अणुक्कोस साइपरिवज्जो ।
उज्जोयरिसभओरालियाण चउहा दुहा सेसा ॥६७॥

विज्झा-उव्वलण-अहापवत्त-गुण-सव्वसंकमेहि अणू ।
जं नेइ अण्णपगइं पएससंकामणं एयं ॥६८॥

जाण न बंधो जायइ आसज्ज गुणं भवं व पगईणं ।
विज्झाओ ताणंगुलअसंखभागेण अण्णत्थ ॥६९॥

पलियस्ससंखभागं अंतमुहुत्तेण तीए उव्वलइ ।
एवं पलियासंखियभागेणं कुणइ निल्लेवं ॥७०॥

पढमाओ बीअखंडं विसेसहीणं ठिइए अवणेइ ।
एवं जाव दुचरिमं असंखगुणियं तु अंतिमयं ॥७१॥

खंडदलं सट्ठाणे समए समए असंखगुणणाए ।
सेढीए परट्ठाणे विसेसहीणाए संछुभइ ॥७२॥

दुचरिमखंडस्स दलं चरिमे जं देइ सपरट्ठाणंमि ।
तम्माणेणस्स दलं पल्लंगुलसंखभागेहिं ॥७३॥

एवं उव्वलणासंकमेण नासेइ अविरओ आहारं ।
सम्मोऽणमिच्छमीसे छत्तीस नियट्टी जा माया ॥७४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्ममीसाई मिच्छो सुरदुगवेउव्विछक्कमेगिंदी ।
सुहुमतसुच्चमणुदुगं अंतमुहुत्तेण अणिअट्टी ।।७५।।

संसारत्था जीवा सबंधजोगाण तद्दलपमाणा ।
संकामे तणुरूवं अहापवत्तीए तो णाम ।।७६।।

असुभाण पएसग्गं बज्झंतीसु असंखगुणणाए ।
सेढीए अपुव्वाई छुभंति गुणसंकमो एसो ।।७७।।

चरमठिईए रइयं पइसमयमसंखियं पएसग्गं ।
ता छुभइ अन्नपगइं जावंते सव्वसंकामो ।।७८।।

बाहिय अहापवत्तं सहेउणाहो गुणो व विज्झाओ ।
उव्वलणसंकमस्सवि कसिणो चरिमम्मि खंडम्मि ।।७९।।

पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाओ ।
संकामिऊण वेयइ जं एसो थिबुगसंकामो ।।८०।।

गुणमाणेणं दलिअं हीरंतं थोवएण निट्ठाइ ।
कालोऽसंखगुणेणं अहविज्झ उव्वलणगाणं ।।८१।।

जं दुचरिमस्स चरिमे सपरट्ठाणेसु देई समयम्मि ।
ते भागे जंहकमसो अहापवत्तुव्वलणमाणे ।।८२।।

चउहा धुवछव्वीसगसयस्स अजहन्नसंकमो होइ ।
अणुक्कोसो विहु वज्जिय उरालियावरणनवविग्घं ।।८३।।

सेसं साइ अधुवं जहन्न सामी य खवियकम्मंसो ।
ओरालाइसु मिच्छो उक्कोसगस्स गुणियकम्मो ।।८४।।

बायरतसकालूणं कम्मठिइ जो उ बायरपुढवीए ।
पज्जत्तापज्जत्तदीहेयर आउगो वसिउं ।।८५।।

जोगकसाउक्कोसो बहुसो आउं जहन्न जोगेणं ।
बंधिय उवरिल्लासु ठिइसु निसेगं बहुं किच्चा ।।८६।।

बायरतसकालमेवं वसित्तु अंते य सत्तमखिइए ।
लहुपज्जत्तो बहुसो जोगकसायाहिओ होउं ।।८७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोगजवमज्झ उवरिं मुहुत्तमच्छितु जीवियवसाणे।
तिचरिमदुचरिमसमए पूरित्तु कसायमुक्कोसं ।।८८।।

जोगुक्कोसं दुचरिमे चरिमसमए उ चरिमसमयंमि।
संपुन्नगुणियकम्मो पगयं तेणेह सामित्ते ।।८९।।

तत्तो तिरियागय आलिगोवरिं उरलएक्कवीसाए।
सायं अणंतर बंधिऊण आली परमसाए ।।९०।।

कम्मचउक्के असुभाणबज्झमाणीण सुहुमरागंते।
संछोभणंमि नियगे चउवीसाए नियट्टिस्स ।।९१।।

संछोभणाए दोण्हं मोहाणं वेयगस्स खणसेसे।
उप्पाइय सम्मत्तं मिच्छत्तगए तमतमाए ।।९२।।

भिन्नमुहुत्ते सेसे जोगकसाउक्कसाइं काऊण।
संजोअणाविसंजोयगस्स संछोभणाए सिं ।।९३।।

ईसाणागयपुरिसस्स इत्थियाए व अट्ठवासाए।
मासपुहुत्तब्भहिए नपुंसगस्स चरिमसंछोभे ।।९४।।

पूरित्तु भोगभूमीसु जीविय वासाणि-संखियाणि तओ।
हस्सठिइं देवागय लहु छोभे इत्थिवेयस्स ।।९५।।

वरिसवरित्थिपूरिय सम्मत्तमसंखवासियं लभिय।
गन्तुं मिच्छत्तमओ जहन्नदेवट्ठिइं भोच्चा ।।९६।।

आगन्तुं लहु पुरिसं संछुभमाणस्स पुरिसवेअस्स।
तस्सेव सगे कोहस्स माणमायाणमवि कसिणो ।।९७।।

चउरुवसमित्तु खिप्पं लोभजसाणं ससंकमस्संते।
चउसमगो उच्चस्सा खवगो नीया चरिमबंधे ।।९८।।

परघाय सकलतसचउसुसरादितिसासखगतिचउरंसं।
सम्मधुवा रिसभजुया संकामइ विरचिया सम्मो ।।९९।।

नरयदुगस्स विछोभे पुव्वकोडीपुहुत्तनिच्चियस्स।
थावरउज्जोयायवएगिंदीणं नपुंससमं ।।१००।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेत्तीसयरा पालिय अंतमुहुत्तूणगाइं सम्मत्तं ।
बंधित्तु सत्तमाओ निग्गम्म समए नरदुगस्स ॥१०१॥

तित्थयराहाराणं सुरगइनवगस्स थिरसुभाणं च ।
सुभधुवबंधीण तहा सगबंधा आलिगं गंतुं ॥१०२॥

सुहुमेसु निगोएसु कम्मठितिं पलियऽसंखभागूणं ।
वसिउं मंदकसाओ जहन्न जोगो उ जो एइ ॥१०३॥

जोग्गेसु तो तसेसु सम्मत्तमसंखवार संपप्प ।
देसविरइं च सव्वं अण उव्वलणं च अडवारा ॥१०४॥

चउरुवसमित्तु मोहं लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो ।
पाएण तेण पगयं पडुच्च काओ वि सविसेसं ॥१०५॥

हासदुभयकुच्छाणं खीणंताणं च बंधचरिमंमि ।
समए अहापवत्तेण ओहिजुयले अणोहिस्स ॥१०६॥

थीणतिगइत्थिमिच्छाण पालिय बेछसट्ठि सम्मत्तं ।
सगखवणाए जहन्नो अहापवत्तस्स चरमंमि ॥१०७॥

अरइसोगट्ठकसाय असुभधुवबन्धि अथिरतियगाणं ।
अस्सायस्स य चरिमे अहापवत्तस्स लहु खवगे ॥१०८॥

हस्सगुणद्धं पूरिय सम्मं मीसं च धरिय उक्कोसं ।
कालं मिच्छत्तगए चिरउव्वलगस्स चरिमम्मि ॥१०९॥

संजोयणाण चउरुवसमित्तु संजोयइत्तु अप्पद्धं ।
छावट्ठिदुगं पालिय अहापवत्तस्स अंतम्मि ॥११०॥

हस्सं कालं बंधिय विरओ आहारमविरइं गंतुं ।
चिरओव्वलणे थोवो तित्थं बंधालिगा परओ ॥१११॥

वेउव्वेक्कारसगं उव्वलियं बंधिऊण अप्पद्धं ।
जेट्ठट्ठितिनरयाओ उव्वट्टित्ता अबंधित्ता ॥११२॥

थावरगसमुव्वलणे मणुदुगउच्चाण सहुमबद्धाणं ।
एमेव समुव्वलणे तेउवाउसुवगयस्स ॥११३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुवसमित्ता मोहं सायस्स असायअंतिमे बंधे ।
पणतीसा य सुभाणं अपुव्वकरणालिगा अंते ॥११४॥

तेवट्ठ उदहिसयं गेविज्जाणुत्तरे सऽबंधित्ता ।
तिरिदुगउज्जोयाइं अहापवत्तस्स अंतंमि ॥११५॥

इगिविगलायवथावरचउक्कमबंधिऊण पणसीयं ।
अयरसयं छट्ठीए बावीसयरं जहा पुव्वं ॥११६॥

दुसराइतिण्णि णीयऽसुभखगइ संघयण संठियपुमाणं ।
सम्माजोग्गाणं सोलसण्हं सरिसं थिवेएणं ॥११७॥

समयाहिआवलीए आऊण जहण्णजोग बंधाणं ।
उक्कोसाऊ अंते नरतिरिया उरलसत्तस्स ॥११८॥

पुसंजलणतिगाणं जहण्णजोगिस्स खवगसेढीए ।
सगचरिमसमयबद्धं जं छुभइ संगतिमे समए ॥११९॥

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्तना और अपवर्तना करण की मूल गाथाएँ

उदयावलिवज्झाणं ठिईण उवट्टणा उ ठितिविसया ।
सोक्कोसअबाहाओ जावावलि होई अइत्थवणा ।।१।।

इच्छियठितिठाणाओ आवलिगं लंघिउण तद्दलियं ।
सव्वेसु वि निक्खिप्पइ ठितिठाणेसु उवरिमेसु ।।२।।

आवलिअसंखभागाइ जाव कम्मट्ठितित्ति निक्खेवो ।
समोयत्तरावलीए साबाहाए भवे ऊणो ।।३।।

अब्बाहोवरिठाणगदलं पडुच्चेह परमनिक्खेवो ।
चरिमुव्वट्टणगाणं पडुच्च इह जायइ जहण्णो ।।४।।

उक्कोसगठितिबंधे बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।
निक्खेवं च जहण्णं मोत्तुं उव्वट्टए सेसं ।।५।।

निव्वाघाए एवं वाघाओ संतकम्महिगबंधो ।
आवलिअसंखभागो जावावलि तत्थ इत्थवणा ।।६।।

आवलिदोसंखंसा जइ वड्ढइ अहिणवो उठिइबंधो ।
उव्वट्टित तो चरिमा एवं जावलि अइत्थवणा ।।७।।

अइत्थावणालियाए पुण्णाए वड्ढइत्ति निक्खेवो ।
ठितिउव्वट्टणमेवं एत्तो आव्वट्टणं वोच्छं ।।८।।

ओव्वट्टन्तो य ठितिं उदयावलिबाहिरा ठिईठाणा ।
निक्खिवइ से तिभागे समयहिगे लंघिउं सेसं ।।९।।

उदयावलि उवरित्था एमेवोवट्टए ठिइट्ठाणा ।
जावावलियतिभागो समयाहिगो सेसठितिणं तु ।।१०।।

इच्छोवट्टणठिइठाणगाउ उल्लंघिऊण आवलियं ।
निक्खिवइ तद्दलियं अह ठितिठाणेसु सव्वेसु ।।११।।

उदयावलिउवरित्थं ठाणं अहिकिच्च होइ अइहीणो ।
निक्खेवो सव्वोवरिठिइठाणवसा भवे परमो ।।१२।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयाहियइत्थवणा बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो।
कम्मट्ठिइ बंधोदयआवलिया मोत्तु ओवट्टे ॥१३॥

निव्वाघाए एवं ठिइघातो एत्थ होइ वाघाओ।
वाघाए समऊणं कंडगमइत्थावणा होई ॥१४॥
उक्कोसं डायट्ठिई किंचूणा कंडगं जहण्णं तु।
पल्लासंखंसं डायट्ठिई उ जतो परमबंधो ॥१५॥
चरिमं नोवट्टिज्जइ जाव अणंताणि फड्डगाणि तओ।
उस्सक्किय उव्वट्टइ उदया ओवट्टणा एवं ॥१६॥

अइत्थावणाइयाओ सण्णाओ दुसुवि पुव्ववुत्ताओ।
किंतु अणंतभिलावेण फड्डगा तासु वत्तव्वा ॥१७॥

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु वि हीणनिक्खेवो।
तुल्लो अणंतगुणिओ दुसु वि अइत्थावणा चेव ॥१८॥

तत्तो वाघायणुभागकंडगं एक्कवग्गणाहीणं।
उक्कोसो निक्खेवो तुल्लो सविसेस संतं च ॥१९॥

आबंधं उव्वट्टइ सव्वत्थोवट्टणा ठितिरसाणं।
किट्टिवज्जे उभयं किट्टिसु ओवट्टणा एक्का ॥२०॥

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट : २

गाथा—अकारादि अनुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं. पृ./स.
अइत्थावणाइयाओ सण्णाओ	१७।२७६
अइत्थावणालियाए पुण्णाए	८।२६०
अजहण्णो चउभेओ पढमग	६६।१४६
अट्ठाराइचउक्कं पंचे	२६।६२
अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु	२४।६०
अणतित्थुव्वलगाणं संभवओ	६३।१४३
अणुवसमित्ता मोहं सायस्स	११४।२३७
अब्बाहोवरिठाणदलं पडुच्चेह	४।२५८
अरइसोगट्ठकसाय असुभ	१०८।२२६
असुभाण पएसग्गं	७७।१७६
आगन्तुं बहु पुरिसं सुंछुभ	६७।२०८
आबंधं उव्वट्टइ सव्वत्थो	२०।२८३
आयावुज्जोवोराल पढम संघयण	५८।१३५
आवलिअसंखभागाइ जाव	३।२५४
आवलिदोसंखंसा जइ वड्ढइ	७।२६०
आसीमं पणुवीसो इगवीसो	१७।५१
अंतोमुहुत्तहीणं आवलियदुहीण	४१।६७
इगिविगलायवथावरचउक्कम	११६।२४१
इच्छियठितिठाणाओ आवलिगं	२।२५३
इच्छोवट्टणठिइठाणगाउ	११।२६६
ईसाणागयपुरिसस्स इत्थि	६४।२०६
उक्कोसगठितिबंधे बंधावलिया	५।२५६
उक्कोसं डायट्ठिई किंचूणा	१५।२७२
उदयावलि उवरित्था एमेवोवट्टए	१०।२६८
उदयावलि उवरित्थं ठाणं	१२।२६६
उदयावलिए छाभो अण्णप्पगईए	४५।१०६
उदयावलिवज्झाणं ठिईण	१।२४७
उव्वट्टणं च ओवट्टणं	३५।८७
एकट्ठाणजहन्नं संकमइ	५६।१३०
एवइय संतया जं सम्मद्दिट्ठीण	३६।६३
एवं उव्वलणासंकमेण	७४।१७२
ओव्वट्टन्तो य ठितिं उदया	६।२६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मचउक्के असुभाण ६१।२०३
खयउवसमदिट्ठीणं ५।१२
खवगस्स सबंधच्चिय १८।५२
खवगस्संतरकरणे अकए ५६।१३८
खविऊण मिच्छमीसे मणुओ ४७।१०९
खंडदलं सट्ठाणे समए ७२।१६७
गुणमाणेणं दलिअं हीरंतं ८१।१८७
गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ २९।६६
गंतुं सम्मो मिच्छंतु-
स्सुक्कोसं ४०।९७
घाईणं जे खवगो जहण्णरस ६२।१४१
चउरुव समित्तु खिप्पं ९८।२१२
चउरुव समित्तु मोहं बहुं १०५।२२१
चउहा धुवछव्वीसग सयस्स ८३।१९१
चउहा पडिग्गहत्तं धुवबंधिणं १०।२२
चरमठिईए रइयं पइसमय ७८।१८२
चरिमं मोवटिट्ज्जइ जाव १६।२७५
छसु वीस चोद्द तेरस २८।६५
जाण न बंधो जायइ ६९।१५९
जासिं बंधनिमित्तो उक्कोसो ३६।८९
जोगकसाउक्कोसो बहुसो ८६।१९५
जोगजवमज्झ उवरि मुहुत्त ८८।१९५
जोग्गेसु तो तसेसु सम्मत्त १०४।२२१
जोगुक्कोसं दुचरिमे
चरिमसमए ८९।१९५
जो जो जाणं खवगो
जहण्णठिति ४४।१०५
जं दुचरिमस्स चरिमे
सपरट्ठाणेसु ८२।१८९
ठितिसंकमोव्व तिविहो ५२।१२३
तत्तो तिरियागय
आलिगोवरिं ९०।२०१
तत्तो वाघायणुभागकंडग १९।२८१
तित्थयराहाराणं सुरगइ ०२।२१९
तित्थयराहाणं संकमणे ३८।९३
तिन्न तिगाई सत्तट्ठनवय २०।५५
तिविहो धुवसंताणं
चउव्विहो ५१।१२०
तेत्तीसयरा पालिय
अंतमुहुत्त १०१।२१८
तेवट्ठ उदहिसयं
गेविज्जा ११५।२३८
थावरगसमुव्वलणे मणुदु ११३।२३४
थीणतिगइत्थिमिच्छाण
पालिय १०७।२२७
थोवं पएसगुणहाणि अंतरे १८/२८१
दलियरसाणं जुत्तं मुत्तत्ता ३४।८५
दसगट्ठारसगाई चउ १९।५४
दसगाइचउक्कं एक्कवीस २५।६१
दुचरिमखंडस्स दल चरिमे ७३।१७०
दुट्ठाणो च्चिय जाणं ताणं ५५।१२९
दुसराइतिण्णि णीयऽसुभ ११७।२४२
दुसुतिसु आवलियासु ७।१४
देसग्घाइरसेणं पणइयो ५३।१२६
दंसणवरणे नवगो
संकमणपडिग्गहा १४।४७
धुवसंतीणं चउहेह संकमो ८।१६
नरगदुगस्स विछोभे पुव्व १००।२१७
नवछक्कचउक्केसुं नवगं १५।४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निद्दादुगस्स साहिय
आवलियदुगं ४८।१११
नियनिय दिठ्ठि न केइ ३।७
निव्वाघाए एवं ठिइघातो १४।२७२
निव्वाघाए एवं वाघाओ ६।२६०
पढमचउक्कं आइल्ल
विज्जयं ३२।७६
पढमचउक्कं तित्थगर ३०।७०
पढमं संतचउक्कं इगतीसे ३१।७३
पढमाओ बीअखडं
विसेसहीणं ७१।१६५
पणदोन्नि तिन्नि एवक्के २७।६४
पणवीसो संसारिसु इगवीसे २१।५८
पन्नरससोलसत्तर
अडचउवीसा १२।२४
परघाय सकलतसचउसुरा ६६।२१४
पलियस्ससंख भागं
अंतमुहुत्तेण ७०।१६३
पिंडपगईण जा उदयसंगया ८०।१८४
पुसंजलणतिगाणं
जहण्णजोगिस्स ११६।२४४
पुंसंजलणाण ठिई
जहन्नया ४६।११३
पूरित्तु भोगभूमीसु जीविय ६५।२०७
बज्झंतियासु इयरा ताओवि १।३
बहिय अहापवत्तं
सहेउणाहो ७६।१८३
बायरतसकालमेवं वसितु ८७।१६५
बायरतसकालूणं कम्माठिइ ८५।१६५
बावीसे गुणवीसे
पन्नरसेक्कारसे सु २२।५८
बावीसे गुणवीसे
पन्नरसेक्कारसे य सत्ते य २३।५६
बंधिय उक्कोसरसं
आवलियाओ ५७।१३३
बंधुक्कोसाण ठिई मोत्तुं दो ३७।६१
बंधुक्कोसाणं आवलिए
आवलिदुगेण ४२।१०१
भिन्नमुहुत्ते सेसे
जोगकसाउ ६३।२०५
मिच्छे खविए मीसस्स नीत्थ ६।१४
मूलठिईण अजहन्नो सत्तण्ह ५०।११८
लोभस्स असंकमणा उव्वलणा १६/५०
वरिसवरित्थि पूरिय
सम्मत्त ६६।२०८
वुज्झा-उव्वलण अहापवत्त ६८।१५८
वेउव्वेक्कारसगं उव्वलियं ११२।२३४
समयाहिआवलीए आऊण
जहण्णजोग ११८।२४३
समयाहियइत्थवणा
बंधावलिया १३।२७०
सम्मद्दिट्ठी न हणइ
सुभाणुभागं ६१।१४०
सम्ममीसाई मिच्छो
सुरदुगवे ७५।१७३
सव्वग्घाइ दुठाणो
मीसायवमणु ५४।१२८
साइयवज्जो अजहण्णसंकमो ६४।१४५
साइयवज्जो
वेयणियनामगोयाण ६५।१४८
साउणजसदुविहकसाय सेस ६।१८
साबाहा आउठिई आवलिगूणा ४३/१०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुभधुवचउवीसाए होइ ६७।१५२
सुहुमेसु निगोएसु
कम्मठिति १०३।२२१
सेसाणं असुभाणं केवलिणो ६०।१३८
सेसं साइ अधुवं जहन्न ८४।१९२
संकमइ जासु दलियं ताओ २।६
संकमइ नन्न पगइं पगईओ ३३।८१
संकमण पडिग्गहया पढम १३।४४
संकामंति न आउं उवसंतं ४।७
संछोभणाए दोण्हं मोहाणं ९२।२०४
संजलणलोभ नाणंतराय
दंसण ४६।१०८
संजोयणाण
चउरिवसमित्तु ११०।२३१
संतट्ठाणसमाइं संकामठा ११।२३
संसारत्था जीवा
सबंधजोगाण ७६।१७६
हस्सं कालं बंधिय
विरओ १११।२३२
हस्सगुणद्ध पूरिय सम्मं १०९।२३०
हासदुभयकुच्छाणं
खीणंताणं १०६।२२५

 प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा आयु व नामकर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणादि

छह कर्मों के संक्रम स्थानों की साद्यादि प्ररूपणा

कर्मप्रकृति	संक्रमस्थान	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव
ज्ञानावरण	५ प्रकृतिक	उपशांतमोह गुण. से गिरने पर	भव्यापेक्षा	उपशांतमोह गुण. अप्राप्तापेक्षा	अभव्यापेक्षा
अन्तराय	५ प्रकृतिक	,,	,,	,,	,,
दर्शनावरण	९ प्रकृतिक	,,	,,	अत्यक्त मिथ्या-त्वापेक्षा	,,
	६ प्रकृतिक	कादाचित्क होने से	कादाचित्क होने से	×	×
असातावेदनीय	१ प्रकृतिक	परावर्तमान प्रकृति होने से	परावर्तमान प्रकृति होने से	×	×
सातावेदनीय	१ प्रकृतिक	,,	,,	×	×
मोहनीय	२७ प्रकृतिक	अमुककाल पर्यन्त होने से	अमुक काल पर्यन्त होने से	×	×
,,	२६ ,,	,,	,,	×	×

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय	२५ प्रकृतिक	सम्यक्त्व. मिश्र मोह० की उद्वलना होने पर होने से	भव्यापेक्षा	अनादि. मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा	अभव्यापेक्षा
,,	२३, २२, २१, २०, १९, १८, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक	कादाचित्क होने से	कादाचित्क होने से	×	×
उच्चगोत्र	१ प्रकृतिक	परावर्तमान बंधी होने से	परावर्तमान बंधी होने से	×	×
नीचगोत्र	१ प्रकृतिक	,,	,,	×	×

नोट—आयुकर्म में परस्पर संक्रम नहीं होने से संक्रमस्थान नहीं होते हैं।

नामकर्म के संक्रमस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप आगे देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति संक्रम की अपेक्षा आयु और नामकर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणादि छह कर्मों के पतद्ग्रह स्थानों की साद्यादि प्ररूपणा

कर्मनाम	पतद्ग्रह स्थान	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव
ज्ञानावरण	५ प्रकृतिक	उपशांतमोहगुण. से गिरने पर	भव्यापेक्षा	उपशांतमोहगुणस्थान अप्राप्तापेक्षा-अत्यक्तमिथ्यात्वी के	अभव्यापेक्षा
दर्शनावरण	९ प्रकृतिक	छह के बंध से नौ बंधापेक्षा	,,		,,
,,	६ प्रकृतिक	कादाचित्क होने से	कादाचित्क होने से	×	×
,,	४ प्रकृतिक	,,	,,	×	×
सातावेदनीय	१ प्रकृतिक	अध्रुवबंधित्वापेक्षा	अध्रुवबंधित्वापेक्षा	×	×
असातावेदनीय	१ प्रकृतिक	,,	,,	×	×
मोहनीय	२२ प्रकृतिक	कादाचित्क होने से	कादाचित्क होने से	×	×

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय	२१ प्रकृतिक	मिश्र, सम्यक्त्व की उद्वलना करने वाले सादिमिथ्यात्वी की अपेक्षा	भव्यापेक्षा	अनादि मिथ्या-दृष्टि की अपेक्षा	अभव्या पेक्षा
	१९, १८, १७, १५, १४, १३, ११, १०, ९, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक	कादाचित्क होने की अपेक्षा	कादाचित्क होने की अपेक्षा	×	×
उच्चगोत्र	१ प्रकृतिक	अध्रुवबंधि होने की अपेक्षा	अध्रुवबंधि होने की अपेक्षा	×	×
नीचगोत्र	१ प्रकृतिक	,,	,,	×	×
अंतराय	५ प्रकृतिक	उपशांतमोहगुण स्थान से गिरने वाले की अपेक्षा	भव्यापेक्षा	उपशांतमोहगुण-स्थान अप्राप्त की अपेक्षा	अभव्यापेक्षा

नोट—१ आयुकर्म में संक्रम और पतद्ग्रहत्व का अभाव है।

२ नामकर्म के पतद्ग्रह स्थानों की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप आगे देखिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम स्थान	पतद्ग्रह स्थान	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
२७ प्र.	२२ प्र.	२८ प्र.	पल्यो० का असंख्यातवाँ भाग	पहला	मिथ्यात्वी
	१९ ,,	,,	साधिक तेतीस सागर	चौथा	उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्वी
	१५ ,,	,,	देशोन पूर्व कोटि वर्ष	पांचवां	,, ,,
	११ ,,	,,	,,	छठा, सातवां	,, ,,
२६ प्र.	२२ ,,	२७ ,,	पल्यो० का असं० भाग	पहला	मिथ्यादृष्टि
	१९ ,,	२८ ,,	आवलिका	चौथा	उपशम सम्यक्त्वी प्रथमावलिका
	१५ ,,	,, ,,	,,	पांचवाँ	,, ,, ,,
	११ ,,	,, ,,	,,	छठा, सातवां	,, ,, ,,
२५ प्र.	२१ ,,	२६ ,,	अनादि-अनन्त, अनादि-सांत, सादि-सांत	पहला	मिथ्यादृष्टि
		२८ ,,	छह आवलिका	दूसरा	सासादन सम्यक्त्वी
	१७ ,,	२७/२८ ,,	अन्तर्मुहूर्त	तीसरा	मिश्र दृष्टि
२३ प्र.	२२ ,,	२८ ,,	आवलिका	पहला	अनन्तानुबंधि की विसंयोजना कर के आगत मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	१६	,,	२४/२८	,,	साधिक तेतीस सागर	चौथा	अनन्ता.चतुष्क की विसंयोजना करने वाला क्षयो० सम्यक्त्वी
	१५	,,	२४/२८	,,	देशोन पूर्व कोटि	पांचवां	,, ,, ,,
	११	,,	२४/२८	,,	,,	छठा, सातवां, आठवाँ	,, ,, ,,
	७	,,	२४/२८	,,	अन्तर्मुहूर्त	नौवां	उप० सम्य० उप० श्रेणि अन्तरकरण करने तक
२२ प्र.	१८	,,	२३	,,	,,	चौथा	क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता क्षायो० सम्यक्त्वी
	१४	,,	२३	,,	,,	पांचवाँ	,, ,, ,,
	१०	,,	२३	,,	,,	छठा, सातवाँ	,, ,, ,,
	७	,,	२४/२८	,,	,,	नौवां	उप० श्रेणि उप० सम्यक्त्वी अन्तरकरणवर्ती नपुं० वेद का उपशमन होने तक
२१ प्र.	१७	,,	२२	,,	,,	चौथा	वेदक सम्यक्त्वी
			२१	,,	साधिक तेतीस सागर	,,	क्षायिक ,,
	१३	,,	२२	,,	अन्तर्मुहूर्त	पांचवां	वेदक ,,
			२१	,,	देशोन पूर्व कोटि	,,	क्षायिक ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति संक्रमापेक्षा मोहनीय कर्म के संक्रम स्थानों में पतद्ग्रह स्थान

संक्रम स्थान	पतद्ग्रह स्थान	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
	६ ,,	२२ ,,	अन्तर्मुहूर्त	छठा, सातवां	वेदक सम्यक्त्वी
		२१ ,,	देशोन पूर्व कोटि	,, ,,	क्षायिक ,,
		२१ ,,	अन्तर्मुहूर्त	आठवां	क्षायिक ,,
	७ ,,	२४/२८ ,,	,,	नौवां	उप० श्रेणि, उप० सम्यक्त्वा नपुं० वेद उपशांत होने पर
	५ ,,	२१ ,,	,,	,,	उप.श्रेणि क्षायिक सम्यक्त्वी अन्तरकरण न करने तक क्षपकश्रेणि कषायाष्टक का क्षय न होने तक
२० प्र.	७ ,,	२४/२८ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	नौवां	उप. श्रेणि उप. सम्य. त्रीवेद उपशांत होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	६ प्र.	२४/२८ प्र.	समयोन दो आवलिका	नौवां	,, ,, ,, ,,
	५ ,,	२१ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, क्षायिक सम्य. अन्तरकरणवर्ती
१९ प्र.	५ ,,	२१ ,,	,,	,,	उप. श्रेणि क्षायिक सम्य. नपुंसकवेद उपशांत होने पर
१८ प्र.	५ ,,	२१ ,,	,,	,,	,, ,, स्त्रीवेद उपशांत होने पर
	४ ,,	२१ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,
१४ प्र.	६ ,,	२४/२८ ,,	,, ,,	,,	,, उप. सम्यक्त्वी हास्यषटक उपशांत होने पर
१३ प्र.	६ ,,	२४/२८ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, ,, पुरुषवेद उपशांत होने पर
	५ ,,	२४/२८ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,
	५ प्र	१३ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	नौवां	क्षपकश्रेणि कषायाष्टक क्षय होने पर
१२ प्र.	५ ,,	१३ ,,	,,	,,	,, अन्तरकरण करने वाला
	४ ,,	२१ ,,	समयोन आवलिका द्विक		उप. श्रेणि क्षायिक सम्यक्त्वी हास्यषट्क उपशांत होने पर
११ प्र.	५ ,,	२८/२४ प्र.	समयोन आवलिका द्विक		उप. श्रेणी, उप. सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. क्रोध उपशांत होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	५ प्र.	१२ प्र.	अन्तर्मुहूर्त		क्षपकश्रेणि नपुं वेद का क्षय होने पर
	४ ,,	२१ ,,	,,		उप. श्रेणि क्षायिक सम्यक्त्वी पु. वेद उपशांत होने पर
	३ ,,	२१ ,,	समयोन आवलिका द्विक		,, ,, ,,
१० प्र.	५ ,,	२८/२४ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, उप. सम्यक्त्वी संज्व. क्रोध उपशांत होने पर
	५ ,,	११ ,,	,,	,,	क्षपक श्रेणि स्त्रीवेद के रहते
	४ ,,	११ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,
९ प्र.	३ प्र.	२१ ,,	,,	,,	उप. श्रेणि, क्षायिक सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या क्रोध उपशांत होने पर
८ प्र.	४ ,,	२८/२४ ,,	,,	,,	,, उप. सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. मान उपशांत होने पर
	३ ,,	२१ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	नौवां	,, उप० श्रेणी, क्षायिक सम्यक्त्वी संज्व. क्रोध उपशांत होने पर
	२ ,,	२१ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,
७ प्र.	४ ,,	२४/२८ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, उप. सम्यक्त्वी संज्व. मान के रहते
	३ ,,	२४/२८ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ प्र.	२ प्र.	२१ प्र.	समयोन आवलिका द्विक	नौवां	उप. श्रेणी क्षायिक सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. मान उपशांत होने पर
५ प्र.	३ ,,	२४/२८ ,,	,,	,,	,, उप. सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. माया उपशांत होने पर
	२ ,,	२४/२८ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, क्षायिक सम्यक्त्वी संज्व. मान उपशांत होने पर
	१ ,,	२१ ,,	समयोन आवलिका द्विक	,,	,, ,, ,,
४ प्र.	४ ,,	५ ,,	,,	,,	क्षपक श्रेणि हास्यषट्क का क्षय होने पर
	३ ,,	२४/२८ ,,	अन्तर्मुहूर्त		उपशम श्रेणि उप. सम्यक्त्वी संज्व. माया के उपशांत होने पर
३ प्र.	३ प्र.	४ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,,	क्षपक श्रेणि पुरुषवेद का क्षय होने पर
	१ प्र.	२१ प्र.	समयोन आवलिका द्विक	नौवां	उप. श्रेणि क्षायिक सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. माया उपशांत होने पर
२ प्र.	२ प्र.	३ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,,	क्षपक श्रेणि संज्व. क्रोध का क्षय होने पर
	२ प्र.	२८/२४ प्र.	,,	नौवां दसवां ग्यारहवां	उप. श्रेणि उप. सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या. लोभ उपशांत होने पर
	१ प्र.	२१ प्र.	,,	नौवां	उप. श्रेणी क्षायिक सम्यक्त्वी संज्व. माया उपशांत होने पर
१ प्र.	१ प्र.	२ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,,	क्षपक श्रेणि संज्वलन मान का क्षय होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह प्रकृतियां	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव
६७ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां	अपने बंधविच्छेद के अनन्तर पुनः बंध होने पर	भव्यापेक्षा	बंधविच्छेद स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा	अभव्यापेक्षा
८४ अध्रुवबंधिनी प्रकृतियां	अध्रुवबंधिनी होने से	अध्रुवबंधिनी होने से	×	×
मिथ्यात्वमोह	पतद्ग्रहत्व कादाचित्क होने से	पतद्ग्रहत्व कादाचित्क होने से	×	×
मिश्र. सम्यक्त्व मोह.	कादाचित्क होने से	कादाचित्क होने से	×	×

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम्यमाण प्रकृति नाम	स्वामित्व
ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, नीचगोत्र, अन्तरायपंचक, असातावेदनीय तथा तीर्थंकर व यशःकीर्ति को छोड़कर शेष नामकर्म प्रकृति	सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त के जीव
सातावेदनीय	प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त के जीव
मिथ्यात्वमोहनीय	अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान-पर्यन्त के जीव
मिश्रमोहनीय	मिथ्यात्व एवं अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांत मोह गुणस्थान पर्यन्त के जीव
सम्यक्त्वमोहनीय	मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव
अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क	अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव । आदि के दो गुणस्थानों में निश्चित, शेष में भजनीय
अप्रत्याख्यानावरण आदि शेष बारह कषाय, नवनोकषाय	अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान तक के जीव
यशःकीर्तिनाम	अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक के जीव
तीर्थंकर नाम	दूसरे और तीसरे को छोड़कर पहले और चौथे से दसवें गुणस्थान तक के जीव
उच्चगोत्र	आदि के दो गुणस्थानवर्ती के जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम्य प्रकृतियाँ	सादि	अध्रुव	अनादि	ध्रुव
१२६ ध्रुवसत्ताका	पतद्ग्रह रूप प्रकृति के बंधविच्छेद के अनन्तर पुनः बंध होने पर	भव्यापेक्षा	बंधविच्छेद स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा	अभव्यापेक्षा
२४ अध्रुवसत्ताका	अध्रुव सत्ता वाली होने से	अध्रुवसत्ता वाली होने से	×	×
वेदनीयद्विक, नीच गोत्र	परावर्तमान प्रकृति होने से	परावर्तमान प्रकृति होने से	×	×
मिथ्यात्व	विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के संक्रम्यमाण होने से और सम्यग्दृष्टित्व कादाचित्क होने से	सादि होने से	×	×

नोट—आयुचतुष्क का परस्पर संक्रम नहीं होने से, उनमें साद्यादि भंग नहीं होते हैं। इसलिये शेष १५४ प्रकृतियों में साद्यादि भंग संभव हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ८ से आगे की सभी तालिकाएँ
अगले पृष्ठ से पढ़िए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति संक्रमापेक्षा मोहनीय कर्म सम्बन्धी

(क) अश्रेणिगत पतद्ग्रह-

पतद्ग्रह थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां
२२ प्रकृतिक	मिथ्यात्व, १६ कषाय, १ वेद, १ युगल, भय, जुगुप्सा	२७ प्रकृ.	मिथ्यात्व बिना
		२६ ,,	मिथ्यात्व, सम्य. मोह बिना
		२३ ,,	मिथ्यात्व, अनंतानुबंधि बिना
२१ प्रकृ.	मिथ्यात्व रहित पूर्वोक्त	२५ ,,	दर्शनत्रिक बिना
		२५	,,
१९ प्रकृ.	१२ कषाय, पुंवेद, भय, जुगुप्सा, एक युगल, सम्य. मोह, मिश्रमोह.	२६	२५ कषाय, मिथ्यात्व
		२७	२५ कषाय मिश्र, मिथ्या.
		२३	अनं. रहित २१ कषाय, मिश्र मोह, मिथ्यात्व
१८ प्रकृ.	१२ कषाय, पुंवेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल, सम्य.	२२	२१ कषाय, मिश्र.
१७ प्रकृ.	१२ कषाय, पुंवेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल	२५	२५ कषाय
		२१	२१ कषाय (अन. रहित)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान

स्थानों में संक्रमस्थान

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रमकाल	स्वामी
२८	प्रथम	पल्योपमासंख्येयभाग	त्रिपुंजी मिथ्यादृष्टि
२७	,,	,,	उद्वलित सम्य. मोह. द्विपुंजी
२८	,,	एक आवलिका	अनन्तानुबन्धी की प्रथम बंधावलिका में
२६	,,	अनादि अनन्तादि तीन भंग	अनादि मिथ्यात्वी
२८	द्वितीय	६ आवलिका	सासादनी
२८	चतुर्थ	एक आवलिका	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका में
२८	,,	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद
२४	,,	४थे गुणस्थान में क्षयोपशम रहने तक	क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि
	,,	अन्तर्मुहूर्त	अनन्ता. की विसंयोजना बाद उपशम सम्यक्त्वी
		४थे गुणस्थान में क्षयोपशम रहने तक	अनन्ता. की विसंयोजना बाद वेदक सम्यक्त्वी
२३	,,	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित अन. मिथ्यात्व, वेदक सम्यग्दृष्टि
२८/२७	तृतीय	अन्तर्मुहूर्त	मिश्रदृष्टि
२४	,,	,,	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
		२१	२१ कषाय (अन.रहित)
		२१	,,
१५ प्रकृ.	८ कषाय, पुं. वेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल, सम्य. मिश्र.	२६	२५ कषाय, मिथ्यात्व
		२७	,, मिश्र मिथ्यात्व
		२३	२१ कषाय (अन.रहित) मिथ्यात्व मिश्र
१४ प्रकृ.	८ कषाय, पुं.वेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल, सम्य. मोह.	२२	२१ कषाय (अन.रहित) मिश्र मोह.
१३ प्रकृ.	सम्यक्त्व मोह. रहित पूर्वोक्त	२१	२१ कषाय (अन. रहित)
११ प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क, पुं.वेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल, सम्यक्त्व मिश्र मोह.	२६	२५ कषाय, मिथ्यात्व
		२७	,, मिश्र मिथ्यात्व
		२३	२१ ,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रमकाल	स्वामी
२२	चतुर्थ	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिथ्या. अन. मिश्रमो. वेदक सम्यग्दृष्टि
२१	,,	साधिक ३३ सागरोपम	क्षायिक सम्यक्त्वी
२८	पंचम	१ आवलिका	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका
२८	,,	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद
२८	,,	देशोन पूर्वकोटि वर्ष	क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी
२४	,,	अन्तर्मुहूर्त	विसंयोजित अन. उपशम सम्यक्त्वी
२७	,,	देशोन पूर्वकोटि वर्ष	विसंयोजित अन. वेदक सम्यक्त्वी
२३	,,	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिथ्यात्व वेदक सम्यक्त्वी
२२	,,	,,	क्षपित मिश्र. मोह. वेदक सम्यक्त्वी
२१	,,	देशोन पूर्वकोटि वर्ष	क्षायिक सम्यक्त्वी
२८	६, ७	एक आवलिका	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका
२८	,,	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद
२४	,,	,,	क्षपित अन. उपशम सम्यक्त्वी
२४	,,	,,	क्षपित अन. वेदक सम्यक्त्वी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
१० प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क, पुं वेद भय, जुगुप्सा, १ युगल, सम्य. मोह.	२२	२१ कषाय, मिश्र मोह.
९ प्रकृ.	सम्यक्त्व मोहरहित पूर्वोक्त	२१	२१ कषाय
		२१	२१ कषाय

परिशिष्ट : १० (ख) उपशम श्रेणिवर्ती

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
११ प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क, पुं.वेद भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, सम्य. मोह. मिश्र मोह.	२३	२१ कषाय (अनं.रहित) मिथ्यात्व मिश्र मोह.
७ प्रकृ.	संज्व. चतुष्क, पुं. वेद सम्य. मिश्र मोह.	२३	,,
		२२	संज्व. लोभरहित पूर्वोक्त
		२१	नपुं.वेदरहित पूर्वोक्त
		२०	स्त्रीवेदरहित पूर्वोक्त
६ प्रकृ.	संज्व. चतुष्क सम्य. मिश्र.	२०	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रमकाल	स्वामी
२३	६, ७	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिथ्यात्व वेदक सम्यक्त्वी
२२	,,	,,	क्षपित मिश्र मोह. वेदक सम्यक्त्वी
२१	,,	देशोन पूर्वकोटि	क्षायिक सम्यक्त्वी

उपशम सम्यग्दृष्टि

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
२४	अष्टम	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण
२४	नवम	,,	अन्तरकरण पूर्व
	,,	,,	अन्तरकरण में
	,,	,,	अन्तरकरण पश्चात्
	,,	,,	,,
,,	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
६ प्रकृ.	संज्व. चतुष्क सम्य. मिश्र मोह.	२०	स्त्रीवेदरहित पूर्वोक्त
		१४	हास्यषट्करहित पूर्वोक्त
		१३	पुं वेद रहित पूर्वोक्त
५ प्रकृ.	संज्व. मान, माया, लोभ सम्य. मिश्र मोह.	१३	,,
		११	अप्र. प्रत्या. क्रोधरहित पूर्वोक्त
		१०	संज्व. क्रोधरहित पूर्वोक्त
४ प्रकृ.	संज्व. माया, लोभ, सम्य. मिश्र मोह.	१०	,,
		८	अप्र. प्रत्या. मानरहित ,,
		७	संज्व. मानरहित ,,
३ प्रकृ.	संज्व. लोभ, सम्य. मिश्र मोह.	७	,,
		५	अप्र. प्रत्या. लोभ संज्व. माया, मिश्र, मिथ्या. मोह.
		४	संज्व. मायारहित पूर्वोक्त
२ प्रकृ.	सम्य. मोह. मिश्र मोह.	२	मिश्र मोह. सम्य. मोह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रमकाल	स्वामी
२४	नवम	समयोन आवलिकाद्विक	अन्तरकरण पश्चात्
,,	,,	,,	,,
,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
,,	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
,,	,,	,,	,,
,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
,,	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
,,	,,	,,	,,
,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
,,	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
,,	,,	,,	,,
,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	नौवें गुणस्थान की दो आवलिका रहने तक
,,	९-१०-११	,,	नौवें गुणस्थान की दो आवलिका १०-११ गुण.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) उपशम श्रेणिवर्ती

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
९ प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क, पुं.वेद हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	२१	१२ कषाय, नव नोकषाय
५ प्रकृ.	पुं.वेद, संज्वलनचतुष्क,	२१	,,
		२०	संज्व. लोभरहित पूर्वोक्त
		१९	११ कषाय, नपुं वेदरहित ८ नोकषाय
		१८	११ कषाय, हास्यषट्क, पुं. वेद
४ प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क	१८	,,
		१२	११ कषाय, पुरुषवेद
		११	११ कषाय
३ प्रकृ.	संज्व. मान, माया, लोभ	११	,,
		९	अप्र. प्रत्या. क्रोधरहित पूर्वोक्त
		८	संज्व. क्रोधरहित पूर्वोक्त
२ प्रकृ.	संज्व. माया, लोभ	८	,,
		६	अप्र, प्रत्या. मानरहित पूर्वोक्त
		५	संज्व. मानरहित पूर्वोक्त
१ प्रकृ.	संज्वलन लोभ	५	,,
		३	अप्र. प्रत्या. मायारहित पूर्वोक्त
		२	अप्र. प्रत्या. लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षायिक सम्यग्दृष्टि

प्रकृतिक सत्ता	गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
२१	अष्टम	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुणस्थान वाला
२१	नवम	,,	अन्तरकरण पूर्व
२१	,,	,,	अन्तरकरण में
२१	,,	,,	अन्तरकरण पश्चात
२१	,,	,,	,,
२१	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
२१	,,	,,	,,
२१	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
२१	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
२१	,,	,,	,,
२१	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
२१	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
२१	,,	,,	,,
२१	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
२१	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
२१	,,	,,	,,
२१	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घ) क्षपक

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियाँ	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियाँ
६ प्रकृ.	संज्व. चतुष्क, पुं. वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	२१	१२ कषाय ९ नोकषाय
५ प्रकृ.	संज्व. चतुष्क, पुं. वेद	२१	"
		१३	संज्व. चतुष्क, ९ नोकषाय
		१२	संज्व. क्रोधादि ३, ९ नोकषाय
		११	संज्व. क्रोधादि ३, नपुं. वेदरहित आठ नोकषाय
		१०	संज्व. क्रोधादि ३, स्त्री-वेदरहित ७ नोकषाय
४ प्रकृ.	संज्वलन चतुष्क	१०	"
		४	संज्व. क्रोधादि ३, पुं.वेद
३ प्रकृ.	संज्वलन मानादि ३	३	संज्व. क्रोधादि ३
२ प्रकृ.	संज्वलन मायादि २	२	संज्व. माया, लोभ
१ प्रकृ.	संज्वलन लोभ	१	संज्वलन माया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणि

सत्तास्थान	गुणस्थान	संक्रमकाल	स्वामी
२१	अष्टम	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती
२१	नवम	,,	नौवें गुणस्थान के दूसरे भाग पर्यन्त
१३	,,	,,	नौवें गुणस्थान के तीसरे भाग में
१३	,,	,,	अन्तरकरण में
१२	,,	,,	नौवें गुणस्थान के चौथे भाग में
११	,,	,,	नौवें गुणस्थान के पांचवें भाग में
११	,,	समयोन आवलिकाद्विक	,,
५	,,	अन्तर्मुहूर्त	नौवें गुणस्थान के छठे भाग में
४	,,	,,	नौवें गुणस्थान के सातवें भाग में
३	,,	,,	नौवें गुणस्थान के आठवें भाग में
२	,,	,,	नौवें गुणस्थान के नौवें भाग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति संक्रम की अपेक्षा नामकर्म के पतद्ग्रह स्थानों में संक्रमस्थान

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
२३ प्र.	अपर्याप्त	१०२ प्र.	१०२ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच मनुष्य
	बादर	६५ ,,	६५ ,,	,,	,,	,, ,,
	एकेन्द्रिय	६३ ,,	६३ ,,	,,	,,	,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,,	,, ,,
२५ प्र.	पर्याप्त	१०२ प्र.	१०२ प्र.	,,	,,	तिर्यंच, मनुष्य, देव
	बादर	६५ ,,	६५ ,,	,,	,,	,, ,, ,,
	एकेन्द्रिय	६३ ,,	६३ ,,	,,	,,	,, ,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,,	,, ,, ,,
२५ प्र.	अप. विकले.	१०२ प्र.	१०२ प्र.	,,	,,	तिर्यंच, मनुष्य
	,, तिर्यंच	६५ ,,	६५ ,,	,,	,,	,, ,,
	पंचेन्द्रिय	६३ ,,	६३ ,,	,,	,,	,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,,	,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
२५ प्र.	अपर्याप्त मनुष्य	१०२ प्र.	१०२	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच, मनुष्य
		९५ ,,	९५	,,	,,	,, ,,
		९३ ,,	९३	,,	,,	,, ,,
		८४ ,,	८४	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८४	आवलिका	,,	,, ,,
२६ प्र.	पर्याप्त एकेन्द्रिय	१०२	१०२	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, ,, देव
		९५	९५	,,	,,	,, ,, ,,
		९३	९३	,,	,,	,, ,, ,,
		८४	८४	,,	,,	,, ,, ,,
		८२	८२	,,	,,	,, ,, ,,
२८ प्र.	नारक	१०२	१०२	,,	,,	तिर्यंच, मनुष्य
		९६	९६	,,	,,	तीर्थंकर नाम की सत्ता वाला नरकाभिमुख मनुष्य, अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में
		९५	९५	,,	,,	तिर्यंच, मनुष्य
		९३	९५	आवलिका	,,	नरकद्विक की बंधावलिका में वर्तमान तिर्यंच, मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
		९३	९३	अन्तर्मुहूर्त	पहला	नरकद्विक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका बीतने के बाद मनुष्य, तिर्यंच
		८४	९३	आवलिका	,,	नरकद्विक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका में वर्तमान तिर्यंच, मनुष्य
२८ प्र.	देव	१०२ प्र.	१०२ प्र.	पल्य का असं. भाग	१ से ८/९ भाग	मनुष्य, तिर्यंच
		९५ ,,	९५ ,,	अन्तर न्यून पूर्व-कोटि का तीसरा भाग अधिक ३ पल्य	,,	,, ,,
		९५ ,,	९५ ,,	आवलिका	पहला	देवद्विक की बंधावलिका में वर्तमान मनुष्य, तिर्यंच
		९३ ,,	९३ ,,	अन्तर्मुहूर्त	,,	देवद्विक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका बीतने के बाद
		९३ ,,	९३ ,,	आवलिका	,,	देवद्विक, वैक्रियसप्तक की बंधावलिका में वर्तमान मनुष्य, तिर्यंच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
२९ प्र.	देव	१०३ प्र.	१०३ प्र.	देशोन पूर्वकोटि	४ से ८/६ भाग	मनुष्य
		१०२ ,,	१०३ ,,	आवलिका	,,	मनुष्य तीर्थंकर नाम की बंधावलिका में वर्तमान
		९६ ,,	९६ ,,	देशोन पूर्वकोटि	,,	मनुष्य
		९५ ,,	९६ ,,	आवलिका	,,	मनुष्य तीर्थंकर नाम की बंधावलिका में वर्तमान
२९ प्र.	मनुष्य	१०२ प्र.	१०२ प्र.	३३ सागर अथवा पल्य का असं. भाग	१ से ४	चारों गति के जीव
		९६ ,,	९६ ,,	अन्तर्मुहूर्त	पहला	जिन नाम की सत्ता वाला नारक अपर्याप्तावस्था में (सम्यक्त्व प्राप्त न करने तक)
		९५ ,,	९५ ,,	३३ सागर	१ से ४	चारों गति के जीव
		९३ ,,	९३ ,,	अन्तर्मुहूर्त	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८४ ,,	आवलिका	,,	मनुष्यद्विक की बंधावलिका में वर्तमान तिर्यंच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
२६ प्र.	विकलेन्द्रिय	१०२ प्र.	१०२ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	मनुष्य तिर्यंच
		६५ ,,	६५ ,,	,,	,,	,, ,,
		६३ ,,	६३ ,,	,,	,,	,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,,	० ,,
२६ प्र.	तिर्यंच पंचेन्द्रिय	१०२ प्र.	१०२ प्र.	पल्यो. असं. भाग	१, २	मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक
		६५ ,,	६५ ,,	३३ सागर + अंत.	१, २	मनुष्य, तिर्यंच
		६३ ,,	६३ ,,	अन्तर्मुहूर्त	१, २	,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	१, २	,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	१, २	तिर्यंच
३० प्र.	देव	१०२ प्र.	१०२ प्र.	,,	७ से ८/६ भाग	यति
		६५ ,,	१०२ ,,	आवलिका	,,	यति आहारक सप्तक की बंधावलिका में
३० प्र.	मनुष्य	१०३ ,,	१०३ ,,	३३ सागर अथवा पल्य का असं. भाग	चौथा	देव
		६६ ,,	६६ ,,	३३ सागर	,,	देव, नारक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
३० प्र.	विकलेन्द्रिय	१०२ प्र.	१०२ प्र.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
		९५ ,,	९५ ,,	,,	,,	,, ,,
		९३ ,,	९३ ,,	,,	,,	,, ,,
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,,	,, ,,
३० प्र.	पंचे. तिर्यंच	१०२ ,,	१०२ ,,	,,	१, २	तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक
		९५ ,,	९५ ,,	,,	,, ,,	,, ,, ,, ,,
		९३ ,,	९३ ,,	,,	,, ०	,, ,, ० ०
		८४ ,,	८४ ,,	,,	,, ०	,, ,, ० ०
		८२ ,,	८२ ,,	,,	,, ०	,, ० ० ०
३१ प्र.	देव	१०३ ,,	१०३ ,,	,,	७ से ८/६ भाग	यति, जिननाम, आहारक सप्तक की बंधावलिका बीतने के बाद
		१०२ ,,	१०३ ,,	आवलिका	,,	यति, जिननाम की बंधावलिका में
		९६ ,,	१०३ ,,	,,	,,	यति आहारक सप्तक की बंधावलिका में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतद्ग्रह	प्रायोग्य	संक्रम	सत्ता	काल	गुणस्थान	स्वामी
		९५ प्र.	१०३ प्र.	आवलिका	७ से ८/९ भाग	यति, जिननाम, आहारक सप्तक की बंधावलिका में
१ प्र.		१०२ ,,	१०३ ,,	अन्तर्मुहूर्त	उप श्रे. ८/७ से १० | क्ष. श्रे. ८/७ से ९/१ भा.	यति, उभय श्रेणिगत ,, ,, ,, ,,
		१०१ ,,	१०२ ,,	,,	,, | ,,	,, ,,
		९५ ,,	९६ ,,	,,	,, | ,,	,, ,,
		९४ ,,	९५ ,,	,,	,, | ,,	,, ,,
		८९ ,,	९० ,,	,,	क्षप. श्रे ९/२ से १०	यति क्षपक श्रेणिगत
		८८ ,,	८९ ,,	,,	,,	,, ,,
		८२ ,,	८३ ,,	,,	,,	,, ,,
		८१ ,,	८२ ,,	,,	,,	,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति संक्रमापेक्षा नामकर्म के संक्रमस्थानों में पतद्ग्रहस्थान

संक्रम	पतद्ग्रह	सत्ता	प्रायोग्य	काल	गुणस्थान	स्वामी
१०३ प्र.	२९ प्र.	१०३ प्र.	देव	देशोन पूर्वकोटि	४ से ८	मनुष्य
	३० प्र.	१०३ प्र.	मनुष्य	पल्य का असं. भाग	चौथा	देव
	३१ प्र.	१०३ प्र.	देव	अन्तर्मुहूर्त	७ से ८/६	मनुष्य (यति)
१०२ प्र.	२३ प्र.	१०२ प्र.	अप. एके.	,,	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
	२५ प्र.	१०२ प्र.	पर्या. एके.	,,	,,	देव मनुष्य, तिर्यंच
	२५ प्र.	१०२ प्र.	अप. त्रस	,,	,,	मनुष्य, तिर्यंच
	२६ प्र.	१०२ प्र.	पर्या. एके.	,,	,,	,, ,, देव
	२८ प्र.	१०२ प्र.	देव	पल्य का असं. भाग	१ से ८	,, ,,
	२८ प्र.	१०२ प्र.	नारक	अन्तर्मुहूर्त	पहला	,, ,,
	२९ प्र.	१०३ प्र.	देव	आवलिका	४ से ८/६	मनुष्य
	२९ प्र.	१०२ प्र.	मनुष्य	पल्य का असं. भाग	१ से ४	देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच
	२९, ३० प्र.	१०२ प्र.	विकलेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच, मनुष्य
	२९, ३० प्र.	१०२ प्र.	पंचे. तिर्यंच	,,	१, २	देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच
	३० प्र.	१०२	देव	,,	७, ८	मनुष्य
	३१ प्र.	१०३	देव	आवलिका	७ से ८/६	,,
	१ प्र.	१०३	अप्रायोग्य	अन्तर्मुहूर्त	८/७ से १०	उभय श्रेणि वाला यति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम	पतद्ग्रह	सत्ता	प्रायोग्य	काल	गुणस्थान	स्वामी
१०१ प्र.	१ प्र.	१०२	अप्रायोग्य	अन्तर्मुहूर्त	८/७ से १०	उभय श्रेणि वाला यति
९६ प्र.	२८ प्र.	९६	नारक	,,	पहला	मनुष्य
	२९ प्र.	९६	देव	देशोन पूर्वकोटि	४ से ८	,,
	२९ प्र.	९६	मनुष्य	अन्तर्मुहूर्त	पहला	अपर्याप्त नारक
	३० प्र.	९६	,,	३३ सागर	चौथा	देव, नारक
	३१ प्र.	१०३	देव	आवलिका	७ से ८/६	मनुष्य (यति)
९५ प्र.	२३	९५	अप. एके.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच, मनुष्य
	२५	९५	अप. त्रस	,,	,,	,, ,,
	२५	९५	पर्या एके.	,,	,,	,, ,, देव
	२६	९५	,,	,,	,,	,, ,, ,,
	२८	९५	देव	अन्तर्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक तीन पल्योपम	१ से ८/६	मनुष्य, तिर्यंच
	२८ प्र.	९५ प्र.	नारक	अन्तर्मुहूर्त	पहला	,, ,,
	२९ प्र.	९६ प्र.	देव	आवलिका	४ से ८/६ भाग	मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम	पतद्ग्रह	सत्ता	प्रायोग्य	काल	गुणस्थान	स्वामी
९५ प्र.	२९ प्र.	९५ प्र.	मनुष्य	३३ सागर	१ से ४	चारों गति के जीव
	२९ प्र	९५ प्र.	पर्या. विकले.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच, मनुष्य
	२९ प्र.	९५ प्र.	पर्या. तिर्यंच	,,	१, २	चारों गति के जीव
	३० प्र.	१०२ प्र.	देव	आवलिका	७ से ८/६ भाग	यति (मनुष्य)
	३० प्र.	९५ प्र.	प. विकले.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	तिर्यंच, मनुष्य
	३० प्र.	९५ प्र.	प. पंचे. ति.	,,	१, २	चारों गति के जीव
	३१ प्र.	१०३ प्र.	देव	आवलिका	७ से ८/६ भाग	मनुष्य (यति)
	१ प्र.	९६	अप्रायोग्य	अन्तर्मुहूर्त	८/७ से १०	उभय श्रेणि वाले यति
९४ प्र.	१ प्र.	९५	,,	,,	,,	,,
९३ प्र.	२३ प्र.	९३	अप. एके.	,,	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
	२५ प्र.	९३	अप. त्रस	,,	पहला	,, ,,
	२५ प्र.	९३	पर्या. एके.	,,	पहला	,, ,,
	२६ प्र.	९३	,,	,,	पहला	,, ,,
	२८ प्र.	९५	देव	आवलिका	पहला	,, ,,
	२८ प्र.	९३	,,	अन्तर्मुहूर्त	पहला	,, ,,
	२८ प्र.	९५	नारक	आवलिका	पहला	,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम	पतद्ग्रह	सत्ता	प्रायोग्य	काल	गुणस्थान	स्वामी
	२८ प्र.	९३	नारक	अन्तर्मुहूर्त	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
	२९ ,,	९३	मनुष्य	,,	,,	,, ,,
	२९ ,,	९३	पर्या.पंचे.ति.	,,	,,	,, ,,
	२९ ,,	९३	पर्या. विकले.	,,	,,	,, ,,
	३० ,,	९३	पर्या.पंचे.ति.	,,	,,	,, ,,
	३० ,,	९३	पर्या. विकले.	,,	,,	,, ,,
८९ प्र	१ ,,	९०	अप्रायोग्य	,,	९/२ से १०	क्षपक श्रेणि वाला
८८ प्र.	१	८९	,,	,,	,,	,,
८४ प्र.	२३	८४	अप. एके.	,,	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
	२५	८४	अप. त्रस	,,	,,	,, ,,
	२५	८४	पर्या. एके.	,,	,,	,, ,,
	२६	८४	,,	,,	,,	,, ,,
	२८	९३	देव	आवलिका	,,	,, ,,
	२८	९३	नारक	,,	,,	,, ,,
	२९	८४	मनुष्य	अन्तर्मुहूर्त	,,	,, ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्रम	पतद्ग्रह	सत्ता	प्रायोग्य	काल	गुणस्थान	स्वामी
८४ प्र.	२९ प्र.	८४	प. पंचे. ति.	अन्तर्मुहूर्त	पहला	मनुष्य, तिर्यंच
	२९ ,,	८४	प. विकले.	,,	,,	,, ,,
	३०	८४	प. पंचे. ति.	,,	,,	,, ,,
	३० ,,	८४	प. विकले.	,,	,,	,, ,,
८२ प्र.	२३	८२	अप. एके.	,,	,,	तिर्यंच
	२५	८४	अप मनुष्य	आवलिका	,,	,,
	२५	८२	अप. त्रस	अन्तर्मुहूर्त	,,	,,
	२५	८२	पर्या. एके.	,,	,,	,,
	२६	८२	,,	,,	,,	,,
	२९	८४	मनुष्य	आवलिका	,,	,,
	२९	८२	प. पंचे. ति.	अन्तर्मुहूर्त	,,	,,
	२९	८२	प. त्रिकले.	,,	,,	,,
	३०	८२	प. पंचे. ति.	,,	,,	,,
	३१	८२	प. विकले.	,,	,,	,,
	१	८३	अप्रायोग्य	,,	९/२ से १०	क्षपक श्रेणि वाला
८१ प्र.	१	८२	,,	,,	,,	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति खंडों की उत्कीरणा विधि का प्रारूप

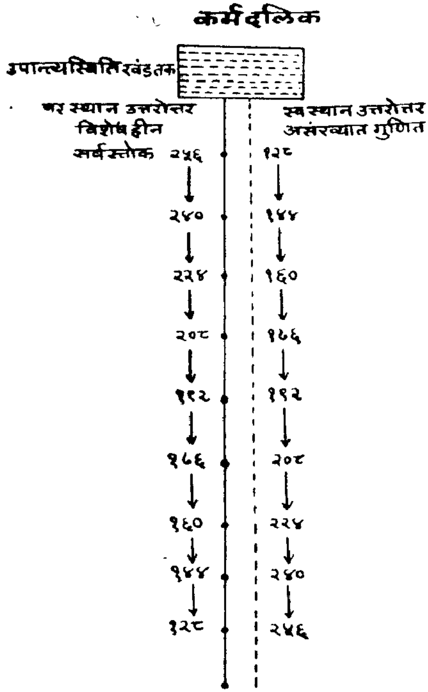

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति संक्रम यत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी दर्शक प्रारूप

न	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण.	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	ज. संक्रम स्वामी गुण.
१	ज्ञानावरण पंचक	२ आवलीहीन ३० को.को.सागरो.	आवलीहीन ३० को.को. सागरो.	पहला गुणस्थान	१ समय	समयाधिक आवली	१२ वां
२	दर्शनावरण चतुष्क	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	निद्राद्विक	,,	,,	,,	,,	आवलिका संख्यभागाधिक	,,
४	स्त्य नर्द्धित्रिक	,,	,,	,,	आव. हीन पल्यासंख्य.	आवली पल्यासंख्यभाग	९ वां
५	असातावेदनीय	,,	,,	,,	आव. हीनान्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
६	सातावेदनीय	३ आवलीहीन ३० को.को.सागरो.	आवलिकाद्विकहीन ३० को.को. सागरोपम	,,	,,	,,	,,
७	मिथ्यात्वमोहनीय	अन्तर्मुहूर्तहीन ७० को.को. सागरो.	सावलिकान्तर्मुहूर्तहीन ७० को. को. सागरोपम	अविरत इत्यादि	आव. हीन पल्यासंख्य. भाग	पल्योपमासंख्येय भाग	४ से ७वे गुणस्थान
८	मिश्रमोहनीय	सावलिकाद्विकान्तर्मुहूर्तहीन ७० को. को. सागरोपम	सावलिकान्तर्मुहूर्तहीन ७० को. को. सागरोपम	,,	,,	,,	,,
९	सम्यक्त्व मोहनीय	,,	,,	,,	१ समय	समयाधिक आवलिका	,,
०	अनन्तानुबंधीचतुष्क	आवलिकाद्विकहीन ४० को.को. सागरोपम	आवलिकाहीन ४० को.को. सागरोपम	पहला गुणस्थान	आवलिकाहीन पल्योपमासंख्येय भाग	पल्योपमासंख्येय भाग	,,
१	अप्रत्याख्या. चतुष्क	,,	,,	,,	,,	,,	९ वां
२	प्रत्याख्याना. चतुष्क	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	संज्वलन क्रोध	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन २ मास	आवलिकाद्विकहीन २ मास	,,
४	,, मान	आवलिकाद्विकहीन ४० को.को. सागरोपम	,, ,,	पहला गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्तहीन १ मास	आवलिकाद्विकहीन १ मास	,,
५	,, माया	,,	,,	,,	,, १ पक्ष	,, १ पक्ष	,,
६	,, लोभ	,,		,,	एक समय	समयाधिक आवलिका	१० वां
७	हास्य षट्क	आवलिकात्रिकहीन ४० को.को. सागरोपम	आवलिकाद्विकहीन ४० को.को. सागरोपम	,, ,,	संख्यात वर्ष प्रमाण	सांतर्मुहूर्त संख्यात वर्ष	९ वां
८	स्त्रीवेद नपुंसकवेद	,,	,,	,,	पल्यासंख्य भाग	सांतर्मुहूर्त पल्यासंख्य भाग	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण.	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	ज. संक्रम स्वामी गुण.
१६	पुरुषवेद	आवलिकात्रिकहीन ४० को.को. सागरोपम	आवलिकाद्विकहीन ४० को.को. सागरोपम	पहला गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्तहीन आठ वर्ष	आवलिकाद्विकहीन ८ वर्ष	९ वां
२०	नरकायु	अबाधाहीन ३३ सागरोपम	आवलिकाहीन ३३ सागरोपम	,,	१ समय	समयाधिक आवलिका	१, २, ४
२१	तिर्यंचायु	,, ३ पल्य	,, ३ पल्य	,,	,,	,,	१, २ ४,५
२२	मनुष्यायु	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,	१ से ११
२३	देवायु	,, ३३ सागरोपम	,, ३३ सागरोपम	छठा गुणस्थान	,,	,,	१, २, ४
२४	नरक गति : आनुपूर्वी २	आवलिकाद्विकहीन २० को.को. सागरोपम	आवलिकाहीन २० को. को. सागरोपम	पहला गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्य.	पल्यासंख्य भाग	९ वां
२५	तिर्यंच गति : आनुपूर्वी २	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२६	मनुष्यगति आनुपूर्वी २	आवलिकात्रिकहीन २० को.को. सागरोपम	आवलिकाद्विकहीन २० को.को. सागरोपम	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
२७	देवगति : आनुपूर्वी २	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२८	एकेन्द्रिय जाति	आवलिकाद्विकहीन २० को.को. सागरोपम	आवलिकाही० २० को. को. सागरोपम	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्य.	पल्यासंख्य भाग	९ वां
२९	विकलेन्द्रियत्रिक जाति ३	आवलिकात्रिकहीन २० को.को. सागरोपम	,,	,,	,,	,,	,,
३०	पंचेन्द्रिय जाति	,,	,,	,,	उदयावलिकाहीन अन्त-मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
३१	औदारिक सप्तक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३२	वैक्रिय सप्तक	आवलिका—	,,	,,	,,	,,	,,
३३	आहारक सप्तक	,, त्रिकहीन अन्त: को.को.	आ. द्विक हीन अन्त: ,,	सातवां गुण.	उदयावलिहीनांतर्मुहूर्त	,,	,,
३४	तैजस् सप्तक	,, द्विक हीन २० ,,	आ. हीन २० ,,	पहला गुण.	,,	,,	,,
३५	आद्य संहनन पंचक	,, त्रिक हीन ,,	,, द्विक हीन ,,	,,	,,	,,	,,
३६	सेवार्त संहनन	,, द्विक हीन ,,	आ. हीन ,,	,,	,,	,,	,,
३७	आद्य संस्थान पंचक	,, त्रिक हीन ,,	,, द्विक हीन ,,	,,	,,	,,	,,
३८	हुण्डक संस्थान	,, द्विक हीन ,,	आ. हीन ,,	,,	,,	,,	,,
३९	शुभवर्णादि एकादश	,, त्रिक हीन ,,	,, द्विक हीन ,,	,,	,,	,,	,,
४०	नीलवर्ण-तिक्तरस	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,	,,	,,
४१	शेष अशुभ वर्णादि सप्तक	,, द्विक हीन ,,	आ. हीन ,,	,,	,,	,,	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	उ. स्थिति स्वामी गुण.	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	ज. संक्रम स्वामी गुण.
४२	शुभ विहायोगति	आवलिकात्रिकहीन २० को.को. सा.	आवलिकाद्विकहीन २० को.को. सा.	पहला गुणस्थान	उदयावलिहीनान्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
४३	अशुभ विहायोगति	,, द्विकहीन ,,	आवलिकाहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४४	त्रस चतुष्क	,, ,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,	,,
४५	स्थिर षट्क	,, त्रिकहीन ,,	आवलिकाद्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४६	स्थावर	,, द्विकहीन ,,	आवलिकाहीन ,,	,,	अंतर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्यभाग	पल्यासंख्यभाग	६ वां
४७	सूक्ष्म	,, त्रिकहीन ,,	आवलिकाद्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४८	अपर्याप्त	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	उदयावलिहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
४९	साधारण	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	अंतर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्यभाग	पल्यासंख्यभाग	६ वां
५०	अस्थिरषट्क	,, द्विकहीन ,,	आवलिकाहीन ,,	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
५१	आतप-उद्योत	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	अंतर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्यभाग	पल्यासंख्यभाग	६ वां
५२	पराघात, उच्छ्वास अगुरुलघु, निर्माण, उपघात	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	उदयवलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां
५३	तीर्थंकर नाम	,, त्रिकहीन अन्त को.को.सा.	,, द्विकहीन अन्तःको.को.सा.	४था गुण.	,,	,,	,,
५४	उच्च गोत्र	,, ,, २० को.को. सा.	,, ,, २० को.को. सा.	पहला गुण.	,,	,,	,,
५५	नीच गोत्र	,, द्विकहीन ,,	आवलिकाहीन ,,	,,	,,	,,	,,
५६	अन्तराय पंचक	,, ,, ३० को.को. सा.	,, ३० को.को. सा.	,,	एक समय	समयाधिक आवलिका	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभाग संक्रम प्रमाण एवं स्वामित्व दर्शक प्रारूप

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण	जघन्य अनुभाग संक्रम प्रमाण	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम स्वामित्व	जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व
ज्ञानावरण पंचक दर्शनावरण चतुष्क अन्तराय पंचक	चतुः स्था. और सर्वघाति	द्विस्थान और सर्वघाति	युगलिक और आनतादि देव बिना चारों गति के मिथ्यादृष्टि	समयाधिक आवलिका शेष बारहवें गुणस्थानवर्ती
निद्राद्विक	,,	,,	,,	असं. भागाधिक दो आव. शेष बारहवें गुणस्थान वाले
स्त्यानर्द्धित्रिक	,,	,,	,,	अपने चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुण. वाले
असातावेदनीय	,,	,,	,,	हतप्रभुत अनुभाग सत्ता वाले एकेन्द्रियादि
सातावेदनीय	,,	,,	सयोगि. गुण. के चरम समयवर्ती	,,
मिथ्यात्वमोहनीय	,,	,,	युगलिक तथा आनतादिक देवों बिना चारों गति के मिथ्यादृष्टि	अपने चरम प्रक्षेप के समय चौथे से सातवें गुणस्थान तक के मनुष्य
मिश्रमोहनीय	द्विस्थानक और सर्वघाति	द्विस्थान और सर्वघाति	,,	,,
सम्यक्त्वमोहनीय	द्विस्थानक और देशघाति	एकस्थान और देशघाति	,,	समयाधिक आव.शेष कृतकरण वाले यथासम्भव चारों गति के जीव ४ से ७ गुण. वाले
अनन्ता. चतुष्क	चतुः स्थान. और सर्वघाति	द्विस्थान और सर्वघाति	,,	अपने चरम प्रक्षेप के समय यथा-सम्भव चारों गति के ४ से ७ गुण. वाले जीव
मध्यम कषायाष्टक	,,	,,	,,	अपने चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुण. वाले
संज्वलन क्रोध, मान, माया	,,	एकस्थान. और देशघाति	,,	,,
संज्लन लोभ	,,	,,	,,	समयाधिक आव. शेष क्षपक सूक्ष्म संपरायी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण	जघन्य अनुभाग संक्रम प्रमाण	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम स्वामित्व	जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व
हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	चतु:स्थान और सर्वघाति	द्विस्थान और सर्वघाति	युगलिक और आनतादिक देवों के बिना चारों गति के मिथ्यादृष्टि	अपने चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुण. वाले
पुरुषवेद	,,	एकस्थान और देशघाति	,,	,,
स्त्रीवेद नपुंसकवेद	,,	द्विस्थान और सर्वघाति	,,	,,
देवायु	,,	,,	मनुष्य, अनुत्तरवासी देव	स्व जघन्य बद्धायु नरक बिना तीन गति के जीव
मनुष्यायु तिर्यंचायु	द्विस्थान और सर्वघाति	,,	मनुष्य और तिर्यंच	स्व जघन्य बद्धायु मनुष्य तिर्यंच
नरकायु	चतु:स्थान और सर्वघाति	,,	देव बिना तीन गति के जीव	स्व जघन्य बद्धायु देव बिना तीन गति के जीव
देवद्विक	,,	,,	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगि केवली तक के जीव	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जघन्य अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद
मनुष्यद्विक	,,	,,	सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि चारों गति के जीव	सूक्ष्म लब्धि अप. निगोद जघन्य अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद
तिर्यंचद्विक	,,	,,	युगलिक और आनतादि देव वर्जित चारों गति के मिथ्यादृष्टि	हत प्रभूत अनुभाग सत्ता वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि
नरकद्विक	,,	,,	,,	असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद
एकेन्द्रियादि जाति चतुष्क	,,	,,	,,	हत प्रभूत अनुभाग सता [illegible] सूक्ष्म एकेन्द्रियादि
पंचेन्द्रिय जाति, त्रस-चतुष्क, पराघात, उच्छ्वास	,,	,,	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगि केवली तक के जीव	,,
औदारिक सप्तक	,,	,,	सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि चारों गति के जीव	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण	जघन्य अनुभाग संक्रम प्रमाण	उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम स्वामित्व	जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व
वैक्रिय सप्तक	चतुःस्थान और सर्वघाति	द्विस्थान और सर्वघाति	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जघन्य अनुभाग बांध. आवलिका के बाद
आहारक सप्तक	"	"	"	अप्रमत्त यति जघन्य अनुभाग बांध. आवलिका के बाद
तैजस-कार्मण सप्तक, अगुरुलघु, निर्माण	"	"	"	हतप्रभूत अनुभाग सत्ता वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि
प्रथम संहनन	"	"	सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि चतुर्गति के जीव	"
प्रथम संस्थान, शुभ विहायोगति, सुभगत्रिक	"	"	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव	"
अन्तिम संस्थान पंचक व संहनन पंचक, अशुभ वर्णादि नवक	"	"	युगलिक और आनतादि देव बिना चतुर्गति के जीव	"
शुभ वर्णादि एकादश	"	"	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव	"
अशुभ विहायोगति	"	"	युगलिक और आनतादिक देवों वर्जित शेष चतुर्गति के जीव	"
आतप	द्विस्थान और सर्वघाति	"	सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी चतुर्गति के जीव	"
उद्योत नाम	चतुःस्थान और सर्वघाति	"	"	"
तीर्थंकर नाम	"	"	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयो.के. तक के तीर्थंकर	मनुष्य जघन्य अनुभाग बांध. आवलिका के बाद
स्थिरद्विक, यशःकीर्ति	"	"	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयो.के. तक के जीव	हतप्रभूत अनुभाग सत्ता वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि
स्थावर, सूक्ष्मत्रिक, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति, दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र	"	"	युगलिक और आनतादि देव वर्जित चारों गति के मिथ्यादृष्टि	"
उच्च गोत्र	"	"	क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव	सूक्ष्म लब्धि अप. निगोद. जघन्य अनुभाग बांध आवलिका के बाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेश संक्रम स्वामित्व दर्शक प्रारूप

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक	गुणित कर्मांश सप्तम नरक से निकल पंचे. तिर्यंच में प्रथम आव. के चरम समय में	क्षपित कर्मांश दसवें गुणस्थान के चरम समय में अवधिद्विकावरण का अवधिद्विकरहित और शेष आवरण का अवधिद्विक सहित
निद्राद्विक	क्षपक सूक्ष्म संपराय चरम समय	स्वबंधविच्छेद चरम समय में क्षपक आठवें गुणस्थान
स्त्यानर्द्धित्रिक	क्षपक नौवां गुणस्थान	१३२ सागरोपम सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
असातावेदनीय	क्षपक सूक्ष्मसंपराय चरम समय	क्षपक अप्रमत्तगुणस्थान यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
सातावेदनीय	दीर्घकालीन साता का बंधकर असाता की बंधावलिका के चरम समय	अनुपशांत मोह क्षपक असाता के चरम बंध समय में
मिथ्यात्वमोहनीय	स्वक्षय के चरम प्रक्षेप के समय ४ से ७ गुणस्थानवर्ती	१३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर स्व-क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
मिश्रमोहनीय	”	१३२ सागरो. सम्यक्त्व का पालन कर द्विचरम स्थितिखंड के चरम समय मिथ्या.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
सम्यक्त्वमोहनीय	दीर्घकाल उप. सम्यक्त्व पालन कर मिथ्या. के प्रथम समय सातवीं पृ. का नारक	१३२ सागरो. सम्यक्त्व का पालन कर द्विचरम स्थिति-खंड के चरम समय मिथ्या.
अनन्ता. चतुष्क	अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर स्व चरम प्रक्षेप समय सातवीं नारक	अल्पकाल बांध. १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर स्व-क्ष"क यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में
मध्यम कषायाष्टक	स्व चरम प्रक्षेप के समय नौवें गुणस्थान में क्षपक	दीर्घ क्षपक अप्रमत्त यथा-प्रवृत्तकरण चरम समय में
संज्वलन क्रोध, मान, माया	,,	जघन्य योग से स्वबंध विच्छेद समय बंधे हुए के चरम संक्रम के समय क्षपक नौवां गुण-स्थानवर्ती
संज्वलन लोभ	स्व संक्रम के अन्त में क्षपक नौवें गुणस्थान वाला	अनुपशांत मोह क्षपक अपूर्व-करण प्रथम आवलिका के चरम समय
हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	,,	क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद के समय
अरति, शोक	,,	क्षपक अप्रमत्त गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
पुरुषवेद	स्व चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती	संज्वलन क्रोधवत् क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
स्त्रीवेद	स्व चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती	१३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्त-करण के चरम समय
नपुंसकवेद	,,	स्त्रीवेदवत् किन्तु तीन पल्य युगलिक मनुष्य भव अधिक
आयुचतुष्क	,,	जघन्य योग से बांधे, अपने भव में समयाधिक आवलिका शेष हो तब स्वसंक्रम की अपेक्षा
देवद्विक	पूर्वकोटि पृथक्त्व बंध से पूरित कर क्षपक आठवें गुण-स्थान स्वविच्छेद से आव-लिका के अन्त में	अल्पकाल बंधकर ७वीं नरक में जाकर, वहां स निकल बिना बांधे द्विचरम स्थिति खंड के उद्वलना के चरम समय में
मनुष्यद्विक	अन्तर्मुहूर्तद्विक न्यून ३३ सागर ७वीं नरक में पूरित कर तिर्यंच गति के प्रथम समय	सूक्ष्म निगोद में अल्पकाल बांधकर सातवीं नरक पृथ्वी से निकल बिना बांधे चिरो-द्वलना के चरम समय
तिर्यंचद्विक	स्वचरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थान में	चार पल्य अधिक १६३ सागर बिना बांधे क्षपक यथा-प्रवृत्तकरण के चरम समय
नरकद्विक	पूर्वकोटिपृथक्त्व पर्यन्त बंध से पूरित कर स्वचरम प्रक्षेप समय क्षपक नवम गुणस्थान में	देवद्विकवत् उद्वलना के द्विचरम स्थितिखंड के चरम समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
एकेन्द्रियादिजाति-चतुष्क	स्वचरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुणस्थान में	साधिक १८५ सागर नहीं बांधकर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
पंचेन्द्रियजाति, त्रसचतुष्क, पराघात, उच्छ्वास	१३२ सागर सम्यक्त्व के काल में पूरित कर क्षपक स्वबंध विच्छेद से आवलिका बाद	अनुपशांतमोह क्षपित कर्मांश अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त समय
औदारिक सप्तक	सातवीं नरक से निकल पर्याप्त तिर्यंच में प्रथम आवलिका के अन्त में	सर्वाल्प प्रदेश सत्ता वाला तीन पल्य की आयु वाला युगलिक के अन्त में
वैक्रिय सप्तक	पूर्वकोटिपृथकत्व पर्यन्त बंध से पूरित कर क्षपक आठवें गुणस्थान में स्व-विच्छेद से आवलिका के बाद	देवद्विकवत् एकेन्द्रिय उद्वलना के द्विचरम स्थितिखंड के चरम समय
आहारक सप्तक	क्षपक अपूर्व. स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद	अल्पकाल बांधकर अविरत-उद्वलना के द्विचरम स्थिति-खंड के चरम समय में
तैजस-कार्मण सप्तक, अगुरुलघु, निर्माण	"	अनुपशांत मोह क्षपित कर्मांश अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अंत्य समय
प्रथम संहनन	उत्कृष्ट बंधकाल तक पूरित कर मनुष्यभव में प्रथम आवलिका के बाद	"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
प्रथम संस्थान, शुभ विहायोगति, सुभगत्रिक	क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद	अनुपशांतमोह क्षपित कर्मांश अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अल्प समय
अन्तिम पांच संस्थान, संहनन	क्षपक सूक्ष्म. चरम समय में	युगलिक में प्रथम तीन पल्य नहीं बांध, १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में
अशुभ वर्णनवक, उपघात	,,	क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
शुभ वर्णादि एकादश	क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद	अनुपशांतमोह क्षपित कर्मांश अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त में क्षपक
अशुभ विहायोगति	क्षपक सूक्ष्म. चरम समय में	युगलिक में प्रथम तीन पल्य न बांध, १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में
आतप	स्व-चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुणस्थान में	साधिक १८५ सागर नहीं बांधकर क्षपक अप्रमत्त यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में
उद्योत	,,	साधिक १६३ सागर नहीं बांध क्षपक अप्रमत्त यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति नाम	उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व	जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व
तीर्थंकर नाम	देशोन पूर्वकोटिद्विक अधिक ३३ सागर बांध. स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद	जघन्य योग से बांधे जिननाम की बंधावलिका के बाद के प्रथम समय
स्थिरद्विक	क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद के बाद	अनुपशांत मोह क्षपित कर्मांश क्षपक अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त में
यशःकीर्ति	क्षपक अपूर्वकरण छठे भाग के चरम समय में	,,
स्थावर, सूक्ष्म, साधारण	स्वचरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुणस्थान में	साधिक १८५ सागर न बांध क्षपक अप्रमत्त यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में
अपर्याप्त	क्षपक सूक्ष्म. चरम समय में	,,
अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति	,,	क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में
दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र	,,	युगलिक मे तीन पल्य न बांध १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में
उच्च गोत्र	चार बार मोह. का उपशम किये क्षपित कर्मांश क्षपक नीच गोत्र के चरम बंध के चरम समय में	सूक्ष्म निगोद में अल्पकाल बांध सातवीं पृथ्वी में से निकल बिना बांधे सूक्ष्म त्रस में उद्वलना के द्विचरम स्थिति खंड के चरम समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विध्यात आदि पंच प्रदेश संक्रमों में संकलित प्रकृतियों की सूची

अनुक्रम	प्रकृतियाँ	विध्यात	उद्वलना	यथा प्रवृत्त	गुण सं.	सर्व सं.	कुल
१	मतिज्ञानावरणीय	०	०	१	०	०	१
२	श्रुतज्ञानावरणीय	०	०	१	०	०	१
३	अवधिज्ञानावरणीय	०	०	१	०	०	१
४	मनःपर्यवज्ञानावरणीय	०	०	१	०	०	१
५	केवलज्ञानावरणीय	०	०	१	०	०	१
६	चक्षुदर्शनावरणीय	०	०	१	०	०	१
७	अचक्षुदर्शनावरणीय	०	०	१	०	०	१
८	अवधिदर्शनावरणीय	०	०	१	०	०	१
९	केवलदर्शनावरणीय	०	०	१	०	०	१
१०	निद्रा	०	०	१	१	०	२
११	निद्रा निद्रा	१	१	१	१	१	५
१२	प्रचला	०	०	१	१	०	२
१३	प्रचला-प्रचला	१	१	१	१	१	५
१४	स्त्यानर्द्धि	१	१	१	१	१	५
१५	सातावेदनीय	०	०	१	०	०	१
१६	असातावेदनीय	१	०	१	१	०	३
१७	सम्यक्त्वमोहनीय	०	१	१	०	१	३
१८	मिश्रमोहनीय	१	१	१	१	१	५
१९	मिथ्यात्वमोहनीय	१	१	०	१	१	४
२०	अनन्तानुबंधी क्रोध	१	१	१	१	१	५
२१	,, मान	१	१	१	१	१	५
२२	,, माया	१	१	१	१	१	५
२३	,, लोभ	१	१	१	१	१	५
२४	अप्रत्याख्यानीय क्रोध	१	१	१	१	१	५
२५	,, मान	१	१	१	१	१	५
२६	,, माया	१	१	१	१	१	५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम	प्रकृतियाँ	विध्यात	उद्वलना	यथा-प्रवृत्त	गुण सं.	सर्व सं.	कुल
२७	अप्रत्याख्यानीय लोभ	१	१	१	१	१	५
२८	प्रत्याख्यानीय क्रोध	१	१	१	१	१	५
२९	,, मान	१	१	१	१	१	५
३०	,, माया	१	१	१	१	१	५
३१	,, लोभ	१	१	१	१	१	५
३२	संज्वलन क्रोध	०	१	१	१/०	१	४/३
३३	,, मान	०	१	१	१/०	१	४/३
३४	,, माया	०	१	१	१/०	१	४/३
३५	,, लोभ	०	०	१	०	०	१
३६	हास्य नोकषाय	०	१	१	१	१	४
३७	रति ,,	०	१	१	१	१	४
३८	अरति ,,	१	१	१	१	१	५
३९	शोक ,,	१	१	१	१	१	५
४०	भय ,,	०	१	१	१	१	४
४१	जुगुप्सा ,,	०	१	१	१	१	४
४२	पुरुषवेद	०	१	१	१/०	१	४/३
४३	स्त्रीवेद	१	१	१	१	१	५
४४	नपुंसकवेद	१	१	१	१	१	५
४५	देवायु	०	०	०	०	०	०
४६	मनुष्यायु	०	०	०	०	०	०
४७	तिर्यंचायु	०	०	०	०	०	०
४८	नरकायु	०	०	०	०	०	०
४९	देवगति	१	१	१	०	१	४
५०	मनुष्यगति	१	१	१	०	१	४
५१	तिर्यंचगति	१	१	१	१	१	५
५२	नरकगति	१	१	१	१	१	५
५३	एकेन्द्रिय	१	१	१	१	१	५
५४	द्वीन्द्रिय	१	१	१	१	१	५
५५	त्रीन्द्रिय	१	१	१	१	१	५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम	प्रकृतियाँ	विध्यात	उद्वलना	यथा-प्रवृत्त	गुण सं.	सर्व सं.	कुल
५६	चतुरिन्द्रिय	१	१	१	१	१	५
५७	पंचेन्द्रिय	१	०	१	०	०	२
५८	औदारिक शरीर	१	०	१	०	०	२
५९	वैक्रिय शरीर	१	१	१	०	१	४
६०	आहारक शरीर	१	१	१	०	१	४
६१	तैजस शरीर	१	०	१	०	०	२
६२	कार्मण शरीर	१	०	१	०	०	२
६३	औदारिक अंगोपांग	१	०	१	०	०	२
६४	वैक्रिय ,,	१	१	१	०	१	४
६५	आहारक ,,	१	१	१	०	१	४
६६	वज्रऋषभनाराच संहनन	१	०	१	०	०	२
६७	ऋषभनाराच ,,	१	०	१	१	०	३
६८	नाराच ,,	१	०	१	१	०	३
६९	अर्ध-नाराच ,,	१	०	१	१	०	३
७०	कीलिका ,,	१	०	१	१	०	३
७१	सेवार्त ,,	१	०	१	१	०	३
७२	समचतुरस्र संस्थान	१	०	१	०	०	२
७३	न्यग्रोध परिमंडल संस्थान	१	०	१	१	०	३
७४	सादि संस्थान	१	०	१	१	०	३
७५	वामन ,,	१	०	१	१	०	३
७६	कुब्ज ,,	१	०	१	१	०	३
७७	हुण्डक ,,	१	०	१	१	०	३
७८	वर्ण	१	०	१	१	०	३
७९	गंध	१	०	१	१	०	३
८०	रस	१	०	१	१	०	३
८१	स्पर्श	१	०	१	१	०	३
८२	देवानुपूर्वी	१	१	१	०	१	४
८३	मनुष्यानुपूर्वी	१	१	१	०	१	४
८४	तिर्यंचानुपूर्वी	१	१	१	१	१	५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम	प्रकृतियाँ	विध्यात	उद्वलना	यथाप्रवृत्त	गुण सं.	सर्व सं.	कुल
८५	नरकानुपूर्वी	१	१	१	१	१	५
८६	शुभविहायोगति	१	०	१	०	०	२
८७	अशुभविहायोगति	१	०	१	१	०	३
८८	पराघात	१	०	१	०	०	२
८९	उच्छ्वास	१	०	१	०	०	२
९०	आतप	१	१	१	०	१	४
९१	उद्योत	१	१	१	०	१	४
९२	अगुरुलघु	१	०	१	०	०	२
९३	तीर्थंकरनाम	१	०	१	०	०	२
९४	निर्माण	१	०	१	०	०	२
९५	उपघात	०	०	१	१	०	२
९६	त्रस	१	०	१	०	०	२
९७	बादर	१	०	१	०	०	२
९८	पर्याप्त	१	०	१	०	०	२
९९	प्रत्येक	१	०	१	०	०	२
१००	स्थिर	१	०	१	०	०	२
१०१	शुभ	१	०	१	०	०	२
१०२	सौभाग्य	१	०	१	०	०	२
१०३	सुस्वर	१	०	१	०	०	२
१०४	आदेय	१	०	१	०	०	२
१०५	यशःकीर्ति	०	०	१	०	०	१
१०६	स्थावर	१	१	१	१	१	५
१०७	सूक्ष्म	१	१	१	१	१	५
१०८	अपर्याप्त	१	०	१	१	०	३
१०९	साधारण	१	१	१	१	१	५
११०	अस्थिर	१	०	१	१	०	३
१११	अशुभ	१	०	१	१	०	३
११२	दुर्भाग्य	१	०	१	१	०	३
११३	दुःस्वर	१	०	१	१	०	३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम	प्रकृतियाँ	विध्यात	उद्वलना	यथा-प्रवृत्त	गुण सं.	सर्व सं.	कुल
११४	अनादेय	१	०	१	१	०	३
११५	अयशःकीर्ति	१	०	१	१	०	३
११६	उच्च गोत्र	१	१	१	०	१	४
११७	नीच गोत्र	१	०	१	१	०	३
११८	दानान्तराय	०	०	१	०	०	१
११९	लाभान्तराय	०	०	१	०	०	१
१२०	भोगान्तराय	०	०	१	०	०	१
१२१	उपभोगान्तराय	०	०	१	०	०	१
१२२	वीर्यान्तराय	०	०	१	०	०	१
कुल		८९	५२	११७	६७ / ६३	५२	—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत ग्रन्थ : एक परिचय

कर्मसिद्धान्त एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य **चन्द्रर्षि महत्तर** (विक्रम ९-१० शती) द्वारा रचित कर्मविषयक पाँच ग्रन्थों का सार संग्रह है–पंच संग्रह।

इसमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्धनादि आठ करण एवं अन्य विषयों का प्रामाणिक विवेचन है जो दस खण्डों में पूर्ण है।

आचार्य मलयगिरि ने इस विशाल ग्रन्थ पर अठारह हजार श्लोक परिमाण विस्तृत टीका लिखी है।

वर्तमान में इसकी हिन्दी टीका अनुपलब्ध थी। श्रमणसूर्य **मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज** के सान्निध्य में तथा मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी की संप्रेरणा से इस अत्यन्त महत्वपूर्ण, दुर्लभ, दुर्बोध, ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है—जैनदर्शन के विद्वान श्री देवकुमार जैन ने।

यह विशाल ग्रन्थ क्रमशः दस भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जैन कर्म सिद्धान्त विषयक एक विस्मृतप्रायः महत्वपूर्ण निधि पाठकों के हाथों में पहुँच रही है, जिसका एक ऐतिहासिक मूल्य है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राप्ति स्थान :—
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org